THE BOOK WAS DRENCHED

TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182605

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81.09 Accession No. P.G H 8177

Author D58P

Title प्रेमचंद के चीन में सुधा-चंद

This book should be returned on or before the date last marked below.

१

परम्परा और पृष्ठभूमि

(१) **काव्य-परम्परा का अर्थ और महत्व**—परम्परा अत्यन्त व्यापक शब्द है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से इसका सम्बन्ध है। धर्म, शास्त्र, समाज, विज्ञान, कला एवं साहित्य के क्षेत्र में परम्पराओं के विविध रूप दिखाई पड़ते हैं। परम्परा में स्वीकृत विधियों, प्रथाओं तथा प्रणालियों का अनुसरण एवं पूर्व काल से चली आती हुई विचारधाराओं की अभिव्यक्ति होती है। यदि किसी युग के मनुष्यों की कतिपय विचित्र एवं अद्भुत विशेषताओं को तथा किसी दूसरे समाज से आई हुई अनुकरण मूलक प्रथाओं को छोड़ दें तो सामाजिक जीवन की समग्र बातें परम्परा के क्षेत्र में आ जाती हैं, जिसको समाज पीढ़ियों से ग्रहण करता चला आया है। परम्परा-गत आचार-व्यवहार, संस्था, भाषा वस्त्र, विधि, गीत एवं लोक वार्तायें सब परम्परा के ही अंग हैं।[1]

काव्य के क्षेत्र में परम्पराओं से हमारा तात्पर्य उन आदर्शों, रीतियों, एवं स्थापनाओं से होता है जो पूर्ववर्ती साहित्यकारों से उत्तरवर्ती साहित्यकारों को प्राप्त होती रहती हैं तथा जो साहित्य एवं समाज में स्थापित हो जाने के कारण स्वत: काव्य में प्रचलित हो जाती हैं। वस्तु, भाषा, तुक, लय, छंद, रूप एवं अप्रस्तुत-विधान में भी इनका अस्तित्व मिलता है। कवि-समाज में अनेक ऐसी मान्यतायें प्रचलित हैं जिनका अन्यत्र कहीं भी कोई अस्तित्व नहीं है। ये कवि समय के नाम से प्रसिद्ध हैं।[2] काव्य में इन बातों का वर्णन गतानुगतिक न्याय से चला आता है महाकवि भी इन्हें अपनी कविताओं में स्थान देते हैं।

अत: परम्परा में गतानुगतिकता तथा मान्यता या विश्वास ये दो पहलू प्रमुख हैं।

काव्यक्षेत्र की समस्त मान्यताओं का आधार ही विश्वास और भ्रान्ति पर निर्मित है। मनुष्य अपने भावों एवं विचारों को शब्दों द्वारा प्रकट करता है। शब्द और ध्वनि संकेत मात्र है। ध्वनि से जिस वस्तु का बोध होता है शब्द का उसके साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। शब्द द्वारा व्यंजित अर्थ कल्पित है। विभिन्न शब्दों द्वारा प्रकट अर्थों का रूप है दीर्घ कालीन सार्वजनिक मान्यता। शब्द और सांकेतिक अर्थ में कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, कोई तर्क सम्मत एकात्मकता नहीं

है। केवल मान्यता है, स्वीकृति है और है एक भावुकता पूर्ण विश्वास।[3] काव्य का समस्त अप्रस्तुत विधान इसी पर आश्रित है। काव्य रचना के मूल उपादान उपमान, प्रतीक सभी के मूल में भ्रान्तियां हैं, कल्पनायें है।

मैथ्यू अर्नाल्ड ने कवि के तीन साधन स्वीकार किये हैं–भाव, भाषा और वस्तु।[4]

काव्य सम्बन्धी परम्पराएं कविता के इन साधनों में भी पायी जाती हैं। कालान्तर में इन परम्पराओं का स्थायी रूप ही काव्यादर्श होता है। गिलबर्ट मरे के शब्दों में– "प्राचीन सभ्यता से जो पूर्ण प्रवाह निकल कर आया है तथा जिसने हमें काव्य का रूप तथा एकान्विति प्रदान की है वही आदर्श परम्परा है।"[5] काव्य शास्त्र के क्षेत्र में कवि-प्रसिद्धियां काव्य-परम्पराओं के रूप में प्रयुक्त होती हैं। साहित्य सम्प्रदाय में अनेक ऐसी मनगढ़न्त बातें परम्परा से चली आ रही हैं जो असत्य होते हुये भी पूर्ण विश्वस्त हैं। यथा, चकोर का अंगार-भक्षण, हस का नीर क्षीर विवेकी होना। काव्य-परम्परा के इसी तथ्य को प्रतिपादित करते हुये डॉ० गोपाल दत्त सारस्वत ने अपने शोध-प्रबन्ध में कहा है– "काव्य परम्पराएं किसी शास्त्रीय ग्रंथ में प्रतिपादित नहीं होती हैं। इनकी मान्यता गतानुगतिक न्याय से चली आती हैं। पूर्ववर्ती रचनाकारों ने साहित्य के क्षेत्र जो में पथ, परिपाटियां, प्रवृत्तियाँ एवं रीतियां स्थापित कर दी हैं उन्हे उत्तरवर्ती कवि आप से आप ग्रहण कर लेते हैं। अतएव, इनकी मान्यता व्यवहार के आश्रित है किसी सिद्धान्त के नहीं"।[6]

"परम्परा का अर्थ परिपाटी से लिया जाता है। इसे रूढ़ि का परिचायक भी कहा गया है"।[7] काव्य में इस परम्परा से तात्पर्य पूर्वकाल से चली आती हुई उस धारा विशेष से है जिसका प्रभाव परवर्ती कवि और कविता दोनों ही पर पड़ता है। बाल्मीकि ने रामकाव्य लिखकर एक परम्परा को जन्म दिया जिसका विकास-क्रम आधुनिक युग में मैथिलीशरण गुप्त की 'साकेत' तक चला है। इसी प्रकार कालिदास ने 'मेघदूत' लिखकर दूती-प्रसंग की परम्परा चलाई जिसका स्वरूप हरिऔध के पवन-दूत प्रसग में विकसित हुआ है। आंग्ल कवि आलोचक मैथ्यू अर्नाल्ड ने कविता को 'जीवन की आलोचना' कहा हैं।[8] और, हडसन ने कविता को 'जीवन की व्याख्या'।[9] काव्य की नींव जीवन गत यथार्थ पर पड़ती है। अतः ऐसी नींव पर आधारित परम्परा काल के प्रभाव से भी विनष्ट नहीं होती। स्वरूप परिस्थिति के प्रभाव से बदलता अवश्य है पर उसका मूल कभी परिवर्तित नहीं होता। और, यदि कभी साहित्य की परम्परा अपने मूल रूप में अविश्वसनीय हो जाये तो नये मूल्य शंका के सहारे चलने लगते हैं। तब कोई भी मान्यता ऐसी नहीं रह जाती जिसके सहारे साहित्य अग्रगामी हो सकें। फलतः काव्य में, साहित्य में,

उच्छृंखलता का जन्म होता है। औचित्य की सीमायें टूट जाती है। अतः काव्य में औचित्य, मर्यादा और पूर्ववर्ती परम्परा आदि को सुरक्षित रखने के लिये भी परम्परा का महत्व बहुत आवश्यक है।

(२) **परम्परा और पृष्ठभूमि में अन्तर**—प्रत्येक युग का काव्य अपनी पूर्ववर्ती परम्परा से अपना जीवन-सूत्र प्राप्त करता है। भावी पथ के निर्माण के लिए उसे परम्परा का आधार लेना पड़ता है। कविता हृदय से स्वतः निःसृत आवेग का शब्द विन्यास अवश्य है, किन्तु अनियंत्रित काव्य धारा औचित्य की परिसीमा का उल्लंघन कर जाती है। कविता शास्त्र की सीमा में बंधी हुई एक विद्या भी है। यही कारण है कि परम्परा का प्रवाह अविरल गति से अग्रगामी रहता है किन्तु युग-पटल पर परिस्थितिया सतत उसके स्वरूप को परिवर्तित करती रहती हैं। फलतः परम्परा के कुछ अंश जीवित रहते है जो सप्राण नवीनतम में घुल-मिल जाते हैं जबकि परम्परा का बहुत सा हिस्सा काई की तरह सड़ जाता है।[१०] तात्पर्य यह कि परम्परा का जीवित अंश ही युग के साथ सम्मिलित होकर परवर्ती कवियों का मार्ग -दर्शन करता है।

कला की धारा परस्पर विरोधी मार्गों से बहती है। कभी वह परम्परा के आधार को स्वीकार करती है और कभी मुक्त होकर क्रान्तिकारी हो जाती है। यह मानव स्वभाव है कि कभी उसे प्राचीन प्रवृतियों के अनुकूल चलना प्रिय होता है कभी उनसे विद्रोह करना अच्छा लगता है तथा कभी दोनो में आनद आता है। इसका कारण है मानव-स्वभाव की परिवर्तनशीलता।[११]

परिस्थतियों के प्रभाव से भी काव्य-मार्ग बदलते हैं। राष्ट्र की राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक क्रान्तियाँ भी परम्परा को प्राचीनता को विनष्ट करने की पृष्ठभूमि बनाती है। नई चेतना क्रान्ति को जन्म देती है तब पुरानी परम्पराये असामयिक अनुपयोगी एवं अशक्त सिद्ध होने से दम तोड़ बैठती है।

कवि अपने युग का गायक होता है। अतः प्रबुद्ध कवि की विकासोन्मुख चेतना बंधी बंधायी काव्य-सारणियों एवं परम्पराओं में फंसकर घुटने लगती है। इसीलिए वह नवीनता की संभावनाओं में विश्वास रखता है तथा परम्पराओं से विद्रोह करके नये पथ से चलने का साहस दिखलाता है। द्विवेदी-युग की इतिवृतात्मकता के विरुद्ध छायावाद ने यही साहस दिखाया था।[१२]

परम्परा और पृष्ठभूमि दोनों के क्षेत्र में भी पर्याप्त अन्तर है। पृष्ठभूमि का क्षेत्र विस्तृत है, परम्परा का सकीर्ण पृष्ठभूमि के अन्तर्गत युग की राजनीतिक आर्थिक सामाजिक, धार्मिक, साँस्कृतिक आदि परिस्थितियां आ जाती हैं। इसके अतिरिक्त प्रकृति सौन्दर्य और मानव-सृष्टि भी काव्य की पृष्ठभूमि बनते हैं। परम्परा जब

रूढ़ि का रूप ले लेती है तो उसका साथ युगीन परिस्थितियों से छूट जाता है ऐसी परम्परा से जकड़ा हुआ काव्य प्राणहीन, स्थूल और अशक्त हो जाता है। श्री दिनकर के शब्दों में-'संस्कृति' परम्परा और इतिहास जब लम्बे और समृद्ध होते हैं, वे दम घोटू बन जाते और वर्तमान को ठीक से सांस नहीं लेने देते। ऐसी स्थिति में जीवनगत परिस्थितियों से प्रसूत-प्रेरणा क्रान्ति करती है और परम्परा के स्रोत में एक अभिनव परिवर्तन आ जाता है।'[13] हिन्दी काव्य में आये परिवर्तन और नव चेतना की सराहना करते हुए डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"वह दिन सचमुच ही हिन्दी की कविता की मुक्ति का दिन था जब कवि ने परिपाटी विहित रसज्ञता और रूढ़ि समर्थित काव्य कला को साथ ही चुनौती दी। मर्यादा विषयक अज्ञान और उपेक्षा दोनों ने उसकी मुक्ति में सहायता दी। यद्यपि वह मुक्त होकर ठीक रास्ते नही गया पर मुक्त वह निःसंदेह हो गया। पुराने पंडितों ने झुंझलाकर रोष प्रकट किया, मजाक उडाया, भद्दे-भद्दे नाम देकर उसे हतोत्साह करना चाहा, पुराने शास्त्रों के जटिल तर्कों की अवतारणा करके उसे डराना चाहा पर वह इनसे विचलित नहीं हुआ।[14]

परम्परा का सम्बन्ध अतीत से होता है तथा पृष्ठभूमि का वर्तमान से। किन्तु अतीत और वर्तमान प्राचीन और नवीन सापेक्षता में ही देखे जाते हैं। कर्त्तव्य और अधिकार की भांति परम्परा और पृष्ठभूमि में अनिवार्य सम्बन्ध हैं। प्रत्येक कवि में प्राचीन और नवीन बातों का किसी न किसी अंश में अवश्यंभावी योगदान रहता है।[15] अतः साहित्य की परम्पराओ में कार्य-कारण का सम्बन्ध है। अतीत में वर्तमान का रूप छिपा होता है। प्रत्येक वर्तमान परिस्थिति पूर्व की परिस्थिति का प्रतिफल है। कार्यकारण की यह अखंड परम्परा सतत प्रवाहशील है। परम्परा आदर्शोन्मुखी होती है और परिस्थिति यथार्थोन्मुखी। इन दोनों की विरोधी धाराओं का सम्मिलन तब होता है जब परम्परा परिस्थिति से प्रभावित होती है। प्रेमचन्द का आदर्शोन्मुखी यथार्थ इसी सत्य पर आधारित है। परम्परा पृष्ठभूमि दोनो काव्य यान के दो पहिये हैं। दोनों में किसी एक का अभाव सतकाव्य के सृजन में बाधक होता है। यही कारण है कि युग प्रतिनिधि कलाकार जहां अतीत को अपनाता है, वहीं वर्तमान के प्रति भी जागरूक रहता है। अतीत की परम्परा वर्तमान को प्रेरणा देती है, आशा का संचार करती है, वर्तमान की पृष्ठभूमि परम्परा को नव-जीवन प्रदान करती है, नव शक्ति देती है। काव्य-रचना-प्रक्रिया में दोनों एक दूसरे की पूरक हैं। जान लिविंस्टन के शब्दों में, 'हम लोग नवीन वस्तु के लिये उत्सुक तो अवश्य रहते हैं किन्तु हमारा यह भी आग्रह रहता है कि जो परिचित है तथा जो अपना है उससे भी उस वस्तु का सम्बन्ध अवश्य बन रहे। हम पुराने को तो चाहते हैं किन्तु वह किसी न किसी रूप में नया प्रतीत

इसके बिना वह निश्चल स्थिर एवं जड़ है। विकासशील जीवन में पुरातन प्रवृत्तियां भी परिवर्तित होती रहती हैं। स्वस्थ परम्परा सदैव विकासोन्मुख रहती है। कोई भी पुरातन वस्तु अथवा स्थिति अक्षुण्ण नहीं है क्योंकि जीवन की कोई विशेष स्थिति किसी विशेष प्रवृत्ति का परिणाम होती है। वह सदैव एक सी नही रह सकती।"[१७]

टी०एस० इलियट के उपरोक्त कथन से यह भासित होता है कि परम्परा में कवि की प्रतिभा पृष्ठभूमि के आग्रह से नवीन प्रयोग भी करती है। कवि स्वय अपने में पूर्ण नही होता। जब वह प्राचीन कवियों से प्रेरणा लेकर उसके साथ वर्तमान का सम्बन्ध स्थापित करते हुए काव्य-रचना करता है तो वही युग-काव्य होता है। ऐसे ही काव्य का मूल्य शाश्वत होता है।[१८]

कला को सदैव नवीन प्रभाव देते रहना चाहिये। उसका रचनात्मक प्रभाव आश्चर्यतत्व पर निर्भर करता है। एक बार जब कलात्मक अभिव्यक्ति की, पद्धति की नवीनता समाप्त हो जाती है तो पाठक या सहृदय उससे विमुख होकर अपने दैनिक कार्यो में लग जाता है। कला या साहित्य मे वह एक नयी दृष्टि खोजता है.....इसीलिए महान पुस्तक में नवीनता द्वारा चकित कर देने की शक्ति होनी चाहिए जिससे पाठक प्रारभ में ही आगे पढ़ने के लिए उत्सुक हो जाय। अनुभूतियां व्यापक और गंभीर छवियों के निर्माण तथा कारयित्री प्रतिभा की क्रीडा है।[१९] अतः प्रत्येक साहित्यकार अपने युग और परिवेश के साथ प्रयोग शील हो उठता है। डा० कैलाश वाजपेयी ने भी कहा है–"हर महान कवि बहुत कुछ अंशों से प्रयोग और परम्परा का समन्वय करता है। किसी भी कवि का व्यक्तिगत महत्व कुछ नही होता जब तक कि पूर्ववर्ती कवियों की तुलना मे उसका मूल्यांकन न किया जाय।"[२०] प्रसिद्ध आग्ल लेखक विलियम ने भी लिखा है कि "सत्य तो यह है कि महान कवि परम्परावादी तथा प्रयोगवादी-दोनो होता है। अपने पूर्ववर्ती रचना कारों को भी वह दृष्टि से ओझल नहीं करता किन्तु उसे विषय-वस्तु, शिल्प और भाषा में कुछ नवीनता अवश्य लानी चाहिए।"[२१]

कविता और साहित्य में ये नवीन प्रयोग परम्परा भंजन पृष्ठभूमि के प्रति जागरूकता और विदेशी प्रभावो के कारण होते हैं। इसीलिए साहित्यकार बड़े उत्तरदायित्व के साथ परम्परा और पृष्ठभूमि का समन्वय करता है।

(३) **काव्य परम्परा और युग चेतना का सम्बन्ध**–काव्य-परम्परा परिस्थितियों से प्रभावित होती है तथा परिस्थितियां युग चेतना की पृष्ठभूमि होती हैं। अतः युग चेतना और परंपरा भी एक दूसरे से प्रभावित होती हैं। युग-चेतना जन-जीवन के साथ चलती है और इसके आधार पर रचा गया साहित्य जन-

साहित्य होता है। साहित्य की परंपरा युग की चेतना को प्रतिबिम्बित करती है। इसी तथ्य को उद्घाटित करते हुए डा० पुत्तूलाल शुक्ल ने कहा है—"पिछली शताब्दी में भारतीय जन-जीवन मे अनेक परिवर्तन हुए हैं। पाश्चात्य सस्कृति और विचार-धारा के संसर्ग ने हमारे धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक साहित्यिक आदि क्षेत्रों मे युगान्तर उपस्थित किया। फलतः हिन्दी साहित्य की गतिविधि में भी परिवर्तन हुए। साहित्य के विषय विचार, भाव-प्रकाशन शैली और काव्य-शिल्प-विधान और मान्यताओं में भी भारी परिवर्तन उपस्थित हुए।"[२२] उदाहरण के लिए कृष्ण-काव्य-परंपरा में राधा के स्वरूप को भक्ति काल में देखते हैं तो वह गरिमामय है परन्तु वही राधा रीतिकाल में शृंगार के अश्लीलत्व में सराबोर है तथा आधुनिक युग में पुनः युग के अनुरूप कर्तव्य परायणा बन जाती है। कवि ने युग की चेतना के प्रभाव से ही पहले राधा को पूजा और अर्चना के योग्य समझा, फिर वैभव विलास की छाया में उसे "नैन नचाय कहो मुसकाय लला फिर आइहो खेलन होरी" का प्रतीक बनाया। तत्पश्चात् यही राधा उद्घोष करती है—

प्यारे जीवैं जगहित करैं
मम गेह चाहे न आवे।[२३]

आधुनिक युग नव चेतना का युग है। इसका प्रारंभ भारतेन्दु से होता है। युग-चेतना के प्रभाव से राजनैतिक और सामाजिक चेतना के आलोक में साहित्यिक परम्परा अपूर्व जीवनी शक्ति लेकर जागरित हुई। भारतेन्दु-युग की कविता में युग-चेतना और परंपरा का अद्भुत सामंजस्य था। इसका महत्व स्थापित करते हुए श्री विद्या भास्कर अरूण ने लिखा है—"आधुनिक काल के पहले चरण में ही हिन्दी कविता ने ऐसे चिह्न प्रकट करने शुरू कर दिए थे जो नए युग के आगमन का आभास देते थे।[२४] राष्ट्रीयता इस युग की एक स्वस्थ प्रवृति है। यह परम्परा युग की अनेक परिस्थितियों से गुजर कर आज तक गतिशील है। भारतेन्दु की राष्ट्रीयता में आंसू की प्रधानता थी। निराशा का साम्राज्य था। किन्तु, युग बदला। तिलक, गांधी आदि युग-पुरुषों के नेतृत्व में राष्ट्रीयता ने अभिनव चेतना पाई। क्रान्ति-कारियों के शौर्य ने क्रान्ति का स्वर भरा। द्विवेदी-युग तक आते-आते इस परम्परा में आस्था प्रौढ होने लगी। आंसू और नैराश्य समाप्त हुए। राष्ट्रीय उत्थान के प्रयत्न प्रारंभ हुए। फलतः मैथिलीशरण गुप्त भारतीय आत्मा नवीन, सुभद्रा कुमारी चौहान और दिनकर तथा नेपाली के स्वरों में युग की राष्ट्रीयता फूट पड़ी। छाया वादी कल्पना, कुंठा और पलायन का प्रागंण भी राष्ट्रीयता की प्रखर चेतना से बच न सका। कामायनी कार के 'नाट्यगीत' परिमलकार के 'पौरुष गान' आदि युग प्रसूत ही तो हैं। वे राष्ट्रीय अभिनव चेतना के प्रतीक हैं। अतः यह स्पष्ट है कि काव्य-परंपरा युग-चेतना से पूर्ण प्रभावित होती है। परम्परा का सूत्र कहीं समाप्त

नहीं होता और यह संभव भी नहीं है। टी०एस० इलियट ने परम्परा को विकसित करते रहने की मान्यता स्थापित करते हुए लिखा है—"कवि के लिए अतीत की चेतना से प्रभाव ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक है। उसको इस चेतना का विकास जीवन पर्यन्त करते रहना चाहिए।[२५] कविता का महल परम्पराओं की नींव पर खड़ा होता है। अतः नींव के अभाव में भवन का अस्तित्व संभव नहीं है। परन्तु प्रयोगवादी कवियों की भांति आधुनिकता के नाम पर परम्परा-भंजन का प्रयास कभी सफल नहीं हो सकता। यही कारण है कि यह धारा छोटी सी अवधि में ही 'प्रयोगवाद' से चलकर 'अकविता' तक पहुंच चुकी है। परन्तु इनके पथ अभी भी निर्लक्ष्य ही हैं। ये कवि आज भी राड़ी ही हैं--राहो के अन्वेषी ही हैं।[२६] निष्कर्ष यह कि काव्य परम्परा युग-चेतना से प्रभावित होकर ही प्राणवान एवं सशक्त रहती है।

युग-चेतना भी परम्परा के आधार को अस्वीकार नहीं कर सकती क्योकि अन्त में उसका अवसान भी परंपरा में ही होगा। इस तथ्य को उद्घाटित करते हुए नन्द दुलारे जी ने लिखा है--"कोई भी देश अपनी साहित्यक परम्परा से नाता नही तोड़ सकता। अतीत का प्रभाव वर्तमान पर पड़ता ही है। इसके साथ ही उल्लेखनीय बात यह है कि भारतीय परम्परा बहुत पुरानी है। पुरानी ही नही वह अतिशय समृद्ध भी है।[२७]

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य-परम्परा और युग-चेतना का संबध अत्यन्त प्रगाढ़ है। परम्परा अपने में बड़ी व्यापक और उपयोगी है, परन्तु काव्य-परम्परा में पृष्ठभूमि का भी योगदान होता है पृष्ठभूमि के प्रभाव से ही युग चेतना का भाव उत्पन्न होता है। अतः काव्य परम्परा पृष्ठभूमि और युग चेतना के साथ अपना कलेवर बदलती है और इसी के परिपार्श्व मे वहने वाली काव्यधारा युगसाहित्य की गगा होती है।

(४) **भारतेन्दु युगीन कविता में युग-चेतना**—हिन्दी साहित्य का भारतेन्दु-युग नव जागरण का काल था। वर्षों से त्रस्त एवं कुण्ठित भारतीय आत्मा स्वतंत्रता के लिए तड़प उठी थी। विदेशी शासक के अत्याचार और शोषण से जन-मानस आन्दोलित हो उठता था। देश का प्रत्येक क्षेत्र क्रान्ति के कगार पर खड़ा हो गया था। १८५७ की क्रान्ति उसी का एक प्रारभिक रूप था। यही क्रान्ति स्वतंत्रता संग्राम की प्रथम क्रान्ति थी। यद्यपि अंग्रेज इतिहासकार इसे सिपाही विद्रोह मानते हैं किन्तु सत्य तो यही है कि १८५७ का विद्रोह स्वतत्रता संग्राम की ओर ले जाने वाला प्रथम सोपान था।[२८] इस संग्राम का मुख्य सम्बन्ध भी हिन्दी प्रदेशो से था। पर खेद का विषय है कि युग-चेतना के समर्थ कवि भारतेन्दु ने भी इस संग्राम का उल्लेख अपने काव्य में नही किया। हां राजाओं जमीदारों आदि के आश्रित कवियों ने इस विद्रोह में भाग लेने वाले अपने आश्रय-दाताओं की वीरता का गान

अवश्य किया है।[२९] १८५७ के बाद का हिन्दी-साहित्य युग-चेतना का प्रारंभिक इतिहास कहा जा सकता है। अब हिन्दी-काव्य परिपाटी विहीन होकर तथा रूढ़िगत भावना को त्यागकर नवीन दिशा की ओर मुड़ने लगा था।[३०] काव्य के क्षितिज पर भारतेन्दु भास्कर के उदय से एक नवजीवन का सचार हो गया था। तत्कालीन काव्य ने खुलकर जीवन की परिस्थितियों का अनुगमन किया। इसलिए राम गोपाल सिंह ने इस युग के समस्त साहित्य को सामाजिक एवं सांस्कृतिक पुर्नजागरण का साहित्य कहा है।[३१] भारतेन्दु-युग के कवि देश की समसामयिक राजनैतिक धार्मिक, आर्थिक एवं नैतिक परिस्थितियों का यथा-तथ्य चित्रण करना अपना ध्येय समझने लगे थे।

समाज सुधारक संस्थायें और भारतेन्दु युग का काव्य—सन् १८५७ के पश्चात् सार्वजनिक जीवन की नींव डालने वाली कई संस्थाओ का भी निर्माण हुआ। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानद सरस्वती, दादा भाई नौरोजी, श्रीमती एनीबेसेंट आदि के सद् प्रयोगों से ये सस्थाये जन जागरण में लग चुकी थीं।[३२] भारतेन्दु युगीन कवि इन संस्थाओ से विशेष प्रभावित दिखते हैं। नव-युग ने विचारो में स्वतंत्रता प्रदान की थी। फलतः इस युग के कवियों ने समाज, धर्म, शासन आदि सम्बन्धी सुधार का मार्ग काव्य के माध्यम से खोजना प्रारभ किया। भारतेन्दु तो इसके प्रतीक थे ही। डा० वार्ष्णेय ने खुले शब्दों मे लिखा है—'उन्होने देश भक्ति, लोकहित, समाज सुधार, मातृभाषोद्धार, स्वतत्रता आदि की वाणी सुनाई।[३३]

ह्रासोन्मुखी स्थिति के प्रति आंसू और अतीत प्रेरणा—भारतेन्दु युगीन कविता की युग-चेतना राष्ट्र परक होते हुए भी राजनीति के साथ धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक पक्षों को भी समाहित किये थी। भारतेन्दु की पैनी दृष्टि ने यह ताड़ लिया था कि अंग्रेजी राज्य केवल राजनैतिक दृष्टि ही नही बल्कि धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक दृष्टि से भी अभिशाप है। उन्होंने भारतीय सभ्यता संस्कृति तथा ज्ञान के क्षेत्र में उसकी आधार शिला को प्रकम्पित होते देखा। वे इस आघात को नही सह सके। उनका अन्तः स्थल विक्षोभ एवं ग्लानि से भर उठा। यही कारण है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में अतीत-गौरव का वर्णन कर देशवासियों को उदबुद्ध किया। भारतेन्दु एवं इस युग के अन्य कवियों ने जनता की दृष्टि खोलने का प्रयास किया। अपनी भाषा को महत्व तथा प्रचार का मार्ग दिखाया, आर्थिक हितों की ओर सचेत किया, तथा विदेशी भाषा के प्रति व्यामोह के हानिकारक परिणामों की ओर भी संकेत किया।

भारतेन्दु-युग के कवियों ने युग की दुर्दशा से तथा राष्ट्र के प्रति होने वाले अत्याचारों से दुखी होकर क्षोभ प्रकट किया और पतन के कारणों, का स्पष्टीकरण

किया । वर्तमान की ह्रासोन्मुखी स्थिति पर तो उन्होंने आंसू बहाये और प्रेरणा के लिये अतीत की ओर भी निहारा । 'भारत-दुर्दशा' के अधोलिखित गीत में ये दोनों प्रवृत्तियां साकार हो उठी हैं–

"रोजहु सब मिलि कै आवहु भारत माई ।
हा ! हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ।
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो,
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीन्हों,
सबके पहिले जो रूप रग रस मीनों,
सबके पहिले विद्या-फल जिह गहि लीन्हों,
अब सबके पीछे सोई परत लखाई ।
हा ! हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ।"[३४]

भारत की वर्तमान दुर्दशा पूर्ण स्थिति में अतीत के वीर पुरुषों का स्मरण कर इन्होंने एक नवीन चेतना जगाने का प्रयास किया–

"कहँ गये विक्रम, भोज, राम, बलि, कर्ण, युधिष्ठर,
चन्द्रगुप्त, चाणक्य कहाँ जासै करि कै फिर
कहँ क्षत्रिय सब मरै जरै सब गये कितै गिर
कहाँ राजा तौन साज जेहि जानत हैं चिर ॥[३५]

भारतेन्दु की तरह बालमुकुन्द गुप्त ने भी 'पुरानी दिल्ली' शीर्षक कविता में भारत के ऐतिहासिक नगर की प्राचीन गौरव-गाथा का चित्र अकित कर काल के घातक प्रहार का वर्णन किया हैं ।[३६] इसी प्रकार प्रेमधन ने 'जीर्ण जनपद' [३७] तथा 'पितर विलाप'[३८] शीर्षक कविताओं में ऐसे ही भावों की अभिव्यक्ति की है । भारतेन्दु युगीन अन्य कलाकारों में प्रताप नारायण मिश्र, श्रीनिवास दास, राधाचरण गोस्वामी आदि की रचनाओं में भी युगीन चेतना का सशक्त स्वर प्रतिध्वनि हुआ है । भारतेन्दु-युग का अतीत-गौरव-गान वर्तमान-दुर्दशा के विक्षोभ की भावना से आच्छादित है– इसमें दो मत नहीं हो सकते । डॉ० केसरीनारायण शुक्ल के शब्दों में अतीत के प्रति अनुराग से उद्भूत इनके उद्गार कहीं भारत की भव्यता की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करते हैं, कहीं प्रकट रूप से उज्ज्वल भविष्य बनाने का संकेत देते हैं और कहीं इन कवियो के अन्तर का क्षोभ प्रकट करते हैं ।[३९]

युग पतन के कारणों का अन्वेषण– भारतेन्दु-युग के कवियों ने अपने युगीन पतन के कारणों को भी खोजा है । 'प्रेस ऐक्ट' जैसे बन्धनों में बधे होने पर भी उन लोगों ने इन कारणों का खुला विश्लेषण किया है । उनके अनुसार इस

हीनावस्था के भी दो कारण थे– प्रथम स्वयं भारतीयों का मानसिक, नैतिक तथा बौद्धिक अधःपतन और द्वितीय पराधीनता का अभिशाप। इन कवियों ने प्रथम कोटि के कारणो की प्रमुखता स्वीकार की है। भारतेन्दु युगीन कवि युग के प्रति हमेशा जागरुक रहे है। देश के नैतिक पतन, सामाजिक एवं धार्मिक अवनति, सांस्कृतिक ह्रास, राजनीतिक अभिशाप इन सबका इन्होने निःशक भाव से वर्णन किया है। भारतेन्दु ईश्वर से निवेदन करते हुये कहते हैं–

"डूबत भारत नाथ बेगि जागो अब जागो,
आलस देव यदि दहन हेतु चहुं दिसि सों लागो,
महा मूढ़ता वायु बढ़ावत तेहि अनुरागो
कृपा दृष्टि की वृष्टि बुझावत आलस त्यागो
अपनो अपनायो जानि कै करहु कृपा गिरिवर धरन
जागो बलि बेगिहि नाथ अब देहु दीनहि पुनः सरन।"[४०]

भारतेन्दु की तरह प्रेमधन ने भी आपसी फूट, परस्पर कलह, अमित व्ययता तथा विलास प्रियता को सर्वनाश का कारण माना है–

"भये एक के चार-चार घर पर अलग-अलग जब
भये परस्पर कलह द्वेष तब कुशल होत कब
भये दीन बनि ऐसे मिटी या थल की शोभा
ताहि एक दिन लखन कौन कौ नहि मन लोभा।[४१]

युग के चितेरे ये कवि युगीन सभी समस्याओं के प्रति जागरुक रहे हैं। युगीन सभी स्थितियां इनकी आंखो के समक्ष रही हैं। प्रताप नारायण मिश्र के अनुसार हिन्दुओं के मन्दिर टूट रहे हैं, गायों का हनन हो रहा है और अंग्रेज सरकार न्याय का मायाजाल रचकर सारा धन समेटे जा रही है।[४२] राधाकृष्ण दास का देश वर्णन भी कुछ वैसी ही वस्तुस्थिति का परिचायक है।[४३]

स्वभाषा के प्रति निष्ठा–अंग्रेजी राज्य मे स्वभाषा दुर्दशा के प्रति भी ये कवि जागरुक थे। विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा का प्रसार कर एक ओर तो भारतीय संस्कृति का गला घोंटा जा रहा था और दूसरी ओर विदेशी भाषा पढ़ने वालों को प्राथमिकता प्रदान कर नई संस्कृति का बीजारोपण किया जा रहा था। नकल की कला मे निपुण भारतीय अपनी भाषा तथा आचार-विचार त्याग कर अंग्रेजी वेश-भूषा से रंगते जा रहे थे। प्रेमधन ने इस ओर संकेत करते हुये लिखा-

"अंग्रेजी पढ़ि राजनीति यूरप आजादी
सखि, हिन्द में बसि निरख्यौ अपनी बर्बादी
करि भोजन में कमि किते अंग्रेजी बानो
बनवत पै नहि बनत कैसहू ढ़ंग बिरानो।"[४४]

भाषा-ज्ञान के प्रति तो इन कवियों का दृष्टिकोण पूर्णतः स्पष्ट था। भारतेन्दु सभी उन्नति का मूल निज भाषोन्नति को मानते थे।

"निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल ।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को शूल ॥"[४५]

प० श्रीधर पाठक भी अंग्रेजी पढ़े लिखे बाबुओं से उदासीन रहते थे क्योंकि वे अंग्रेजी भक्त होकर हिन्दी की उपेक्षा करने लगे थे।

अंग्रेजी पढ़े बाबू को हिन्दी से क्या गरज
इंग्लिश के बराबर तो किसी में मजा नहीं।[४६]

राष्ट्रीय चेतना की उस प्रारम्भिक स्थिति में भी स्वभाषा के प्रति जिस निष्ठा का परिचय इन कवियों ने दिया, स्वातन्त्र्योत्तर युग में स्वतन्त्रता का सुख भोगने वाले उस पवित्र भाव को छू भी नहीं पाये। समस्त विश्व में यही यह अभागा देश है जहाँ विदेशी शासन को हटाने के लिये क्रान्ति की आवश्यकता हुई और आज विदेशी भाषा को सिंहासन च्युत करने के लिये भी क्रान्ति की ही आवश्यकता हो रही है।

आर्थिक स्थिति के प्रति जागरूकता देश की आर्थिक विपन्नता के प्रति भी इन कवियों की दृष्टि सचेष्ट थी। देश का आर्थिक शोषण भयंकर था जिस ओर राजनयिकों की दृष्टि भी जा चुकी थी। भारतेन्दु ने इस ओर भी देश वासियों का ध्यान आकृष्ट किया।

"अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी,
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी ॥"[४७]

भारतेन्दु से भी अधिक तीव्र स्वर में विरोध प्रकट किया प्रेमघन ने। उन्होंने तो देश वासियों से निर्भीक शब्दों में कहा है कि मुसलमानी राज्य की अपेक्षा अंग्रेजी राज अधिक दुखद है।[४८] उन्होंने देशवासियों के पतन का कारण विदेशी दासता में खोजा है।[४९] अंग्रेजों ने लूट मचा रखी थी। शोषण का खुला बाजार गर्म था। न्याय की बिक्री भी खुलकर हो रही थी।[५०] अस्तु, उपरोक्त सभी प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि भारतेन्दु युगीन कवियों में युग-चेतना का भाव अपने पूर्ण वैभव पर विद्यमान था।

स्वदेश प्रेम का भाव—भारतेन्दु-युग देश-प्रेम का युग था। १८५७ के विद्रोह ने भारतीय रक्त में देश-प्रेम का राग भर दिया था। अब कवियों की आँखें राष्ट्र की प्राकृतिक सुषमा की ओर आकृष्ट होने लगी थी। भारतेन्दु की 'गंगा वर्णन' और 'यमुना वर्णन' वैसी ही कवितायें हैं। इस युग के कवियों ने देश

की इन सुषुमाओं का केवल वर्णन करना ही आवश्यक नहीं समझा, उनकी स्तुति भी की। श्रीधर पाठक ने 'हिन्द वंदना' या 'भारत प्रशंसा' में लिखा है–

जय जयति विन्ध्य-कन्दरा हिन्द
जय मलय-मेरु-मन्दरा हिन्द
जय चित्रकूट-कैलाश हिन्द।[५१]

अब भारतीय पवित्र त्यौहारों का वर्णन भी पवित्र आस्था से होने लगा। प्रेमधन की 'नाग पंचमी' 'रामलीला', विजयादशमी' आदि के प्रति आस्था देश-प्रेम का प्रमुख अंग है।[५२] प्रेमधन ने वर्षा ऋतु व्यवस्था में मेघ की गर्जना के साथ ढोल पर गाते हुये आल्हा द्वारा देशवासियो को वीरता की लहरों से आच्छादित सागर में डूबा देना चाहा था।[५३] भारतेन्दु का ऋतु-वर्णन भी इसी भाव का संपोषक है।[५४] अब देश भौगोलिक सीमा से आबद्ध जड भूमि मात्र नहीं रह गया था। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में तो 'मातृ-भूमि नये युग की देवता है।'[५५]

समग्र जन प्रतिनिधित्व का भाव– युग प्रतिनिधि कवियों को युग की सारी मान्यताओं को साथ लेकर चलना पड़ता है। भारतेन्दु-युग की पृष्ठभूमि का एक दूसरा पक्ष भी था। १८५७ के गदर का अन्त हुआ था। साम्राज्यवाद के आंतक से जनता त्रस्त थी। महारानी विक्टोरिया ने झूठी सुख-शान्ति के आश्वासन दिये थे। फलतः जनता का एक वर्ग जो अभी-अभी थक कर परिश्रान्त हो गया था वह कुछ विश्राम चाहता था। भारतेन्दु-युग के काव्य ने इस वर्ग का भी प्रतिनिधित्व किया। कवियों ने राजभक्ति के गीत भी गाये। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि इनमें राष्ट्रीय जागरण की चेतना का अभाव रहा है। ये कवि भी राष्ट्रीय श्रद्धा से ओत-प्रोत रहे हैं किन्तु युग चेतना के प्रति जागरुक इन कवियो से युग की यह मांग भी उपेक्षणीय नहीं रही है। समाज की इसी मनोवैज्ञानिक पीठिका पर रचित कुछ कवितायें ही राजभक्ति के गीत हैं जिनमे ड्यूक ऑफ एडिनवरा के विवाह का गीत है[५६] तो कहीं महारानी विक्टोरिया की प्रशसा[५७] और कही लार्डरिपन की सराहना।[५८] राधाकृष्णदास की 'मेकडाले पुष्पाञ्जली'[५९] और विजयिनी विलाप[६०] शीर्षक कवितायें भी इसी की एक कड़ी है। किन्तु, ऐसी कविताओं में वस्तुतः कवियों का हृदय मुखरित नहीं हुआ है। ऐसी कविताए तो युग की एक मांग थीं' जिन्हें पूरा करना इन कवियों ने उचित समझा।

भारतेन्दु-युग में ही राष्ट्र-निर्माण सम्बन्धी कार्य होने लगे थे। ऐसे कार्यों से उस युग के कवियों को अपार हर्ष होता था। प्रतापनारायण मिश्र ने कांग्रेस-अधिवेशन को 'महापर्व' कहा है।

"जुटिहैं तीरथराज में काँगरेस के लोग
महापर्व सुभ जोग यह मिलिहिन बारहि बार
तातै धावहु बेग सब भारत सुत समुदार।"[६१]

दादा भाई नौरोजी के इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट में निर्वाचित होने पर प्रेमधन ने प्रसन्नता प्रकट की थी। उन्होंने शुभ कामना प्रकट की थी कि अब भारत की दशा में सुधार होगा। इस विजय पर प्रेमधन ने गर्वोक्ति की थी–

"विजय तुम्हारी अहै विजय जातीय सभा की
सिगरे भारत की तासौ गौरव अति मां की।"[६२]

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि भारतेन्दु युगीन कविता में तत्कालीन परिस्थितियो का चित्रण यथेष्ट मात्रा में हुआ है।

द्विवेदी युगीन काव्य में युग चेतना— द्विवेदी-युग खड़ी बोली हिन्दी-काव्य-संसार का विकास-युग रहा है। इस युग में देश ने अनेक विकास देखे, अनेक क्रान्तियां देखी। जन जीवन का शायद ही कोई ऐसा अभागा पक्ष होगा जिसमें परिवर्तन के चिन्ह नजर नहीं आते। राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक आदि सभी परिस्थितियों ने अभिनवीकरण के संसार में प्रवेश पाया। भारतेन्दु युगीन कवियों ने जिन नवचेतनाओं को जन्म दिया था द्विवेदी युगीन काव्य में आकर उनका पूर्ण विकास हुआ। इस युग तक आते-आते अंग्रेजी साम्राज्यवाद के प्रति भी किसी प्रकार की श्रद्धा लोगों में नहीं रह गई। राष्ट्रवाद के विभिन्न अगों की पुष्टि हुई। डॉ० सुषमा नारायण के शब्दों में, "द्विवेदी युग में भारत के अतीत कालीन आध्यात्मिक तथा नैतिक उत्कर्ष के सुन्दर प्रभावोत्पादक पुराण तथा इतिहास सम्मत विषय चुने गये। अतीत-गौरव की तुलना मे वर्तमान-दुर्दशा की अनुभूति में तीव्रता आई। भौगोलिक एकता एवं मातृभूमि-स्तवन पर विशेष बल दिया गया। वर्तमान के अभावो– राजनीतिक अभिशाप, सामाजिक कुरीतियाँ, आर्थिक शोषण, सांस्कृतिक हीनता आदि का चित्रण किया गया। राष्ट्रवाद का भावात्मक पक्ष स्वदेशी आन्दोलन, तिलक की उग्र राष्ट्रवादिता होमरूल आन्दोलन, अहिंसात्मक सत्याग्रह, बलिदान की भावना आदि की अभिव्यक्ति भी काव्य में होने लगी।"[६३] अस्तु, द्विवेदी युगीन काव्य में युग-चेतना का विकास बहुमुखी हुआ है जिसका विस्तृत विवेचन एक स्वतन्त्र प्रबन्ध का विषय है। यहाँ केवल पृष्ठभूमि के रूप में उसका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जायगा।

प्राचीन आख्यान और युगीन चेतना– द्विवेदी युगीन काव्य की प्रमुख विशेषता यह है कि प्रागैतिहासिक एवं ऐतिहासिक आख्यान को लेकर इस युग के कवियों ने आख्यान काव्य की अधिक सृष्टि की है। मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथ

वध', 'रंग में भंग', 'साकेत', 'भारत भारती', हरिऔध का 'प्रिय प्रवास', कविवर सत्यनारायण का 'भ्रमर दूत', सियारामशरण गुप्त का मौर्य विजय, आदि इस युग की प्रमुख प्रतिनिधि-रचनायें हैं। प्रसाद के 'महाराणा के महत्व' की चर्चा भी इसी कोटि में होनी चाहिये। इन कवियों ने इन प्राचीन आख्यानों के आधार पर आधुनिक समयुगीन समस्याओं के निदान प्रस्तुत किये हैं। जनता मे जो उस समय राष्ट्रीय और जातीय जागरण आया था द्विवेदी-युग के काव्य में उसी की छाया प्रस्तुत की गयी है। डॉ० केसरी नारायण शुक्ल के शब्दों में, 'जनता का यह राष्ट्रीय और जातीय जागरण द्विवेदी युग के साहित्य में प्रतिबिम्बित है। जनता की भावनायें काव्य में झलक रही है।'[६४] 'प्रिय प्रवास', 'साकेत' आदि प्रबन्धों में निसंदेह हिन्दू जाति की विभूतियों का यशोगान हुआ है किन्तु वर्तमान उपेक्षित नहीं रहा है। कहना तो यह चाहिये कि इन प्राचीन आख्यानों के शरीर में आत्मा आधुनिक ही है। ये कवि पुराने होकर भी नये और नये होकर भी पुराने हैं। ब्रजभाषा के अन्यतम कवि सत्यनारायण का 'भ्रमर दूत' भी इसी कोटि की रचना है। यह रचना जहां प्राचीन कथा के आधार पर लिखी होने के कारण गौरवमय अतीत की परिचायक है वहीं वह अपनी समसामयिकता के लिये भी महत्वपूर्ण है। देश की तत्कालीन दयनीय दशा पर कवि की व्यथा तथा करुणाधारा यहां प्रवहमान प्रतीत होती है। कृष्ण मथुरा से द्वारका प्रवास में है। यशोदा समझ नहीं पाती है कि पुत्र को कैसे संवाद प्रेषित करे। वह स्वयं तो कुछ लिख नहीं सकती क्योंकि 'पढ़ी न अक्षर एक ग्यान सपनों नहि पायो। दूध दही चारत में सगरो जनम गवायों।"[६५] कविवर सत्यनारायण की यशोदा के शब्दों में जो नारी-शिक्षा का निरादर करते हैं वे 'स्वदेश अवनति प्रचड घातक अधिकारी' हैं।

यशोदा अपना संदेश एक भ्रमर द्वारा प्रेषित करती है। यह संदेश क्या है—एक दुःख भरी कथा है। यशोदा यहाँ भारत माता की प्रतीक है। ग्वाल बालों की दुर्दशा समस्त भारतीयों की दुर्दशा है। कृष्ण के बिना अब कोई नहीं है जो ग्वालों को उनके हित की बात सुझावे और स्वतन्त्रता, समता, सह भ्रातृत्व सिखावे। आज यद्यपि वे सब प्रकार के दुख सह रहे हैं, फिर भी मुख से कुछ नही कहते क्योंकि गंवार हैं और कोई "अगुआ नहीं हैं"[६६] अब तो आशा और विश्वास भी साथ छोड़ रहे हैं। अब तो देश परदेश बनता जा रहा है। डॉ० केसरीनारायण शुक्ल के शब्दों में, जातीय ज्योति का टिमटिमाता दीपक बाहरी बयार से बुझना चाहता है ऐसे में देशीय वेश और भावना किसे हो ? निराशा का साम्राज्य छा रहा है और "कोउन को विश्वास न जातीय उदय में"।[६७] प्रस्तुत रचना में देश दशा का पूर्ण चित्र उतरा है। देश की दरिद्रता, अशिक्षा, कलह सभी का पूर्ण और स्पष्ट संकेत है। कवि वर्तमान से पूर्ण परिचित है। वह वर्तमान को ही यहां अतीत के माध्यम से व्यक्त कर रहा

है। कहने का आशय यह है कि 'भ्रमर दूत" की समस्त समस्यायें आधुनिक युग की समस्यायें हैं जिन्हें कवि ने अन्योक्ति के माध्यम से व्यक्त किया है।

'प्रिय प्रवास' की रचना की पृष्ठभूमि भी कुछ वैसी ही है। प्रिय-प्रवास के कृष्ण न तो पुराण प्रसिद्ध परम पुरुषावतार हैं, न गीताकार। वे सूर और नंद के नट-वर नागर भी नही हैं। उन्हें हम रीतिकालीन कवियों के 'लला' के रूप में भी नही देखते जो 'राति के केलि अघानो नहीं दिनहिं लला पुनि घात लगान्यो।" वे तो लोक रक्षक कृष्ण हैं जो दीनों के उद्धारक, जनता के सेवक तथा लोक-धर्म के प्रतिष्ठापक हैं। 'प्रिय प्रवास' के राधा-कृष्ण में प्रेम से अधिक कर्तव्य की प्रियता दिखाई गयी है। वे दोनों परस्पर सम्मिलन की बलवती इच्छा रहते हुये भी आत्म-संयम रखकर प्रेम या मानव सेवा में ध्यान रखते हैं। निश्चय ही राधा-कृष्ण का यह स्वरूप समसामयिक गाधीवादी स्वरूप का प्रतीक है। रीतिकालीन कवियो ने राधा कृष्ण के कलेवर को काजल से पोतकर काला कर दिया था जिसे हरिऔध ने दूध ले धोकर धवल बना दिया है।[६८] निष्कर्ष यह है कि 'प्रिय प्रवास' के राधा-कृष्ण वस्तुतः गांधी युग के स्वयं सेवक राधा-कृष्ण हैं, अतीत के नही। हरिऔध की यह भावना उस युग की समस्यात्मक भावना है जिसे स्वीकार करने में दो मत नहीं हो सकते।

'साकेत' का प्रसंग भी कुछ इसी तरह का है। परम्परा-रूप में तो 'साकेत' प्राचीन आख्यान को लेकर रचित है किन्तु 'साकेत' के पात्र भी गांधी-युग से पूर्णतः प्रभावित हैं। 'साकेत' की सीता भी वन में अपने हाथो वन वेलियों को सीचती है, चर्खा चलाने की आयोजना करती है और आत्म निर्भर रहकर जीवन यापन करती है।[६९] 'साकेत' की तरह 'भारत भारती' भी युग-प्रतिनिधि-रचना है। "हमको समय को देखकर ही नित्य चलना चाहिए।"[७०] यही उसका सिद्धात वाक्य है। 'भारत भारती' में जहाँ अतीत प्रेम है वहीं वर्तमान की समस्याये भी।

"प्राचीन बातें ही भली हैं यह विचार अलीक है[७१] इसलिए कवि कहता है—

"जैसी अवस्था हो जहां वैसी व्यवस्था ठीक कैं।"[७२]

फिर, इसी संदर्भ में कवि भारतियों को सावधान भी करता है–

"समझो न भारत-भक्ति केवल भूमि के ही प्रेम को।
चाहो सदा निज देशवासी बन्धुओं के क्षेम को॥[७३]

जन-भावना का यह आग्रह भाव उनकी प्रगतिशीलता का ही द्योतक है। मानवतावाद, लोक सेवा और विश्व प्रेम इन कवियों के प्रिय विषय थे जिन्हें युग-दर्शन का अंग कहा जा सकता है। आशय यह कि द्विवेदी-युग के काव्य में जहां अतीत आख्यान का बाहुल्य है वहां वर्तमान की चिंतन धारा का भी। भूत की गरिमा से

वर्तमान को प्रेरणा दी गयी है। वर्तमान कहीं भी उपेक्षित नहीं रहा है। इस संदर्भ में डॉ० केसरी नारायण शुक्ल का मत दर्शनीय है जिसमें उन्होंने द्विवेदी युग के कवियों की काव्य-चेतना का विश्लेषण किया है। उन्होंने लिखा है–'द्विवेदी-युग का काव्य इस बात का द्योतक है कि अतीतोन्मुख होते हुए भी ये कवि वर्तमान से न अनभिज्ञ हैं और न विमुख। यदि यह कहा जाय कि वर्तमान को सुन्दर बनाने की इच्छा से ही ये कवि अतीत की ओर मुड़े तो अत्युक्ति न होगी।'[७४] वस्तुतः द्विवेदी युग के कवियों ने तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक, और सामाजिक आन्दोलनों का खुले हृदय से स्वागत किया है। देशोन्नति में योगदान देने वाले प्रत्येक नये विचार को इन कवियों ने मुखरित किया है। इन कवियों ने स्वदेशी के गीत गाये और देश की आर्थिक दशा सुधारने में योगदान दिया है। इसी प्रकार राजनीति के क्षेत्र में भी उन्मुक्त कंठ से इन्होंने राष्ट्रगान किया है। संक्षेप में देश भक्ति, वर्तमान-दुर्व्यवस्था पर क्षोभ, अतीत की भव्यता पर गर्व, जन्म भूमि की सुषमा का गान, जाति प्रेम, राष्ट्रीय एकता आदि इन कवियों के काव्य के प्रमुख विषय रहे हैं। इन कवियों ने साहित्य जाति और राष्ट्र तीनो की सेवा की है। यही सेवाभाव उस युग की प्रमुख चेतना का परिचायक है।

निष्कर्ष

दिनकर की काव्य कला में भारतेन्दु युग तथा द्विवेदी-युग का प्रतिबिम्ब— भारतेन्दु युगीन और द्विवेदी कालीन काव्य-परम्परा की इसी विकासोन्मुख धारा ने दिनकर के काव्य की मुख्य भूमिका प्रस्तुत की है। जिस राष्ट्रीयता का प्रारंभ भारतेन्दु-युग में हुआ था उसी का चरम विकास 'रेणुका' 'हुंकार' और 'सामधेनी' में मिलता है। यह सच है कि युगानुकूल भावनाओं का परिवर्तित रूप प्रस्तुत रचनाओं में प्रकट हुआ है किन्तु बीज वही है। समाज, राष्ट्र और साहित्य के बीच की खाई भरने के निमित्त अगर भारतेन्दु' और उस युग के कवियों ने प्रयास नहीं किया होता तो प्रायः 'हुंकार' और 'सामधेनी' के दिनकर के दर्शन हमें नहीं होते! दिनकर की विकासोन्मुख राष्ट्रीयता का मूल बीज वही है जिसे भारतेन्दु-काल में बोयागया था।

द्विवेदी-युग की मुख्य परम्परा को भी दिनकर ने ग्रहण किया है। प्राचीन आख्यानों पर आधारित अभिनव भावनाओं के प्रतीक काव्य-रचना का श्रीगणेश द्विवेदी-युग में ही हो गया था। दिनकर की 'रश्मिरथी', 'कुरूक्षेत्र' और 'उर्वशी' ऐसी ही रचनायें हैं जिनकी समस्त समस्याये युग प्रसूत अत्याधुनिक हैं किन्तु आख्यान का मूलाधार प्राचीन है। इतना ही क्यों 'रश्मिरथी' की रचना-शैली में भी जो इतिवृतात्मकता है उसे भी हम द्विवेदी युगीन अवशेष कह सकते हैं। निष्कर्ष यह है कि दिनकर अपनी रचनाओं में एक सीमा तक इन दोनों ही काव्य-धाराओं से प्रभावित रहे हैं।

पृष्ठभूमि

1. दिनकर के काव्य की राजनीतिक पृष्ठभूमि–विश्व की घटनायें जहां एक ओर सामान्य जन के जीवन-दर्शन को प्रभावित करती हैं वही साहित्य-स्रष्टा के जीवन को वे और भी तीव्रता से प्रेरित करती हैं। साहित्यकार इन महान घटनाओं से प्रेरणा ग्रहण कर ही युग-साहित्य का सृजन करता है। युग-चेतना से साहित्यकार निरपेक्ष रह ही नहीं सकता। युग-स्वयं उसके साहित्य में बोल उठता है। दिनकर जैसे समर्थ युग-कवि के काव्य में युग-चेतना इस तरह मुखरित हुई है कि डॉ० सावित्री सिन्हा ने उन्हें युग चारण' की उपाधि से विभूषित किया है। दिनकर के इस युग चारणत्व का बहुत कुछ दायित्व उस युग को ही है। इतिहास का प्रायः कोई भी काल खण्ड इतना घटना संकुल नहीं है जितनी वर्तमान शताब्दी। इस शताब्दी ने दो-दो विश्व युद्धों के भंयकर परिणाम देखे। इसी युग में कई परतन्त्र देशों में भी क्रान्तियां हुई। साथ ही विज्ञान ने भी अभूतपूर्व प्रगति की। विज्ञान की इस प्रगति ने जहां विश्व को अभूत-पूर्व आशा का सदेश दिया वहीं उसे महानाश के कगार पर लाकर भी खड़ा कर दिया। भारत के लिए भी यह सक्रान्ति-काल था जिस बीच वह अपनी स्वतंत्रता का संग्राम लड़ रहा था। विश्व और राष्ट्र का यही घटना संकुल काल दिनकर-काव्य की पृष्ठभूमि है। इनके काव्य में अर्न्तराष्ट्रीय और राष्ट्रीय दोनों विप्लवों ने स्वर पाये हैं। अतः इनके काव्य की राजनीतिक पृष्ठभूमि के अध्यनार्थ हमे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों परिस्थितियों का अध्ययन करना चाहिए।

(क) राष्ट्रगत राजनीतिक परिस्थितियां–चक्रवाल की भूमिका में स्वयं दिनकर ने अपने काव्य के प्रेरक स्रोतों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–'मेरी कविताओं के भीतर जो अनुभूतियां उतरी वे विशाल भारतीय जनता की अनुभूतियां थीं। जिसके अंक में बैठकर मैं रचना कर रहा था वह भारत वर्ष के पांच सहस्र वर्ष प्राचीन उस गौरवपूर्ण इतिहास की अनुभूतियां थी जो सौभाग्यवश हमारे काल में ही आकर फिर से जीना चाह रही थी। 'राम तुम्हारा चरित्र स्वयं ही काव्य है' यह उक्ति राम पर सोलह आने लागू हो या नहीं मेरे प्रसंग में वह भारतीय इतिहास और भारतीय जनता पर पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है।''[६५] प्रस्तुत अवतरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि की काव्य-रचना की पृष्ठभूमि बहुत ही महत्वपूर्ण थी। समय ने उससे लेखनी ग्रहण करवा कर युग-चित्र प्रस्तुत करवा लिया है। दिनकर-युग के पीड़ित भारत ने ही उनके काव्य की सृष्टि की है। स्वयं कवि का विश्वास है कि जन-भावना का अगर यह प्रेरणा स्रोत नहीं होता तो वे कवि नहीं बन सकते थे। उन्होने इस सत्य को सहर्ष स्वीकार भी किया है। उनकी धारणा है 'कि कवि होने की सामर्थ्य मुझमें शायद नहीं थी। यह क्षमता मुझमें भारतवर्ष

का ध्यान करने से जागृत हुई। यह शक्ति मुझमें भारतीय जनता को आत्मसात करने से स्फुरित हुई। मैं तो वायु और वह्नि से बना हुआ यंत्र मात्र था, फूंक उसमें काल ने मारी। और झंकार भी उसमें काल ने ही उठाई है।"[७६] अस्तु, दिनकर ने अपनी काव्य रचना के मूल में युग-चेतना के महत्व को साफ-साफ स्वीकार किया है। आशय यह कि दिनकर-काव्य-चेतना को समझने के लिए उस युग की राजनीतिक स्थिति का भी अवलोकन आवश्यक है।

दिनकर के समस्त काव्य-साहित्य ने कई विकास युगों को पार किया है। 'रेणुका' और 'हुंकार' के दिनकर 'सामधेनी' और 'कुरूक्षेत्र' के दिनकर से भिन्न स्थान रखते हैं। इसी प्रकार 'रसवन्ती' और 'उर्वशी' के दिनकर का 'परशुराम की प्रतीक्षा' के दिनकर से कोई मेल नहीं है। 'कोयला और कवित्व' तथा 'नील कुसुम' का कवि तो इन सब से पृथक स्थान का अधिकारी है। अतः उनकी काव्य-धाराओं का अध्ययन पृष्ठभूमि के इसी विकास क्रम में करना उचित होगा।

स्वतंत्रता से पूर्व की राष्ट्रीय परिस्थितियां—

(प्रथम विकास : रेणुका और हुंकार का काल)–दिनकर की प्रथम कविता सन १९२४ या २५ में छपी थी [७७] किन्तु उनके कवि-जीवन की ख्याति का श्रेय रेणुका को ही है [७८] यद्यपि इस मध्य 'प्रण भंग नामक' खण्ड-काव्य का प्रकाशन भी हो चुका था.। [७९] 'रेणुका' की कुछ कविताओं में ही उनके विद्रोही व्यक्तित्व का संकेत मिल चुका था जिसका विकास हुआ है 'हुंकार' में। अतः सर्व प्रथम इन्हीं ग्रन्थों की राजनीतिक पृष्ठभूमि का अध्ययन आवश्यक है।

'रेणुका' और 'हुंकार' का काल भारत का विप्लव-काल था। समस्त देश में क्रांति की आग प्रज्वलित हो रही थी। कांग्रेस में भी परम्परावादियों का विरोध चल रहा था। जवाहरलाल और सुभाषचन्द्रबोस जैसे युवक इस विद्रोह का नेतृत्व कर रहे थे। ब्रिटिश सरकार की दमन नीति के उपरान्त भी युवक अपनी स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये उत्साहित हो रहे थे। १९२७ में नव युवक समाज का संगठन किया गया। इस समाज ने पूर्ण स्वतंत्रता को अपना लक्ष्य घोषित किया। मजदूरों और किसानों के मताधिकारों की मांग की गई। इस समाज ने राष्ट्रीय आन्दोलन में पूर्ण बल दिया। देश के, विशेषकर उत्तरी भारत के नव युवक इस समाज के नेता जवाहर और सुभाष के पीछे सर्वस्व होम करने को तैयार हो गये।[८०] इसके अतिरिक्त देश में क्रान्तिकारी युवकों का एक अन्य शक्तिशाली दल भी कार्यरत था जिसका लक्ष्य शक्ति से देश को आजाद कर लेना था। भारत की राजनीति पर उस समय तक गांधीजी छाने लगे थे। रौलेट एक्ट, जलियांवाला बाग काण्ड और खिलाफत के प्रश्न ने सम्पूर्ण राष्ट्र को एक सूत्र में बांध लिया था। जलियांवाला बाग काण्ड से सम्पूर्ण देश में एक तूफान सा आ गया था। चारों ओर अपराधी शासकों को

दंड देने की मांग उठने लगी थी। जांच के लिए नियुक्त-हंटर कमेटी भी निष्पक्ष निर्णय नहीं दे सकी। फलतः भारतवासी असंतोष और क्षोभ की आग में जल उठे। इसकी प्रतिक्रिया में देश में कई जगह कई घटनायें घटीं। इसी समय गांधी ने अपना असहयोग आन्दोलन का नारा दिया। अभी तक वे विदेशी सरकार को सहयोग देकर देश को स्वराज्य की ओर ले जाना चाहते थे किन्तु अब वे सरकार के साथ सहयोग के लिए दृढ़ संकल्प हो गये।[८१] इसी समय खिलाफत के प्रश्न को लेकर भी भारतीय मुस्लिम जनता अंग्रेजों के प्रति विक्षुब्ध हो उठी। खिलाफत के प्रश्न को लेकर उनकी धार्मिक भावना को ठेस पहुंची थी। गांधीजी ने मुस्लिम जनता का नेतृत्व भी संभाल लिया।[८२] अली भाइयों के सहयोग से अब गांधीजी सम्पूर्ण देश का नेतृत्व करने लगे। १९२२ में देश बन्धु चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू ने स्वराज्य पार्टी की स्थापना की जो कांग्रेस के निकट ही पड़ती थी।[८३]

अब कांग्रेस का लक्ष्य औपनिवेशक स्वतंत्रता नहीं रह गया। कांग्रेस में एक निश्चित कार्यक्रम निर्धारित किया। राष्ट्रीय आन्दोलन का संचालन एक निश्चित कार्यक्रम में होने लगा। कांग्रेस ने ऐसे रचनात्मक कार्यों के संचालन के लिए एक करोड़ रुपये का एकत्रीकरण तथा बीस लाख घरों में चरखा चलाने का निश्चय किया।[८४]

जहां एक ओर गांधीजी के नेतृत्व में देश आजादी की लड़ाई लड़ता रहा, दूसरी ओर ब्रिटिश शासन का खुला अत्याचार होता रहा वहीं सम्पूर्ण देश में क्रान्ति कारियों के गुप्त दल का जाल सा फैल गया। शस्त्र के बल पर स्वतंत्रता अर्जन करने वाले आकांक्षी इन वीरों के साहस पूर्ण कृत्यों द्वारा देश के जन-जीवन में एक नवीन उत्साह आया। सं० १९२७ का महत्व इस इतिहास में विशेष है। सर्वदल सम्मेलन द्वारा संविधान बनाने के लिए 'नेहरू कमेटी' की नियुक्ति, मद्रास कांग्रेस के पूर्ण स्वतंत्रता पर विचार, भगतसिंह द्वारा केन्द्रीय असम्बेली में बम फेंकना आदि इस सन् के क्रान्तिकारी कार्य थे जिन्होंने भारतीय जीवन में एक नयी ज्योति जगा दी। अब विक्षोभ चरम सीमा को पार करने लगा। फलतः 'साइमन कमीशन' का गठन किया गया जिसमें भारतीयों को कोई भी स्थान नहीं मिला। अतः कांग्रेस एवं अन्य सभी दल इसके बहिष्कार के लिए कटिबद्ध हो गए।[८५] आन्दोलन आगे बढ़ता ही गया। १९३० में पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा कांग्रेस में हुई। उसी वर्ष नमक सत्याग्रह भी हुआ। सरकार ने इन सब को दबाने के लिए क्रूर दमन चक्र चलाया। लाठियां चलीं, गोलियां बरसाई गयीं, नेता जेल भेजे गये, निरीह जनता पर कई प्रकार के अत्याचार ढाये गए। करांची-कांग्रेस के समय ही भगतसिंह को फांसी हुई। गांधी-इरविन समझौता जिसका सुभाष और नेहरू हमेशा विरोध कर रहे थे, असफल हो गया। दमन चक्र और भी तेजी से चलाया गया। हर आन्दोलन का जबाब सरकार गोलियों और मशीनगनों से देने लगी। सभी तरह की राष्ट्रीय संस्थाओं पर प्रति-

बंध लगा दिया गया। उन संस्थाओं की सम्पत्ति भी जब्त कर ली गई। सामान्य जनता में भय व्याप्ति के लिए सेना और पुलिस तैयार करली गई। राजनीतिक बंदियों को बिना किसी फैसले के ही अंडमान भेज दिया गया। सारांश यह कि समस्त देश में आतंक फैलने का हर संभव प्रयास सरकार कर रही थी। इसी प्रलंयकारी परिस्थिति ने दिनकर के काव्य का मार्ग प्रशस्त किया है। 'रेणुका' से 'सामधेनी तक में देश की इसी भीषण स्थिति के प्रति दिनकर का आक्रोश भाव व्यक्त हुआ है।

'रेणुका' के कुछ गीत तो छायावादी प्रभाव से मंडित हैं किन्तु कुछ राष्ट्रीय गीत भी हैं जिनमें इतिहास को काव्य में ध्वनित करने का प्रयास किया गया है। वर्तमान की सतह पर कवि ने अतीत को उतारने का प्रयास किया है–

"प्रिय दर्शन इतिहास कंठ में, आज ध्वनित हो काव्य बने
वर्तमान की चित्र पटी पर, भूत काल संभाव्य बने।"[८६]

'रेणुका' युग में स्वदेशी आंदोलनों द्वारा साम्राज्यवाद हिलने लगा क्योंकि उसकी नींव शोषण पर आधारित थी। ब्रिटिश शासन ने इसके प्रतिकार के लिए भी दमन, त्रास और रक्तपात का सहारा लिया। 'रेणुका' की 'कस्मै देवाय' शीर्षक कविता में यही प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है–

"शुभ्र वसन वाणिज्य न्याय का आज रुधिर से लाल हुआ।
किरिच नोंक पर अवलंबित व्यापार जगत बेहाल हुआ।"[८७]

कवि के हृदय में क्रान्ति की आग सुलगने लगी थी। 'हुंकार' से आते-आते वह पूर्ण रूपेण प्रज्वलित हो उठी। कवि ने ब्रिटिश दमन नीति को खुलकर चुनौती दी।

"वर्तमान की जय अभीत हो खुलकर मन की पीर बजे।
एक राग मेरा भी रण में बंदी की जंजीर बजे॥
नई किरण की सखी बाँसुरी के छिद्रों में जूक उठे।
सांस-सांस पर खड्ग धार पर नाच हृदय की हूक उठे॥"[८८]

'हुंकार' की 'हाहाकार' कविता में युग का हाहाकार चित्रित हुआ है। 'अनल किरीट' में जन शक्ति को कवि ने अत्याचारियों से जूझने के लिये जगाया है।

कवि ने ईश्वर से भीख माँगी है जिसमें लहू की आग, मन का तूफान, शोणित के अश्रु आदि के लिए याचना की गयी है।[८९]

दिनकर स्वभाव से ही क्रांतिकारी युवकों के मनोभावों के कवि रहे हैं। वे गांधी की पूजा भी अंगारो से करने के पक्ष में हैं।[९०] सुभाष, जवाहर, जयप्रकाश के कतिपय क्रांतिकारी विचारों के साथ ही उनका मेल बैठता है। इसीलिए 'पराजितों की पूजा' और 'कल्पना की दिशा' शीर्षक कविताओं में कवि ने गांधी के आंदोलन' स्थगन को पराजय माना है। उन्हें लगा कि गांधी की नीति भारत की जवानी को, उसकी खिलती ज्वाला को मिट्टी में मिला रही है, गोरा बादल की मां और जौहर की रानी का तेज प्रशमित कर उनके साथ अन्याय कर रही है।[९१] कल्पना की दिशा में तो उन्होने गांधी-नीति की खुली आलोचना की है। जब बापू ने बन्दूक का जवाब तकली से देने का निश्चय किया तो कवि का विद्रोही हृदय उबल उठा और वह बरस पड़ा—

"उब गया हूं देख चतुर्दिक अपने
अजा धर्म का ग्लानि विहीन प्रवंतन
युग सत्तम सबुद्ध पुनः कहता है
ताप कलुष है शिखा बुझा दो मन की।

× × [illegible]

तुम कहते हो शिखा बुझा दो लेकिन
आग बुझी तो पौरुष क्या शेष रहेगा ?"[९२]

'हुंकार' में आद्योपांत कवि ने युग को वाणी दी है। कवि की 'हुंकार' वस्तुतः युग प्रसूत हुंकार है। अपनी इसी मान्यता को प्रतिपादित करते हुए कवि ने चक्रवाल की भूमिका में लिखा है—'राष्ट्रीयता मेरे व्यक्तित्व के भीतर से नहीं जन्मी उसने बाहर से आकर मुझे आक्रान्त किया। उस समय सारा देश उत्साह से उच्छल और दासता की पीड़ा से बेचैन था। अपने समय की धड़कन सुनने को जब भी मैं देश के हृदय से कान लगाता मेरे कान में किसी बम के धड़ाके की आवाज आती, फांसी पर झूलने वाले किसी नौजवान की निर्भीक पुकार आती अथवा मुझे दर्द भरी ऐंठन की यह आवाज सुनाई देती जो गांधी जी के हृदय में चल रही थी।'[९३] वस्तुतः कवि ने यहां जिस प्रेरणा-स्रोत की चर्चा की है वही 'रेणुका' और 'हुंकार' की पृष्ठभूमि है, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

द्वितीय विकास : (सामधेनी और कुरुक्षेत्र काल) कांग्रेस मन्त्रिमंडल की स्थापना के बाद देश के दो और दुश्मन निकल आए; श्री जिन्ना ने मुस्लिम लीग के स्वतन्त्र अस्तित्व की घोषणा कर दी। दूसरी ओर देशी नरेश अपने अस्तित्व को

बनाये रखने के लिए अंग्रेजों के सहायक बन गये। अब देश के नेताओं के समक्ष ये दो भीषण समस्यायें उपस्थित हो गई।

कांग्रेस में भी दो दल हो गये। सुभाष चन्द्र बोस ने हिंसात्मक क्रान्ति से स्वतंत्रता-प्राप्ति की राय दी।[९४] ठीक उसी तरह अखिल भारतीय समाजवादी सम्मेलन में श्री एम० आर० मसानी ने राष्ट्रीय मजदूर आन्दोलन को फिर से नया रूप देकर ब्रिटिश शासन के विरुद्ध लड़ने का सुझाव रखा।[९५] किन्तु, गांधी के अनुयायी राजाजी, पटेल, राजेन्द्रप्रसाद आदि लोग इसके लिए तैयार नहीं थे। वे शान्ति से ही सब कुछ निपटाना चाहते थे। गांधीवादी सत्याग्रही जहां यह ध्यान रखकर सत्याग्रह करते थे कि सरकार को किसी प्रकार की हानि न हो वहीं सरकार अपनी पूरी शक्ति से दमन-नीति को बढ़ावा देने लगी।

१९४२ ई० की क्रान्ति उस युग की एक अभूतपूर्व घटना थी। एक ओर रेल, डाक, तार आदि नष्ट किये जा रहे थे और दूसरी ओर सड़कें लाशों से पट रही थीं। सुरक्षा के पहरेदार सैनिक और पुलिस लुटेरे बन गये थे, हिंसक बन गये थे। इसी संदर्भ में बंगाल का अकाल भी उल्लेखनीय है जिसमें लगभग बीस लाख लोगों की मृत्यु हो गई।

सुभाष चन्द्र बोस द्वारा 'आजाद हिन्द सेना' का गठन भी एक महत्वपूर्ण घटना थी। २६ जून १९४५ को उन्होने रेडियो से घोषणा की "आजाद हिन्द सेना" कोई पराधीन और शक्ति हीन सेना नहीं है। उसके नायक धुरी राष्ट्रों की सहायता से भारत को अंग्रेजों की दासता से मुक्त करने की योजना बना रहे थे। अपनी योजना का औचित्य सिद्ध करने के लिए इन्होने इतिहास से पुष्ट प्रमाण दिए और गांधी नीति के अव्यवहारिक आदर्शवाद की आलोचना की।[९६] इस तरह समस्त राष्ट्र उस समय अनेक समस्याओं में फंसा हुआ था। देश में जितना ही दमन चक्र जोरों से चलाया जा रहा था उतना ही जनता जोश-खरोश से क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त कर रही थी। दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' और 'सामधेनी' की रचना की यही पृष्ठभूमि रही है। सामधेनी की "तिमिर में स्वर के बाले दीप आज फिर जलता है कोई" शीर्षक कविता में इस घोर संकट के लिए भी जन-हृदय से फूटने वाले ज्वालामुखी को चित्रित किया गया है।[९७] 'आग की भीख' में १९४२ के दमन से त्रस्त जनता का चित्र उपस्थित किया गया है[९८] और 'मंजिल दूर नहीं है' में जनता को कवि ने आशा का संदेश दिया है।[९९]

कवि आजाद हिन्द सेना के शौर्य और शक्ति से बड़ा ही प्रभावित है। 'सरहद के पार से'[१००] और 'फलेगी डालों में तलवार'[१०१] शीर्षक कविता में भी शौर्य और बलिदान को उभारा गया है। दिनकर आजाद हिन्द सेना के भारत-

आगमन की प्रतीक्षा में पलक पांवड़े बिछाये थे। उसके नायक सुभाष के स्वागत की भारी तैयारी उनके मन में भरी थी। कवि ने अपनी इसी आशा को व्यक्त करते हुए लिखा–

"देश के दरवाजे पर रोज खड़ी होती ऊषा ले थाल
कि तुम आओ किस रोज बजाते नूतन रुद्र विषाण
किरण के रथ पर हो आसीन, लिए मुट्ठी में स्वर्ण विहान।"[१०२]

१९४२ की क्रान्ति में साम्यवादियों ने साथ नहीं दिया। वे स्वतंत्रता के पूर्व साम्य के कामी थे। दिनकर ने साम्यवादियों के इस औचित्य को न केवल नकारा अपितु उन्हें दुत्कारा भी। रूस का अन्धानुकरण करके भारत के सम्मान और गौरव पर आघात करने वाले साम्यवादियों से उन्होंने कहा–

"दिल्ली के नीचे मर्दित अभिमान नहीं, केवल है
दबा हुआ शतलक्ष नरों का अन्न-वस्त्र धन-बल है।
दबी हुई इसके नीचे भारत की लाल भवानी
जो तोड़े यह दुर्ग, वही है समता का अभिमानी।"[१०३]

इतना ही नहीं कवि ने इन साम्यवादियों की नीति का पर्दाफ़ाश भी किया है–

"जहाँ मास्को के रण धीरों के गुण गाए जाते,
दिल्ली के रुधिराक्त-धीर को देख सकुचाते।"[१०४]

नोआखाली और बिहार के हिन्दू-मुस्लिम-दंगे से दिनकर बहुत प्रभावित हुए थे। उन्होने, हे मेरे स्वदेश' कविता इसी पृष्ठभूमि में लिखी है। उस समय सांप्रदायिकता की आग में सारा देश जल रहा था, आग को जलाने वाले भेड़िये ठठाकर हस रहे थे और मनु का बेटा चिल्ला रहा था। धर्मान्धता जन्य इस विकट पागलपन से भारत की भावी स्वतंत्रता के स्वप्न पंख झुलसने लगे थे। दिनकर का कवि-हृदय आहत हो जाता है। वे विलख उठते हैं–

लजते है हिन्दू-मुलममान, भारत की आंखें जलती है।
आने वाली आजादी की लो दोनो पाँखें जलती हैं॥
वे छुरे नहीं, चलते, छिदती, जाती स्वदेश की छाती है।
लाठी खाकर भारत माता, बेहोश हुई जाती है॥[१०५]

कहने का तात्पर्य यह कि दिनकर ने युग के प्रत्येक उत्थान-पतन को खुली आंखों से देखा है। वे किसी पूर्वाग्रह से पीड़ित नहीं हैं। यही कारण है कि राजनीतिक परिस्थितियां अपने सच्चे स्वरूप में दिनकर के काव्य में मुखर हो उठी है। १९४७ के पूर्व का सारा राजनीतिक विप्लव अपनी समग्रता के साथ "सामधेनी" के गीतों में प्रकट हुआ है।

"कुरुक्षेत्र" का प्रकाशन "सामधेनी" से पूर्व का ही है किन्तु 'कुरुक्षेत्र' में राष्ट्रीय परिस्थितियों की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो ने अधिक महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की है जिसका विवेचन आगे चल कर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के अन्तर्गत किया जायगा। यहाँ यही कहना उपयुक्त है कि 'कुरुक्षेत्र' में भी कवि ने राष्ट्रीय समस्या पर विचार किया है। डा० सत्यकाम वर्मा ने 'कुरुक्षेत्र' की पृष्ठ-भूमि पर विचार करते हुए लिखा है--'देश दशा और भविष्य के प्रति उन्मुक्त दृष्टि को लेकर जो कुछ वह देख सका है वह सब उसने 'कुरुक्षेत्र' में बन्द करदिया है।'[१०६] कुरुक्षेत्र-रचना का अन्त हुआ था प्रायः १९४५ में किन्तु प्रकाशन हुआ १९४६ में और देश स्वतन्त्र हुआ १९४७ में। आशय यह कि १९४१ से लेकर १९४६ तक की राष्ट्रीय घटनाओं को दिनकर ने इस काव्य में बांधने का प्रयास किया है। उस समय समस्त भारतीय क्षितिज कलह, द्वेष, ईर्ष्या, साम्प्रदायिकता जनित मार काट आदि मे आक्रान्त था। देश को इन सभी समस्याओं का सामना करना पड़ा और उनके समाधान का मार्ग ढूंढ़ने में व्यथित होना पड़ा जिनको कवि ने कुरुक्षेत्र में उठाया था। इन विकट परिस्थितियो में भीष्म ने जिस तरह युधिष्ठिर को सन्देश देकर उनका सारा मार्ग प्रशस्त किया है ठीक उसी तरह गांधी के सन्देश ने नेहरू के लिए मार्ग-दर्शन किया है। यही कारण है कि भदंत आनन्द कौशल्यायन ने 'कुरुक्षेत्र' को नये युग की नई गीता कहा है।[१०७] यह सच है कि गांधी और युधिष्ठिर की परिस्थितियां भिन्न थी। गाँधी युधिष्ठिर से अपेक्षाकृत दृढ़ निश्चयी भी कहे जा सकते हैं किन्तु भीष्म के चरित्र द्वारा कवि ने युधिष्ठिर की भी अपेक्षा नेहरू का पथ-प्रदर्शन अधिक कराया है।

देश स्वतन्त्रता प्राप्ति के निकट पहुँच चुका था। देश की सारी समस्यायें मुंह खोले खड़ी थी। एक नया प्रश्न देश के समक्ष था जिसका समाधान आवश्यक था। प्रश्न यह था कि भारत का भावी रूप कैसा हो? राजधर्म किधर मुड़े? उसका दायित्व शोषितों के प्रति क्या हो? कवि ने इन सभी प्रश्नों पर विचार किया और निर्णय दिया कि जब तक दलित वर्ग बना रहेगा राष्ट्रान्तर्गत या विश्वान्तर्गत युद्ध का परस्पर कार्य-कारण-सम्बन्ध बना रहेगा ही।[१०८] निष्कर्ष यह कि 'कुरुक्षेत्र' के सारे प्रश्न उसकी सारी समस्यायें समयुगीन राष्ट्रीय चेतना है। स्व० जयप्रकाश नारायण के शब्दों में-'उसकी पंक्तियों में वर्तमान-भारत की सचेत आत्मा की हुंकार भरती जान पड़ती है।'[१०९]

स्वाधीनता परवर्ती राजनीतिक परिस्थितियां और दिनकर की युग चेतना—स्वतन्त्रता के पश्चात दिनकर की प्रायः १६, १७ रचनायें प्रकाश में आयीं जिनमें बापू (१९४७), रश्मिरथी (१९५१), नीम के पत्ते (१९५४), नील कुसुम (१९५४) नये सुभाषित (१९५६), उर्वशी (१९६१), परशुराम की प्रतीक्षा (१९६२), कोयला और कवित्व (१९६४), आदि ऐसी रचनायें हैं जिनकी पृष्ठभूमि में राजनीतिक युग चेतना है। प्रस्तुत ग्रंथों की राजनीतिक पृष्ठभूमि का अध्ययन हम दो भागों में करेंगे—(अ) स्वाधीनता के बाद और चीनी आक्रमण से पूर्व की परिस्थितियां (आ) चीनी आक्रमण की समसामयिक और बाद की परिस्थितियां।

स्वातन्त्र्योपरान्त तथा चीनी आक्रमण से पूर्व की राजनीतिक परिस्थितियां और दिनकर की युग चेतना—१९५० में संविधान बना और देश ने जनतन्त्र का जीवन प्रारम्भ किया। देश की आजादी से कवि का हृदय बाँसों उछल रहा था। सदियों से च्युत जनता के लिये उन्होंने सिंहासन खाली करवाने का नारा दिया।[११०] इससे पूर्व ही १९४७ में स्वतंत्रता दिवस के स्वागत में 'अरूणोदय' शीर्षक कविता लिखी गयी थी।[१११] कवि को स्वाधीनता से पूर्व 'स्वतंत्र भारत की बड़ी-बड़ी कल्पनायें थी। उसकी आशा थी कि स्वाधीनता के बाद देश के वक्ष पर स्वर्ग उतर आयेगा, देश में सुख-शांति की सरिता प्रवाहित हो उठेगी। इसी हेतु कवि ने स्वतंत्रता के उपलक्ष्य में खुशी का गीत गाया है। किन्तु हुआ ठीक उल्टा। स्वतंत्रता का पहला साल बीत भी नहीं पाया कि कवि को अपनी मान्यताओं में परिवर्तन करने हेतु परिस्थितियों ने बाध्य कर दिया।

स्वतंत्रता की पहली वर्षगांठ पर कवि ने जो गीत गाया उसमें युग की राजनीतिक परिस्थितियां उभर आई। उन्होने निर्भीक शब्दों में घोषणा की कि इस आजादी से कुछ भी नहीं मिला। मिली केवल गुलामी की नकल।[११२] अनुशासन ने तो वर्ष भर के अन्दर ही अपनी चिता सजा ली। सामान्य जनता की क्या बात विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में भी अनुशासन के पग लड़खड़ाने लगे। चारों ओर अनावश्यक हड़ताल होना प्रारम्भ हो गयी।[११३] बात इतनी ही नहीं और भी आगे बढ़ी। चोर-बाजारी ने अपना साम्राज्य बना लिया। लूट खसोट का बाजार गर्म हो गया। फलतः कवि ने जनता को सलाह दी कि अब आजादी की अपेक्षा इन छल छदमों की वर्षगांठ मनाई जानी चाहिये।[११४] इन छल छदमों को रोके तो कौन ? नेताओं के प्रति भी आस्था नहीं रही। साधु सरीखे ये नेता गण भी डुबकियां लेकर पानी पीने लगे।[११५] उनकी टोपी रुपये लेने की थैली बन गई और कुर्त्ता बोरिया, अतः कवि उन नेताओं का नाम लेने से भी ममा करने लगा।[११६] आजादी की इस प्रथम वर्ष गांठ के अवसर पर कश्मीर और हैदराबाद की धधकती ज्वालाओं ने भी कवि को कम परेशान नहीं किया।[११७] कवि सोचता है कि क्या इसलिये आजादी आई थी ? क्या देश को यही सब देखना था ? और

तब कवि निष्कर्ष निकालता है कि जब इस मंहगी आजादी की प्रथम वर्षगांठ से पूर्व ही इस आजादी ने राष्ट्रपिता बापू को निगल लिया तो यहां सब कुछ संभव हो सकता है। स्वतन्त्रता लाने वाले बापू को उन्हीं के स्वतन्त्र भारत ने मिटा दिया।[११८] तो इससे बड़ी दुखद घटना और क्या हो सकती थी ? अतः कवि बापू की होने वाली बरसी मनाना चाहता है, स्वतन्त्रता की वर्षगांठ नहीं।

इस तरह एक ओर तो हम तत्कालीन स्थितियों से क्षुब्ध दिनकर को पाते हैं और दूसरी ओर शान्ति और मानवता के कामी दिनकर के काव्य से परिचित होते हैं जो कहीं शान्ति तथा सहअस्तित्व[११९] का राग अलाप रहा है तो कहीं भूदान यज्ञ का।[१२०] अस्तु अगर १९६२ से पूर्व की उनकी रचनाओं पर दृष्टिपात करते हैं तो तत्कालीन राजनीतिक चेतना के प्रति कवि को हम सतत जागरूक पाते हैं। यह सच है कि राजनीति में रहकर भी दिनकर राजनीति के गुलाम नहीं हुये हैं। किन्तु, साथ ही यह भी सच है कि राजनीतिक स्थितियों ने जिस सबलता से इनके काव्य-जगत की सृष्टि में महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की है उसका दूसरा उदाहरण हिन्दी काव्य संसार में विरला ही मिलता है। अगर राजनीति उन पर थोपी भी गई है[१२१] तो उस चेतना को वाणी देने में दिनकर पूर्ण सफल हुये हैं।

चीनी आक्रमण के समय और तत्पश्चात् की परिस्थितियां और दिनकर के काव्य की युग चेतना—युग-कवि का साहित्य युग-दर्पण होता है। युग-परिवर्तन के साथ उसकी सारी मान्यतायें बदलती चलती हैं। आजादी के पश्चात् राष्ट्रीय निर्माण के शांतिमय क्षणों में कवि को जिस शान्ति, सहअस्तित्व, अहिंसा आदि ने प्रेरित किया था और कवि उनके प्रशंसक भी होने लगे थे, चीनी आक्रमण ने इन सारी मान्यताओं को ध्वस्त कर दिया। कवि अब एक बार पुनः 'हुंकार' के धरातल पर लौट जाने के लिये विवश है। उन्होंने गांधी की रक्षा के निमित्त अब गांधी से ही भागना उचित समझा।[१२२] सारी शान्ति और अहिंसावादी नीति पर उनका आक्रोश बरस पड़ा। 'हुंकार' का कवि इस बार और तेज तथा प्रतिभा लेकर प्रकट हुआ। यद्यपि स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् से ही दिनकर को राष्ट्रीय नीतियां कचोटने लगी थी। 'समर शेष है' में कवि ने देश में व्याप्त आलस्य और आदर्श नारों के खोखलेपन का पर्दाफाश किया है।[१२३] यह कविता सं० १९५३ में रची गयी थी। 'एक बार फिर स्वर दो' तक आते-आते कवि के सारे स्वप्न समाप्त हो गये। कवि ने समाज और राजनीति का विश्लेषण किया और वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि अब शीघ्र ही किसी क्रान्ति का आगमन होने वाला है।[१२४] 'तब भी आता हूं मैं' शीर्षक कविता में भी ऐसा ही भाव व्यक्त हुआ है।[१२५] तात्पर्य यह है कि 'परशुराम की प्रतीक्षा' की भूमिका कवि हृदय में पहले से बन रही थी। उसी समय अचानक चीनी आक्रमण आ और कवि को पुनः क्रान्ति-दूत बनकर प्रकट होना पड़ा। 'हुंकार' का कवि

'विपथगा' के स्वर में पुनः जगा। जो कवि स्वयं भी काव्य जगत का परशुराम है उसे राष्ट्र की इस भीषण स्थिति में परशुराम की प्रतीक्षा क्यों न होती ?

'परशुराम की प्रतीक्षा' में दिनकर एक बार पुनः यथार्थ के धरातल पर लौटे। उन्होंने देश की इस दयनीय स्थिति के लिए उत्तरादायी केवल नेताओं और पूंजीपतियों को ही नहीं ठहराया है, अपितु अशक्ति, आलस्य, उपेक्षा, चिंतन हीनता आदि में रहकर अपने पतन और राष्ट्र का विनाश करने वाली जनता को भी दोषी बताया है। वह समाज में किसी को भी अनघ मानने को तैयार नहीं है। कवि उनको भी पापी कहता है जो देश-रक्षा का सारा भार सैनिकों के कन्धों पर सौंप कर स्वयं निश्चिंत हो जाते हैं–

"अपनी रक्षा के निमित्त औरों को रण में
कटवाना है पाप, पाप है यह विचार भी
जगें युवक सीमा पर हम सोने जाते हैं।"[१२६]

'परशुराम' की प्रतीक्षा' में कवि ने तत्कालीन शान्तिवादियों की नीति की भी खुलकर आलोचना की है। कवि के विचार में शान्ति का यह अर्थ नहीं कि देश के प्यारे युवक कटते जांय और तब भी हम शान्ति की रट लगाते रहें। कवि ऐसे शान्ति वादियों से पूछता है–

"माताओं को शोक, युवतियों को विषाद है,
बेकसूर बच्चे अनाथ होकर रोते हैं।
शान्तिवादियों ! यही तुम्हारा शान्तिवाद है ?"[१२७]

अस्तु, 'परशुराम की प्रतीक्षा' युग-पुकार की सच्ची और यथार्थवादी रचना है जिसमें तत्कालीन तमाम राष्ट्रीय नीतियों की असफलता का विवेचन हुआ है। भारतीय राजनीति के क्षेत्र में दैन्य, नपुंसकता, कातरता आदि को देखकर कवि का यौवन पुनः जाग पड़ा है। उसने राष्ट्र के लिए नई नीति चाही है, नया नेतृत्व चाहा है और चाहा है राष्ट्र का निर्माण, जहां प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन आवे। इसी परिवर्तन को लाने हेतु कवि ने परशुराम का आवाहन किया है। निष्कर्ष यह कि 'परशुराम की प्रतीक्षा' की पीठिका भी देश की राजनीतिक परिस्थितियाँ ही हैं जिन्होंने कवि को पुनः सिंहनाद कर सोयी हुई भारतीय जनता को जगाने के लिए विवश कर दिया।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि दिनकर की कविता पर सम-सामयिक राजनीतिक परिस्थितियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। स्वाधीनता-प्राप्ति से लेकर चीनी आक्रमण तक की राजनीतिक परिस्थितियों से वे सतत प्रेरित होते रहे हैं।

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां-प्रथम विश्व-युद्ध और दिनकर—यद्यपि दिनकर का प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषिका से साक्षात परिचय नहीं था किन्तु युद्धोंतर परिस्थितियों ने उन पर प्रभाव डाला है। इस महायुद्ध के पश्चात् भावी महायुद्ध की आशंका से विश्व की समस्त शक्तियां अभिनव अस्त्र-शस्त्र की खोज में व्यस्त रहने लगी थी। इसके मुख्यत: दो कारण थे—आर्थिक और राजनीतिक श्रेष्ठता प्रमाणित करना और जातीय विद्वेष की भावना। इन्हीं दोनों तत्वों ने युद्ध की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। दिनकर के 'हुंकार' की पृष्ठभूमि में इसी भावी विनाश की छाया में, गतिशील जन जीवन का चित्र प्राप्त होता है। जातीय विद्वेष से अभिभूत इटली ने अबीसीनियां पर हमला कर दिया, विश्व में समाज और प्रजातंत्र की आत्मा इस क्रूर आक्रमण से चीत्कार कर उठी। 'हुंकार' के कवि ने इसी परिस्थिति से क्षुब्ध होकर 'मेघरन्ध्र में बजी रागिनी'[१२८] शीर्षक कविता लिखी। हिटलर के जातीय विद्वेष का यह अनाचार चरम सीमा पर पहुंच गया था। कवि को विश्वास हो गया कि यह आक्रमण भावी युद्ध का ही सूचक है क्योंकि इस आक्रमण से सारा ससार हिल उठा।[१२९] साथ ही दिनकर ने यह भी अनुभव किया कि नाजियों की महत्वाकांक्षा की अग्नि में विश्व झुलसने लगा है। किन्तु कवि इतना सब होने पर भी निराश नहीं होता। 'भविष्य की आहट' शीर्षक कविता में कवि क्रमश: शिथिलता की ओर जाने वाले साम्राज्यवाद और उससे आक्रान्त जनता के जागरण को देखता है।[१३०] अब उनकी राष्ट्रीयता की परिधि बढ़कर पद दलित एशिया की जनता के मनोभावों को प्रतिनिधित्व देती है और वह विराट एशिया के जागरण का स्वर मुखरित करता है—

"अखंड पाद चाप ने सचेत शैल को किया
चिंघार सिंहनी उठी, जगा विराट" एशिया।

× × ×

चूमता बढ़ बढ़ हिमालय व्योम को
हिन्द सागर है निनादित शोर से
सिंधु से दजलामिली भागीरथी
फूलती या प्रेम योलो ओर से।[१३१]

अस्तु, द्वितीय महायुद्ध तक आते-आते दिनकर की अर्न्त-दृष्टि राष्ट्रीयता की सीमा से बढ़कर सम्पूर्ण एशिया का प्रतिनिधित्व करने लगी। अब कवि क्रमश: मानवतावाद और विश्ववाद की ओर बढ़ने लगा। उसने अनुभव किया कि समस्त एशिया के पद-दलित राष्ट्रों को एक सूत्र में बंध जाना आवश्यक है।

द्वितीय विश्व-युद्ध और दिनकर की काव्य चेतना—द्वितीय महायुद्ध के भीषण परिणाम कवि ने खुली आंखों से देखे थे। इस विश्व-युद्ध ने प्रमाणित कर

दिया कि अब समस्त विश्व एक है। मानव मात्र की समस्यायें एक हैं। कोई भी देश अब स्वयं में नहीं जी सकता। इस विज्ञानवादी युग में अब युद्ध की आग समस्त विश्व को भी ले डूबेगी। दिनकर ने युद्ध के इन्ही दुष्परिणामों की पृष्ठभूमि में 'कुरूक्षेत्र की रचना की है। इसमें युद्ध के मूल कारण खोजे गए हैं। उनका विश्लेषण किया गया है और अंत में निदान हेतु—"मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु"[१३२] की कामना व्यक्त की गयी है। कवि को इस बात का विश्वास हो गया है कि मानवता की सुख-शान्ति के निमित्त अन्तर्राष्ट्रीय स्नेह-बन्धनो की आवश्यकता है अतः आवश्यक है कि अब राष्ट्रीयता की सकीर्णसीमा को त्यागा जाय अन्यथा राष्ट्रीयता की यह संकीर्णता विश्व को सतत युद्ध की ओर बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित करती रहेगी। जिस प्रकार एक भैंस दूसरी भैंस को अपने खूंटे से बाहर खदेड़ देती है, उसे दूसरी भैंस कदापि प्रिय नहीं, उसी प्रकार राष्ट्रीयता की संकीर्णता दूसरे राष्ट्र का विकास देखना पसन्द नहीं करती और फिर युद्ध का सृजन हो जाता है।[१३३] कवि का यह विश्वास है कि विश्व-बंधुत्व का सबसे बड़ा बाधक तत्व राष्ट्रीयता ही है। राष्ट्रीयता के उपयोगी भाव को कवि निरी पशुता की संज्ञा प्रदान करता है—

"और आपको विदित नहीं क्या राष्ट्रवाद कैसे,
विश्व मनुज को जन्म ग्रहण करने से रोक रहा है ?
कारण ! राष्ट्रवाद उपयोगी भाव निरी पशुता है,
विश्व पुरुष पाशविक धरातल पर कैसे जनमेगा।"[१३४]

१९३५ के पश्चात की कविताओं में समस्त अन्तर्राष्ट्रीय हलचलों की यही निष्कर्ष मूलक परिणति मिलती है। राष्ट्रीयता की रक्षा तब तक की गयी है जब तक स्वतंत्रता की समस्या समक्ष थी। यद्यपि उन्होंने राष्ट्रीयता की उपेक्षा कहीं भी नही की है। हां, बाद की कविताओं में उदात्त अन्तर्राष्ट्रीयता को वे अपेक्षाकृत अधिक महत्व देने लगे। १९५३ में तो उन्होंने राष्ट्र देवता का विसर्जन ही कर दिया।[१३५] उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि—जब तक वे कतिपय प्रश्नों के उत्तर नहीं प्राप्त कर लेगे राष्ट्र-देवता की सत्ता नहीं मानेंगे—

"शंकाओं की यह आग नहीं क्या बुझ पायेगी ?
देशों की दीवार तोड़ तुम जी न सकोगे,
फैल रहा है जहर तुम्हारा जो धरती पर
राष्ट्र देवता उसे पुनः तुम पी न सकोगे।"[१३६]

दिनकर-काव्य के संदर्भ में इन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के अध्ययन के पश्चात यही निष्कर्ष निकलता है कि वे विश्व युद्धों की विभीषिका से संतप्त होकर राष्ट्रीयता की संकीर्णता का अनुभव करने लगे थे। विश्ववाद और मानवतावाद की

संस्थापना से वे ऐसे युद्धों को रोकना चाहते थे। राष्ट्र-देवता का विसर्जन भी इसी लिए किया गया था। किन्तु, उनकी प्रवृत्ति उनके काव्य में स्थायी रूप न ले सकी। परिस्थिति बदली और प्रवृति में भी परिवर्तन आया क्योंकि युग-कवि को युगवाणी का निनाद करना होता है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में 'हुंकार' के कवि का पुनः पहले से भी अधिक सशक्त रूप में प्रकट होकर राष्ट्रीयता की सतह पर उद्घोष करने का यही रहस्य है।

(२) **दिनकर के काव्य की सामाजिक एवं आर्थिक पृष्ठभूमि**—जिस युग से कवि गुजरता है उस युग का समाज उसकी दृष्टि में हमेशा विद्यमान होता है। सामाजिक प्रत्येक स्थिति से वह प्रेरणा ग्रहण करता चलता है। विशुद्ध 'कला-कला के लिए' को महत्व देने वाले कवि की कविता में भी समाज का स्वरूप पूर्णरूपेण उपेक्षित नहीं हो पाता है। युग कवि दिनकर जैसा जन प्रतिनिधित्व करने वाला कवि जो समाज को वाणी देने वाली सरस्वती लेकर ही अवतरित हुआ है, उसके काव्य में सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का प्रभावी होना स्वाभाविक है, क्योंकि भारतीय समाज की समस्त विशेषताओं और उसके परम्परित गुणावगुणो का उन्हें स्वयं अनुभव है। देश की दयनीय आर्थिक स्थिति को भी उन्होंने खुली आँखों से देखा है। फिर इनके सामाजिक चित्र अगर सजीव उतर आये हैं तो आश्चर्य क्या ?

सामाजिक परिस्थितियों से कवि दो रूपों में प्रभावित होता है। कभी-कभी सामाजिक रीति-रिवाजों को लेकर भी कवि रचना करता है क्योंकि उन रीति-रिवाजो से क्रियात्मक तथा प्रतिक्रियात्मक रूप में वह प्रभाव ग्रहण करता है। दूसरे शब्दों में लोक-व्यवहारों का विश्लेषक और चित्रक, कवि भी सामाजिक वातावरणों का चितेरा कहा जाता है। दूसरे कवि समाज-निर्माण की मुख्य पीठिका अर्थ व्यवस्था को आधार मानकर भी रचना करता है। समाज की आर्थिक स्थिति के दोनों पक्षों-सुख और दुःख से प्रभाव ग्रहण कर कवि युगीन वातावरण का बिम्ब प्रस्तुत करता है। दिनकर के काव्य में ये दोनों ही बातें सम रूपेण विद्यमान हैं।

जाति और वंशगत रूढ़ियों के प्रति दृष्टिकोण—दिनकर-युग की सामाजिक स्थिति बड़ी ही दयनीय रही है। छायावाद के पूर्व से ही या यों कहिये कि भारतेन्दु या द्विवेदी-युग से ही कवियों ने दीनों दलितों के प्रति सहानुभूति परक स्वर व्यक्त किये हैं। छायावाद और प्रगतिवाद-काल में भी यह प्रवृति रही है। किन्तु इसे हम कोरा आदर्श कहेंगे। वस्तुतः स्वातंत्र्योत्तर युग में भी भारतीय समाज की स्थिति नहीं बदली अपितु दिनानुदिन वह बिगड़ती ही गयी। दीनों-दलितों को समाज ने उपेक्षित रक्खा है। निष्कर्ष यह कि दिनकर-काव्य के उत्तरार्द्ध काल में भी भारतीय समाज की दु.स्थिति तद्वत बनी ही रह गई। बड़े-बड़े और छोटे-छोटे बनते गये। समाज का दीन-दलित वर्ग उत्तरोतर उपेक्षित ही होता चला गया। मनुष्य का वैयक्तिक पौरुष

गौण हो गया। जन्म ही महानता की कसौटी बन गई। निम्न कुल संभूत श्रेष्ठतम गुणों का अधिकारी रहकर भी श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। किन्तु युग की सहनशीलता की भी एक सीमा होती है। उपरोक्त मान्यता का युग ने विद्रोह किया। लोगों ने अनुभव किया कि पुरुषों का पौरुष प्रधान होता है, वंश नहीं। दिनकर की 'रश्मिरथी' की रचना इसी पृष्ठभूमि पर हुई है। कवि ने अपने इस सामाजिक काव्य-ग्रंथ की भूमिका में स्वयं लिखा है "मुझे इस बात का सन्तोष है कि अपने अध्ययन और मनन से मैं कर्ण के चरित्र को जैसा समझ सका हू वह इस काव्य में ठीक से उतर आया है और उसके वर्णन के बहाने मैं अपने समय के विषय में जो कुछ कहना चाहता था उसके अवसर भी मुझे यथा स्थान मिल गये हैं।"[१३७] अपने समय की सामाजिक स्थितियों पर प्रकाश डालते हुए स्वय कवि ने लिखा है—"कर्ण चरित के उद्धार की चिंता इस बात का प्रमाण है कि हमारे समाज में मानवीय गुणों की पहचान बढ़ने वाली है, कुल और जाति का अहंकार विदा हो रहा है।"[१३८] प्रस्तुत उद्धरण स्वयं प्रमाणित करता है कि कवि के इस ग्रंथ की पृष्ठभूमि में समाज की ह्रासोन्मुखी स्थिति ही रही है। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'यशोधरा' और 'साकेत' में उपेक्षिता नारी के प्रति सहानुभूति प्रकट की है। दिनकर ने भी वंशगत उच्चता और नीचता के प्रति अपना स्वर ऊंचा किया है। उनके काव्य-नायक ने स्वय स्पष्ट शब्दो मे कहा है—

"मैं उनका आदर्श कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे।
पूछेगा जग किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे।
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा
मन में लिये उमंग जिन्हें चिरकाल कल्पना होगा।"[१३९]

कर्ण की इस घोषणा मे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने सामाजिक कुरीतियों और जीवन में फैले हुए चतुर्दिक वैषम्य को समाप्त करने के लक्ष्य से ही उस ग्रंथ की रचना की है और अपने युगीन समाज को वाणी दी है। 'रश्मिरथी' में महानता की पुरानी कसौटी और वंश परम्परा का आदर्श चरमरा कर टूट गया है तथा सद्गुणों की श्रेष्ठता का आधार स्वीकार किया गया है जो सच्चे अर्थों में युग-चेतना का प्रतीक है।

नारी के प्रति दृष्टिकोण—दिनकर का युग विभिन्न सभ्यताओ के समन्वय का युग है। भारत पर विदेशी सभ्यता का प्रभाव कुछ इस तरह से पड़ा है कि भारतीय समाज जहां एक ओर अपनी संस्कृति से बहुत दूर हट कर खड़ा हो गया है वहीं दूसरी ओर वह विदेशी संस्कृति को भी पूर्णतः नहीं अपना सका है। अनुकरण करने की कला में निपुण समाज आज विकृति का समाज बन गया है। 'नग्नता'[१४०] शीर्षक कविता में कवि ने समाज की इसी विकृति पर व्यंग्य किया है। सभ्यता के प्रारंभ में

ही नारी के शील, संकोच और लज्जा से प्रेरित होकर बल्कल का अनुसंधान हुआ था। किन्तु आज वस्त्र ही नग्नता-प्रदर्शन के साधन बन गये हैं। समाजगत इस कटु यथार्थ को कवि ने बड़े ही निर्भीक शब्दों में प्रस्तुत किया है। ठीक इसी तरह 'रसवंती' में आधुनिकता का कवि ने जो चित्रण किया है वह भी नारी के प्रति उनके दृष्टिकोण का परिचायक है।[१४१]

जहां एक ओर दिनकर ने आधुनिका का चित्रण किया है वहीं ग्राम्य बालाओं का भी चित्र खींचा है। ग्रामीण नारी का चित्रण करते समय दिनकर ने उसके अबला रूप को ही अधिक उभारा है। आधुनिका को दिनकर ने नारीत्व के गुणों की याद दिलाई है, उसके खंडित होने वाले शील का स्मरण कराया है। साथ ही ग्रामीणा में उन्होंने उस शक्ति को जाग्रत करने की कामना की है जिससे अपनी रक्षा वह स्वयं कर सके।[१४२]

समाज की अन्य समस्याओं के प्रति जागरुकता – 'नील कुसुम' की कुछ रचनाओं में भी व्यक्ति का निजत्व गौण और सामाजिक तत्त्व प्रधान हो गया है। 'गायक, 'नर्तकी', कवि की मृत्यु' कवि और समाज' आदि इसी कोटि की रचनायें हैं। 'गायक' के गायन के मूल में कवि ने वेदना के दर्शन किये हैं।[१४३] इसी प्रकार 'नर्तकी' में कलाकार का सामाजिक व्यक्तित्व ही अधिक उभरा है। कला की उपासना में डूबी हुई नर्तकी समाज में उपहास का पात्र बनती है। वह उन्हीं के समक्ष नृत्य करती है जो उसे सुयश की भिखारिणी समझते हैं।[१४४] 'नील कुसुम' की इस कविता पर टिप्पणी करते हुये डा० सावित्री सिन्हा ने कहा है—'नर्तकी की साधना का पीयूष घट उनकी आंखों में छिपा रहता है, अगोचर वाणी को अपनी कला के पंखों में समेटती हुई नर्तकी की कठिन साधना को न समझ कर वे केवल उसकी कटि ग्रीवा और नयन की बाह्य गतिविधियों से उलझ कर रह जाते हैं। योगी और तपस्वी की सी साधना करने पर भी उसे कोई महत्व नहीं दिया जाता।[१४५] वस्तुतः कला की अमर उपासिका नर्तकी का यही स्थान रह भी गया है। उसे अनुरंजन की चलती फिरती सामग्री समझ लिया गया है। 'कवि और समाज' शीर्षक कविता में भी समाज अपने यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित हो उठा है। इस कविता का कवि कारूण्य के स्थान पर पौरुष का गान करता है। वह गगन विहारिणी कल्पना में विचरण नहीं करता अपितु जीवन के दाह, शम्पाओं के गर्जन आदि को अपने विद्रोही व्यक्तित्व में मूर्त करता है। वह पृथ्वी की पीड़ा मानव की बेकली' व्यथा, वेदना स्वदेश प्रेम आदि का गान करता है। वह मखमल भोगियों की मखलली सेज पर अनल की अनवरत वर्षा करने की शपथ लेता है। प्रस्तुत गीत में परिवर्तित भारतीय समाज की भावना का ही यथार्थ अंकन हुआ है। निष्कर्ष यह कि प्रबन्ध की क्या बात दिनकर के गीतों में भी समाज के बिम्ब उभर उठे हैं।

आर्थिक पृष्ठभूमि—दिनकर ने सामाजिक अर्थ व्यवस्था से सर्वाधिक प्रभाव ग्रहण किया है। वे प्रारम्भ से आज तक अपने काव्य में क्रान्ति के आकांक्षी कवि हैं। लकीर के फकीर बने रहने में उनकी रंचमात्र भी आस्था नहीं है। फिर सत्कवि तो अपने पथ का निर्माता स्वयं होता है। 'लीक छांडि ती नहि चले शायर शेर सपूत" के सत्य को चरितार्थ करते हुये कवि दिनकर ने सर्वत्र क्रान्ति चाही है। अर्थ की व्यवस्था सामाजिक स्थिति की मूल व्यवस्था है। अतः जब आर्थिक शोषण का चक्र इतनी द्रुतगति से चलता हो कि बच्चे अन्न-वस्त्र के अभाव में तड़पते हो और महलों में विलास की क्रीड़ायें चलती हों तो सामाजिक सतह पर क्रान्ति की लहर फूट पड़ना अवश्यंभावी है।[१४६] 'दिगम्बरी' में विभा के बाण वाले जागरण काल के युवक क्रांति की प्रतीक्षा करते हैं क्योंकि समाज गत परिस्थितियों ने उन्हें क्रान्ति की प्रतीक्षा करने के लिये बाध्य कर दिया है। एक ओर तो देश के असहाय बच्चे दूध के अभाव में बिलख रहे हैं—युवती के 'लज्जा वसन' बेचकर ब्याज चुकाये[१४७] जा रहे हैं–भूख से व्याकुल दुध मुंहे बच्चे मां के सूखे स्तनों को चूस-चूस कर जब कुछ नहीं पाते तो 'आंसू पीकर रह जाते हैं।' वह असहाय मां क्या करे ? अगर उसकी छाती भी फट जाय तो वह अपना रक्त पिलाकर भी बच्चे की क्षुधाग्नि शान्त करे, परन्तु यह भी सम्भव नहीं है[१४८] और, समाज का एक दूसरा वर्ग दूध से अपने स्वानों को स्नान करवाता है।[१४९] महलों में सुख पूर्वक आनन्द क्रीड़ायें करता है। समाज की इन विषम परिस्थितियों में युग-कवि ने जिस क्रान्ति का आवाहन किया था वह क्रान्ति आई पर दिनकर का सपना साकार न हो सका। जिन नेताओ ने इस आर्थिक वैषम्य को मिटाने के लिये बड़ी:बड़ी प्रतिज्ञाये की थीं, वे स्वार्थी हो गये। उनकी टोपी ने रुपये इकट्ठे करने की थैली और कुरते ने बोरियों का रूप धारण कर लिया।[१५०] न पूंजीवादी व्यवस्था ही शिथिल हुई और न शोषण ही रुका। गरीब और गरीब हो गया अमीर और अमीर। उन तथाकथित त्यागियों द्वारा रुपये की जो लूट हुई उससे कवि-हृदय को बड़ी चोट आई। उन्होंने न केवल अपनी 'वैभव की दीवानी दिल्ली' को धिक्कारा अपितु पूंजीवाद के इस महल को बरबाद कर नींव के अन्दर दबते कराहते हुये लोगों को बचा :लेने के लिये आर्तपुकार भी की। कवि ने चिल्लाते हुये आवाज दी—

'तोड़ दो इसको महल को पस्त और बरबाद
कर दो नींव की इंटे हटाओ
दब गये हैं जो अभी तक जी रहे हैं–
जीवितों को इस महल के बोझ से आजाद कर दो।[१५१]

दिनकर को विश्वास है कि वर्तमान शोषण व्यवस्था की ये दीवारे एक दिन जरुर टूटेंगी और 'नीव के हाहाकार' में पूंजीवाद डूब जायेगा।[१५२] पूंजीपतियों

की सम्पत्ति ओस की बूंदों की तरह ढल जायेगी और शोषित वर्ग उसे प्राप्त कर लेगा।[१५३] इसी हेतु विपत्ति में पड़े हुए राष्ट्र के उद्धार के लिये कवि उन धन पिशाचों से आग्रह करता है कि इस अवसर पर अपना धन देकर तो कम से कम वे सुयश के भागी बने। अगर वे अभी भी नहीं चेते तो जो तूफान आने वाला है उससे उनकी रक्षा हो पाना पूर्ण असंभव है—

'पूछो कुबेर से कब सुवर्ण वो देंगे ?
यदि आज नहीं तो सुयश और कब लेंगे ?
तूफान उठेगा, प्रलय बाण छूटेगा
है जहाँ स्वर्ण, बम वहीं स्यात फूटेगा।[१५४]

अस्तु 'रेणुका' से लेकर 'परशुराम की प्रतीक्षा' तक हम कवि को इसी सामाजिक आर्थिक परिस्थिति से प्रभावित पाते हैं। कवि जब राष्ट्रीय परिधि से निकल कर अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर भी विचार करने बैठता है तो उसे वहां भी यही आर्थिक विषमता मूल कारण के रूप में मिलती है जिसने समस्त संसार को युद्ध के कगार पर ला खड़ा किया है। पूंजीवाद जहां एक ओर वर्ग वैषम्य, शोषण, भुखमरी, बेकारी, जातिवाद आदि को बढ़ावा देता है वहीं विज्ञान का उपयोग भी अपना उत्पादन बढ़ाने और विध्वंशक अस्त्र-शस्त्र के निर्माण में करता है। फलतः विश्व में संघर्ष अवश्यंभावी हो जाता है।[१५५] 'कुरुक्षेत्र' की रचना की भूमिका भी यही है। निष्कर्ष यह है कि दिनकर के समस्त काव्य-साहित्य में आर्थिक समस्याओं से पीड़ित समाज का चित्रण है उन्होंने इस समस्या का निदान खोजा है और स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि जब तक विश्व में सबको समान आर्थिक अधिकार प्राप्त नहीं हो जायगा तब तक शान्ति की स्थापना असम्भव है।[१५६] अर्थ व्यवस्था के प्रति कवि का यह दृष्टिकोण समाजवादी है, राष्ट्रीय समाजवादी।

(३) **दिनकर के काव्य की साहित्यिक पृष्ठभूमि**—दिनकर ने अनेक काव्य-पीढ़ियों में रहकर रचनायें की हैं। छायावाद से प्रारम्भ होकर प्रगतिवाद से होती हुई प्रयोगवाद एवं नयी कविता तक की यात्रा उनकी काव्य-साधना ने की है। अतएव, हमारे लिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम इस बात पर ध्यान दें कि दिनकर, युगीन, काव्यचेतनाओं से कहां तक प्रभावित रहे हैं।

(४) **दिनकर के काव्य की छायावादी पृष्ठभूमि**—दिनकर का काव्य जीवन छायावाद के प्रांगण से प्रारंभ होता है। छायावाद की कल्पना वर्तमान से दूर भूत और भविष्य में निमग्न रहकर आध्यात्मिक आनन्द की खोज में लीन थी।[१५७] अपनी प्रवृतिगत विशेषताओं में दिनकर भी अतीत से प्रभावित थे क्योंकि वर्तमान की निराशा में स्वर्णिम अतीत ही आशाप्रद हो सकता था। किन्तु इस साम्य के

उपरान्त भी वे छायावादी नही बन सके क्योंकि छायावादी कुहेलिका में जन-जीवन का भविष्य अन्धकारमय प्रतीत हो रहा था। कल्पना के मनोरम उद्यान में विचरण करते हुये कवि स्थूल से दूर सूक्ष्म की ओर बढ़ रहे थे।[१५८] इस तरह काव्य का सम्बन्ध मिट्टी से टूट कर व्योम से होता जा रहा था। इसके अतिरिक्त छायावाद मूलतः गांधी-दर्शन से प्रभावित था। और, दिनकर का क्रान्तिकारी व्यक्तित्व गांधी पर श्रद्धा रखते हुए भी उसका अनुगामी नहीं था। उसी प्रकार छायावादी शिल्प की जटिलता से भी दिनकर प्रेरित नहीं हो सके। यही कुछ कारण हैं कि दिनकर छायावाद के साथ समझौता न कर सके। हां, छायावाद ने उन्हें आकर्षित अवश्य किया था उसके लालित्य ने उन्हें लुभाया भी था। खड़ी बोली काव्य-ससार में दिनकर छायावाद को ही सर्वशक्ति सम्पन्न क्रान्ति मानते हैं।[१५९] अतः दिनकर छायावादी न होकर भी कुछ अंशों में छायावाद के प्रशंसक रहे हैं। अतएव छायावाद के सम्बन्ध में उनकी धारणाओं से भी हमें परिचित होना चाहिये।

छायावाद के प्रति आकर्षण भाव व्यक्त करते हुए कवि ने लिखा है 'प्रारम्भ में छायावादी ढंग की कुछ कवितायें मैने भी लिखी थी जिनमें से अधिकांश तो विनष्ट हो गयी किन्तु कुछेक 'रेणुका' से लेकर 'रसवंती' तक में मौजूद हैं। जो नष्ट हो गयी विशेषतः उन कविताओं के सम्बन्ध में ऐसा याद आता है कि उन्हे लिख लेने के बाद मुझे लगा मानों मेरी सारी बातें कसमसा कर मेरे भीतर ही छूट गई हैं और जो कुछ मैं कह पाया हूँ वह अकथित या कथ्य का आभासमात्र है। छायावाद में जो कोमलता थी, उसमें नयी-नयी सुषमाओ के जो अनेक वातायन खुलते थे उन सबके लिये मुझमें आकर्षण और लोभ था और इस लोभ से प्रेरित होकर जब मैं कोई कविता करने बैठता तो मैं अपने आपसे बहुत प्रसन्न हो उठता था किन्तु कविता समाप्त करते-करते मेरी मुद्रा शिथिल हो जाती और अपने श्रम को विनष्ट हुआ मानकर मैं निराश हो जाता था।"[१६०] प्रस्तुत कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि छायावाद की ओर आकर्षित अवश्य था किन्तु उस आकर्षण में सन्तुष्टि-भाव का अभाव था। छायावाद के सम्बन्ध मे उनकी धारणा थी कि 'वास्तव में छायावाद की विशेषता ध्वनि और वेदना-प्रियता नही वरन भावुकता और कल्पना की अतिशयता तथा परिचित से दूर जाकर अपरिचित में विचरण करने का मोह था।[१६१] साथ ही उन्हें इसका भी अनुभव था कि वर्तमान गतिविधियां रोमॉटिक मूल्यों को प्रोत्साहन नहीं प्रदान कर सकती। उनके विचार से बड़ी "पृष्ठभूमि पर रखकर देखने से रोमांटिक भावदशा की दुर्बलताये कुछ अधिक स्पष्ट हो जाती हैं और तब यह भी समझ में आने लगता है कि सभ्यता की प्रगति के साथ ऐसी भावुक मुद्रा का अनादर क्यों बढ़ता जा रहा है और क्यो आज का समीक्षक तथा चिन्तक रोमांटिक मूल्यों को प्रोत्साहित करने के पक्ष में नहीं है। सभ्यता का कल्याण इस बात में है कि मनुष्य प्रत्येक क्षेत्र में संतुलित रहने का प्रयत्न करे किन्तु छायावाद या

रोमांटिसिज्म संतुलन की स्थिति में कम रह पाता है। उत्साह की बात आने पर रोमांटिक कवि अंधी वीरता अथवा अंधी क्रान्ति पर पहुंच जाता है तथा मस्ती की मनोदशा में निराशा के सौन्दर्य पूर्ण आंसू को श्रेष्ठ-सर्वस्व और मृत को अपना उद्धारक मान लेता है।[१६२] कवि की इस मान्यता पर मेरी एक विनम्र आपत्ति है। यह अनिवार्य नहीं है कि यह पूर्णतः खोखली हो। स्वयं कवि ने भी स्वीकार किया है कि छायावाद यद्यपि द्विवेदी युगीन प्रतिक्रिया का काव्य है किन्तु उसके साथ ही उसके मूल में भारत का सांस्कृतिक नवोत्थान भी है।[१६३] और यह एक सत्य बात है कि मात्र प्रतिक्रिया का साहित्य महान नहीं हो सकता है। छायावाद का साहित्य अपने आप में महत्वपूर्ण है यह कवि को भी मान्य है। उन्होंने भी छायावाद कालीन 'रचना' 'राम की शक्ति पूजा, 'सरोज स्मृति', 'शिवाजी का पत्र' आदि की श्रेष्ठता स्वीकार की है और उन्हें कालजयी माना है।[१६४] निष्कर्ष यह कि दिनकर छायावाद से दूर रहकर भी छायावाद के प्रशंसक रहे हैं। वे छायावाद की ध्वनि-व्यंजना और सौन्दर्य बोध से प्रभावित भी हैं। उन्होंने छायावाद का जो विरोध किया है मेरी समझ से उसके दो ही कारण हैं—(१) अस्पष्ट अभिव्यक्ति (२) और गगन विहारी कल्पना।

अभिव्यक्ति की स्पष्टता के संदर्भ में दिनकर की एक सुनिश्चित धारणा है। वे सौन्दर्य की अपेक्षा कला में स्पष्टता अधिक वांछनीय समझते हैं।[१६५] छायावाद से यही उनकी एक प्रधान आपत्ति है। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

'सच्चाई की पहचान कि पानी साफ रहे
जो भी चाहे ले परख जलाशय के तल को
गहराई का वे भेद छिपाते हैं केवल
जो जान बूझ गंदला करते अपने जल को।[१६६]

छायावाद में इनका जो दूसरा और सर्वप्रमुख विरोध है वह यह कि छायावाद छाया के रूप में प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत का कथन है।[१६७] या वह 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है।[१६८] उसकी क्रीड़ा भूमि व्योम है, धरती नहीं। उसकी वृत्ति जीवन से पलायन कर कल्पना में रमजाती है। दिनकर मिट्टी का गायक है, जीवन का कवि है। दिनकर की कल्पना भू गामिनी है। पृथ्वी से उन्हें इतना अधिक मोह है कि उनके इन्द्र कर्ण से मिट्टी पर भीख मांगने आते हैं।[१६९] उनकी उर्वशी स्वर्ग का सुख त्याग कर धरती पर आती है।[१७०] फिर मिट्टी का वह अमर गायक कवि क्यों छायावादी गगन विहारी कल्पनाओं की ओर अग्रसर हो? क्यों उसके सौन्दर्य से अभिभूत होकर उसके पीछे भागे? प्रारम्भिक काल में छायावादी क्षीण प्रभाव से प्रभावित होकर दिनकर ने भी पलायन जैसी छायावादी मनोवृत्ति का परिचय दिया था।[१७१] किन्तु उनकी ऐसी वृत्ति शीघ्र ही लुप्त प्राय हो गयी और छायावादी काव्य पर उन्होंने स्वयं आक्षेप भी किया—

आज न उडु के नील कुंज में स्वप्न खोजने जाऊंगी
आज चमेली में न चन्द्र किरणों से चित्र बनाऊंगी।[१७२]

कवि छायावादियों से भी प्यार के शब्दों में प्रतिरोध करता हुआ कहता है—

'तुम इधर खींचते अपनी लकीरें वायु मंडल में
उधर आकर निरंतर शून्य उनको एक कर जाता
इसी से तो समझता हूं कि वे अच्छे रहे हमसे
नहीं जिनकी लकीरें वायु मंडल पर मही पर है।[१७३]

उपरोक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि दिनकर छायावाद के समकालीन कवि रह कर भी छायावाद से पूर्णतः प्रभावित नहीं हो सके। इस संदर्भ में मेरा अभिमत हैं कि युग-चेतना का कवि केवल वही होता है जो युग की समस्त धाराओं में बहने से पूर्व उनकी बारीकियों से परिचय प्राप्त कर ले। उनके गुणावगुणों में से उस अंश को ग्रहण कर ले जो कल्याणप्रद हो, शेष को त्याग दें। त्यागे क्यों—उसकी प्रतिक्रिया में ऐसे काव्य का सृजन करे जो जीवन की व्याख्या कर सके। इस आधार पर दिनकर एक प्रबल युग कवि कहे जा सकते हैं। उन्होंने छायावादी कुहेलिका को दूर करने का जो प्रयास किया है यह वस्तुतः युगीन चेतना ही है। कुंठा जन्य छायावादी कल्पना जीवन से पलायन कर गयी थी इसका अनुभव युग करने लगा था। १९३५–३६ तक खड़ी बोली-काव्य में प्रगति के स्वर ने अपना स्थान बना लिया था। स्वयं छायावादी कवि भी उत्तरार्द्ध में जीवन के सुख-दुख के चित्रण में लग गये थे। फलतः दिनकर ने सच्चे अर्थों में अपने युग की इसी मांग को अपने काव्य में वाणी दी है। इस कथन का एक औचित्य यह भी है कि कवि युग द्रष्टा और युग सृष्टा दोनों होता है—द्रष्टा यथार्थ दृष्टि का परिचायक है और सृष्टा आदर्श का। कविता 'फोटोग्राफी' नहीं है और न किसी दरोगा की रिपोर्ट। कवि को अपने काव्य में युगीन यथार्थ के साथ समाज निर्माण के लिये संभाव्य मांगों की कल्पना भी करनी पड़ी है जो युग निर्माण की मुख्य पीठिका बनती है। संक्षेप में यथार्थ और आदर्श दोनों का मणि-कांचन संयोग ही सच्चा युग-काव्य होता है। यह आवश्यक नहीं है कि युग का यथावत रूप प्रस्तुत करने वाला कवि ही केवल युग-कवि कहा जाय। अगर कवि युग-भावना के यथार्थ का मूल्यांकन कर तथा उसके आधार पर एक भावी नवयुग का संकेत देते हुये अपने काव्य की सृष्टि करे तो उसी का काव्य युग-काव्य होगा। वही चेतना, युगचेतना होगी और इस दृष्टि से दिनकर का काव्य सच्चे अर्थों में युग-चेतना का काव्य है।

(ख) दिनकर के काव्य की प्रगतिवादी पृष्ठभूमि—प्रायः १९३५ ई० से लेकर १९४५ तक जो खड़ी बोली हिन्दी-काव्य में साम्यवादी गीत गाये गये संकुचित

अर्थ मे उन्हें ही प्रगतिवादी काव्य कहा जाता है । यह प्रगतिवाद राजनीति से साहित्य में आया था किन्तु व्यापक अर्थ में प्रगतिवाद के अन्तर्गत वे सभी कवि आ जाते हैं जो राष्ट्रीयता के समर्थन में रहे । साम्राज्यवाद एवं पूँजीवाद का विरोध करते रहे । वे शोषण और औपनिवेशिकता को मानव-इतिहास का अभिशाप और पराधीनता को कलंक मानते थे ।[१७४] संक्षेप में दिनकर ने प्रगतिवाद की जो यह दूसरी व्याख्या की है उसका सम्बन्ध प्रगतिशील कवियों से है । सामान्यतः प्रगतिशील चेतना के अन्तर्गत मानवतावादी दृष्टिकोण, शिवत्व का भाव राष्ट्रीय चेतना दीनों-दलितों के प्रति आकर्षण भाव आदि आते हैं । निरी साम्यवादी रचना केवल राजनीतिक रचना है, साम्प्रदायवादी रचना है और प्रचारवादी रचना है । स्वयं दिनकर के शब्दों में—प्रगति का जो अर्थ मैं समझ सका हूं वह साम्यवाद नहीं बल्कि नवीनता का पर्याय है । और उसके दायरे में उन सभी लेखकों का स्थान है जो चर्वित-चर्वण पुरातन विसृम्मन और गतानुगत के खिलाफ हैं ।"[१७५]

प्रगति के इस व्यापक अर्थ में दिनकर का समस्त काव्य आ जाता है किन्तु दुर्भाग्य से प्रगतिवाद अपने सीमित अर्थ में सिमटता चला गया और अन्ततोगत्वा केवल प्रचारवादी साहित्य बनकर रह गया ।

प्रगतिवाद के सम्बन्ध में दिनकर की धारणाये अच्छी नहीं हैं । वे इसे साहित्यक आन्दोलन नही मानते है । उनकी दृष्टि में प्रगतिवाद ने हिन्दी काव्य-साहित्य को कोई भी नयी चीज नहीं दी । प्रगतिवादी रचनाकार न तो शैली में कोई परिवर्तन ला सके और न भावो कीं दिशा में ही किसी नये क्षितिज का संकेत कर सके । दिनकर के विचार से—'केवल वैचारिक आन्दोलन वैचारिक आन्दोलन ही होते हैं । साहित्यक आन्दोलन हम उन्हें तभी कहेंगे जब कि उनसे साहित्य की शैली परिवर्तित हो प्रगतिवाद ने साहित्य पर ऐसा कोई भी प्रभाव नहीं डाला जिसे हम किसी भी दृष्टि से साहित्यक प्रभाव कह सकें ।..... मुझे यही दिखाई देता है कि प्रगतिवाद ने साहित्य में नये मूल्यों की स्थापना नहीं की । अपनी तत्कालीन आवश्यकतानुसार उसने पहले से ही प्रचलित मूल्यों में से केवल कुछ को स्वीकार कर लिया । प्रगतिवाद साहित्य के सामाजिक लक्ष्य पर जोर देता है किन्तु हिन्दी में साहित्य की यह प्रगति रहस्यवाद से आई है । जिन चीजों को छायावादोत्तर काल में प्रगतिवादियों ने उभारने की कोशिश की वैसी ढेर-ढेर चीजे भारतेन्दु ने लिखी थीं, बालमुकुन्द गुप्त ने लिखी थी, चन्द्रशेखर शास्त्री ने लिखी थीं और द्विवेदी-युग में भी वैसी रचनाये कुछ कम नहीं हुई हैं ।[१७६] प्रगतिवाद के सम्बन्ध में दिनकर की इस मान्यता से यह प्रमाणित होता है कि दिनकर प्रगतिवाद के इस सीमित स्वरूप के विरोधी थे । प्रगतिवाद के उस व्यापक स्वरूप जिसमें समस्त प्रगतिशील चेतनायें आ जाती हैं दिनकर समर्थक रहे ।

दिनकर की कविता में हमें प्रगतिवाद का वही स्वरूप उपलब्ध होता है, जिसमें संकीर्णता नहीं व्यापकता है, जो सिर्फ किसी सिद्धान्त के प्रतिपाद्य तक ही सीमित नहीं है। दिनकर के प्रगतिवाद में समग्र युग-चेतना और युगबोध का समावेश है। प्रगतिशीलता युग का सशक्त स्वर थी। छायावादी कवियों ने भी अपने परवर्ती काल में युग-काव्य की रचना की। दिनकर जैसा युग-कवि युग की इस मांग से दूर कैसे रह सकता था? उन्होने भी युग की इस चेतना को अपने काव्य में अभिव्यक्त किया। प्रगतिवादी कवि भी शोषित जनता का उद्धार चाहते थे और शोषको की भर्त्सना करते थे। किन्तु इनका शोषित वर्ग केवल मजदूर है और शोषक पूँजीपति। इन कवियो ने अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद का नारा उठाकर श्रमिक और पूँजीपति के झगड़े को आवाज दी है। उनके काव्य मे भारत की सही स्थिति प्रतिबिम्बित नही है। उन्होने अन्तर्राष्ट्रीयता के समक्ष राष्ट्रीयता को भुला दिया है।[१७७] हमारे देश में भी शोषक और शोषित दो वर्ग थे। शोषक था विदेशी शासक और शोषित थी भारतीय दीन जनता। प्रगतिवादी कवियों ने इन वर्गों की चर्चा नही की। वे भूल गये कि भारतीय शोषित वर्ग तो किसान है और शोषक हैं विदेशी शासक तथा पिट्ठू राजा वर्ग। वर्तमान पूंजीवाद का तो तब तक विकास भी नही हुआ था। वस्तुतः पूँजीवाद का यह विशालकाय रूप तो स्वतन्त्रता के पश्चात दिखायी पड़ने लगा है। अस्तु, इन प्रगतिवादी कवियो के काव्य की पृष्ठभूमि देशी नहीं, विदेशी थी। उनका वर्ग-संघर्ष भारतीय नहीं, रूसी था। वे लोग लाल झंडे और लाल सितारे के उन्मुक्त गायक थे। वे भूल चुके थे कि बिना स्वतंत्रता के राष्ट्र में साम्य संभव नही है। दिनकर ने इस स्थिति का बड़ा ही सुन्दर और निर्भिक चित्रण किया है—

'एक देश है जहाँ विषमता, से अच्छी हो रही गुलामी,
जहाँ मनुज पहले स्वतंत्रता–से हो रहा साम्य का कामी।
चिल्लाते हैं विश्व-विश्व कह जहां चतुर नरज्ञानी।
बुद्धि भीरु सकते न डाल जलते स्वदेश पर पानी॥
जहां मास्को के रण धीरों के गुण गाये जाते हैं।
दिल्ली के रुधिराक्त-वीर को देख लोग सकुचाते।[१७८]

दिनकर स्वयं मास्को के प्रशंसक रहे हैं उन्होंने भी मास्को का यशोगान किया है। उसे अमर क्रान्ति की विधायिका, अरुण देश की रानी, रक्तकुसुम धारणी, जगत तारिणी, आदि वंदनीय शब्दों से सम्बोधित किया है।[१७९] किन्तु उन्हें दुख तब होता है जब प्रगतिवादी कवि 'दिल्ली' की उपेक्षा कर 'मास्को' के गान गाते हैं। कवि-हृदय पर चोट लगती है। वे सोच नहीं पाते कि मास्को की वीरता के प्रशंसक भारतीय 'दिल्ली' के सत्याग्रहियों का साथ क्यों नहीं देते? तात्पर्य यह कि दिनकर राष्ट्रीयता के मूल्य पर किसी भी विचार या सिद्धान्त का वरण नहीं करते हैं। उन्हें साम्य चाहिये, शोषण का अन्त चाहिये, तदर्थ-मास्को की

प्रेरणा स्वीकार करने में उन्हें आपत्ति नहीं है, किन्तु पहले राष्ट्र की स्वाधीनता चाहिये, फिर साम्य। राष्ट्रीय गरिमा के मूल्य पर उन्हे साम्य भी स्वीकार नहीं है। क्रान्ति चेतना के कवि दिनकर के काव्य मे आद्योपांत विद्रोह का स्वर है, किन्तु यह विद्रोह केवल पूंजीवाद के ही प्रति नहीं है अपितु सामाजिक अन्य व्यवस्थाओं के प्रति और विदेशी शासकों के प्रति भी है। यहीं आकर दिनकर उन सम्प्रदायवादी प्रगतिवादी कवियों से भिन्न हो जाते हैं।

दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' भी एक प्रकार से समाजवादी दार्शनिक काव्य कहा जा सकता है। जैसा कि डा० सत्यकाम वर्मा ने भी माना है।[१८०] किन्तु सत्य तो यह है कि समस्त 'कुरुक्षेत्र' की कुछ पंक्तियों में ही समाजवाद की सैद्धान्तिक व्याख्या हुई है। सारे काव्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात है, प्रजा पर अन्याय न ढ़ाने वाले राजधर्म या राजनीति की व्याख्या यह तो राजनीति की वृहत चर्चा है, साम्यवाद की नहीं। साम्यवाद की इस आंशिक और क्षणिक चर्चा को उनके 'कुरुक्षेत्र' का मूल स्वर नहीं माना जा सकता। डा० सत्यकाम वर्मा के शब्दो में- कुरुक्षेत्र' मे वे जिस साम्यवाद की अवतारणा करते हैं वह अन्तर्राष्ट्रीय तथा मार्क्सवाद पर आधारित साम्यवाद नहीं है बल्कि उसमें जीवन और जगत की विवेचना से उत्पन्न आध्यात्मिक और मौलिक स्वरो में उत्पन्न, साम्यवादी भावना है"।[१८१] डा० वर्मा के शब्दों में 'कुरुक्षेत्र' के साम्यवाद का यथार्थ मूल्यांकन हुआ है। इस ग्रंथ में जो युद्ध-दर्शन की मीमांसा हुई है वह तृतीय विश्वयुद्ध से मानवता के उद्धार के लिये क्योंकि द्वितीय विश्व-युद्ध के परिणामो को कवि ने खुली आँखों देखा था। 'कुरुक्षेत्र' की मुख्य भूमिका यही युद्ध दर्शन है, साम्यवाद का प्रचार और प्रसार नहीं। युद्ध के कारणों पर प्रकाश डालते हुये ही कवि ने इस वर्ग वैषम्य की लघु चर्चा की है। ग्रन्थ-रचना के मूल में इस भाव का कोई विशेष महत्व नहीं है।

इसी प्रकार 'परशुराम की प्रतीक्षा' में जो साम्य की बात आई है उसे भी हम मार्क्सवादी विचारधारा के अन्तर्गत नहीं रख सकते। यह सच है कि मार्क्सवादी प्रगतिवाद में भी अर्थ के सम विभाजन की बात कही गई है और इसी आधार पर परशुराम की प्रतीक्षा पर मार्क्सवाद का आरोप किया जा सकता है। परन्तु पृष्ठ-भूमि के विश्लेषण से स्थिति स्पष्ट हो जाती है। यह बात तो उस समय कही गयी थी जब राष्ट्र आपत्ति-ग्रस्त था और साम्यवादी राष्ट्र चीन ने राष्ट्र पर हमला किया था। राष्ट्रीय आपत्ति के क्षणों में जब सम्पूर्ण देश अपना सर्वस्व अर्पण कर अपनी राष्ट्रीय सीमा की रक्षा में तत्पर था, उस समय भी पूँजीपति अपनी पूँजी के विस्तार में लगे थे। मुनाफा खोरी की तुलना में उनका राष्ट्र-प्रेम तुच्छ प्रतीत होता था। फलतः दिनकर ने पश्चाताप के स्वरों में यह भावना व्यक्त की कि अगर आज पूँजी का सम विभाजन होता तो ऐसी स्थिति ही क्यों आती? तात्पर्य यह कि परशुराम की प्रतीक्षा में वर्णित साम्यवादी विचार के पीछे दिनकर का

राष्ट्र-प्रेम ही प्रबल है। जिस प्रकार 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध-दर्शन की पृष्ठभूमि के बीच में साम्यवाद की बात कही गयी हैं, उसी प्रकार 'परशुराम की प्रतीक्षा' में राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा के निमित्त साम्यवादी स्वर सुनाई पड़ता है। यही आकर दिनकर का प्रगतिवादी दृष्टिकोण अन्य प्रगतिवादियों से पृथक हो जाता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब सम्पूर्ण युग प्रगति-चेतना से अभिभूत था, सभी प्रगतिवादी कवि मार्क्सवादी साम्यवादी रचना में लीन थे तो दिनकर ने उस चेतना का यथार्थ रूप न अंकित कर युग-धर्म की अवहेलना की है। इस सम्बन्ध में मेरी धारणा है कि उस युग में छायावाद ने पूर्णतः पराभव का दिन नहीं देखा था। छायावाद के आधार स्तंभ पंत तथा निराला भी प्रगति के स्वर से अभिभूत तो जरूर हुये थे किन्तु मार्क्सवाद के प्रचारक नहीं बन सके थे, क्योंकि उनका अपना एक जीवन -दर्शन था। युग-चेतना का प्रबल कवि युग-चित्र प्रस्तुत करते हुये भी अपना व्यक्तित्व नहीं खो देता है। प्रगतिवाद के किसी भी प्रतिनिधि कवि का वैसा व्यक्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता जिसने आदि से अन्त तक उस मान्यता का निर्वाह किया हो। यही कारण हुआ कि प्रगतिवाद ने १० वर्षों की ही छोटी जिन्दगी पाई दिनकर का व्यक्तित्व राष्ट्रीय चेतना से निर्मित है। राष्ट्रीयता उनके कवि व्यक्तित्व के मूल में है। पंत निराला जैसे समर्थ कवियों की तरह इनका भी अपना जीवन दर्शन है। फलतः युग की यथार्थ स्थितियों को अपने काव्य में अंकित करते हुये भी इन्होंने राष्ट्रीय भावना को उपेक्षा की दृष्टि से नही देखा है। इनका साम्यवादी दृष्टिकोण भी भारतीय भूमि से जीवन-शक्ति पाकर शक्ति शाली बना है। अन्य प्रगतिवादियों की तरह इनके काव्य की आत्मा मास्को में न बस कर भारत भूमि में ही निवास करती है।

निष्कर्ष रूपेण हम यह कह सकते है कि दिनकर की प्रगति-चेतना किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह से मुक्त है। उसकी आत्मा राष्ट्रीय है। डा० सत्यकाम वर्मा के शब्दों में—अगर प्रगतिवाद का अर्थ प्रगतिशीलता है और प्रगतिवादी कवि का अर्थ युग-विद्रोही कवि से है तो दिनकर सबसे बड़े प्रगतिवादी कवि हैं।[१८२] वस्तुतः दिनकर ने समय की मांग को कभी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा है। सच्चे अर्थों में इनका प्रगतिवादी स्वर भी पूर्ण रूप से राष्ट्रीय है।

(ग) दिनकर के काव्य की प्रयोगवादी पृष्ठभूमि—दिनकर ने प्रयोगवाद और नयी कविता में कोई अन्तर स्थापित नही किया हैं। किन्तु मूल्यांकन करते हुये उन्होने प्रयोगवाद को साहित्यक आन्दोलन के रूप में मान्यता दी है। स्वयं दिनकर का कथन है—'हर युग नया जल लेकर आता है और हर युग जब जाने लगता है तो उसके लाये हुये जल से आगामी युग की प्यास नही बुझ पाती इसलिए प्रत्येक युग को अपना कुआं आप खोदना पड़ता है चाहे वह छिछला ही क्यों न हो।[१८३] प्रयोगवाद ने भी पारम्परित काव्य-मापदण्ड का बहिष्कार किया है और भाव तथा शिल्प दोनों ही क्षेत्रों में नये प्रयोग किये है जिन्हें दिनकर ने साहित्यिक प्रयोग माना

है। प्रयोगवाद के महत्व का आकलन करते हुये दिनकर ने लिखा है—"वह आदि से अन्त तक शुद्ध साहित्यिक आन्दोलन है, कला का आन्दोलन है। उसका मुख्य ध्येय हमारी कला सम्बन्धी धारणाओं को परिवर्तित करना है।[१८४]

प्रयोगवाद की मूल प्रवृत्तियों को लेकर जितना अधिक विवाद हुआ है शायद ही किसी वाद को लेकर इतना हुआ हो। जैसे प० रामचन्द्र शुक्ल जैसे समर्थ आलोचक की कृपा का पात्र छायावाद नही बन सका था वैसे ही परम्परावादी आलोचक आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी और डा० नगेन्द्र की कृपा प्रयोगवाद को नही मिली। इनके अनुसार तो प्रयोगवादी का आग्रह है कि अपने दृष्टिकोण को अधिक से अधिक वस्तुगत बनाये, वस्तु पर अपने मत का रंग न चढ़ाकर वस्तु की आंतरिक अर्थ व्यंजना की अनुभूति करे।[१८५] इसी प्रकार शिल्प के क्षेत्र में भी इसकी विशेषताये हैं—जैसे अप्रस्तुत का विचित्र और असाधारण प्रयोग, भाव का वैयक्तिक प्रयोग, छंदों के परम्परित रूपों का परित्याग और तुक एवं लय का बहिष्कार इन कवियो का कोई निर्दिष्ट पथ नही है। ये सब अन्वेषी हैं। प्रथम 'तार सप्तक' के सातों कवियो को अज्ञेय ने राही कहा है, राहो का अन्वेषी कहा है।[१८०] दिनकर ने इन्हीं अन्वेषी राहियो के स्वागत में नील कुसुम बिखेरे हैं। यही कारण हैं कि नील कुसुम के मूल्यांकन के लिये उन्होने आलोचना के नये मापदण्ड की मांग की है क्योकि जिस कसौटी पर 'रेणुका' 'हुंकार', 'सामधेनी' आदि की कवितायें कसी गयी हैं, उन पर 'नील कुसुम' की कविताओं को परखना उचित नहीं होगा। दिनकर के अनुसार 'नील कुसुम' के रचयिता के सहज बंधु 'रेणुका' और 'हुंकार' के रचयिता नहीं वरन वे लोग है जिन्हें सही नाम के अभाव में हम प्रयोगवादी कहने लगे हैं किन्तु वे प्रयोगवाद के अगुवा नहीं पिछलगुआ हैं।[१८७] 'नील कुसुम' की कविताओं के संदर्भ में स्वयं कवि ने कहा है—"हिन्दी कविता का आकाश बदल रहा है। जो नया क्षितिज सामने चमक रहा है उसी की ओर खड़ा होकर मैं स्वागत में नील कुसुम बिखेरता हूं।[१८८] इस तरह स्वयं दिनकर का यह मत है कि 'नील कुसुम' को एक प्रयोगवादी रचना माना जाय।

दिनकर की उपरोक्त मान्यता का खंडन करते हुये डा० सावित्रीसिन्हा ने यह प्रमाणित किया है कि वे प्रयोगवादी कवि नहीं हैं। डा० सिन्हा के अनुसार दिनकर आस्था के कवि हैं अनास्था के नहीं। प्रयोगवाद में तो अनास्था का अखंड राज्य है। दिनकर के काव्य में उसका सर्वत्र अभाव है।[१८९] 'नील कुसुम' की कविताओं की लेखन-शैली पर भी पूर्णतः प्रयोगवादी छाप नहीं है। कुछ शब्दों को छोड़कर दिनकर की वही पुरानी चिर परिचित शब्दावली प्रयुक्त हुई है। दुरुहता का भी अभाव ही है। कहने का आशय यह है कि दिनकर के आग्रह के उपरान्त भी 'नील कुसुम' की कविताओं के लिये प्रयोगवादी निकष का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। दिनकर

ने 'नील कुसुम की जिन कविताओं की ओर संकेत किया है उनकी संख्या भी अल्प है। जो प्रतिनिधि-रचनाएं हैं उन्हें सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं पर आधारित आस्थावान रचना कह सकते हैं। 'जनतंत्र का जन्म', 'भूदान', किसको नमन करूं मैं', 'राष्ट्र देवता का विसर्जन', 'व्याल विजय' 'हिमालय का संदेश', आशा की बंशी' 'गायक', 'नर्तक', 'कवि और समाज इत्यादि कविताओं में आस्था के स्वर की ही प्रधानता है। प्रयोगवादियो का अनास्था के प्रति व्यामोह तो इस काव्य ग्रथ में है ही नहीं। शिल्प की दृष्टि से भी इन कविताओं को प्रयोगवादी नही कहा जा सकता।

उपरोक्त संदर्भ में एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि स्वय दिनकर ने 'नील कुसुम' की रचनाओं के लिये नये निकष की माँग क्यो की है? उत्तर स्पष्ट है। हिन्दी काव्य-जगत में नये आने वाले क्षितिज का कवि को अनुभव है। फलतः 'नील कुसुम' की रचनाओं में उसी नये क्षितिज के संदर्भ में कवि ने नया प्रयोग किया है। प्रत्येक नया प्रयोग प्रयोगवादी रचना नही हो सकता। इस दृष्टि से तो छायावाद और प्रगतिवाद भी प्रयोगवादी कहा जायगा। निष्कर्ष यह कि दिनकर की ये कविताएं अभिनव प्रयोग के उदाहरण अवश्य है प्रयोगवादी रचना के नही। नये युग को साथ लेकर चलने का कवि ने यहाँ प्रयास अवश्य किया है, किन्तु भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीयता से वे इतने अधिक प्रभावित हे कि ये अभिनव रचनाएं प्रयोगवादी नहीं बन पायी हैं। निश्चय ही 'रेणुका', 'हुंकार', 'रसवती', 'सामधेनी' आदि के समकक्ष 'नील कुसुम' को हम नही रख सकते, क्योंकि कवि ने इसकी रचना में युगीन पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर अभिनव प्रयोग किये हैं। 'कौआ' 'चाय' 'भैंस' आदि भदेस शब्द भी यदा कदा प्रयुक्त हुये हैं। किन्तु, कहना न होगा कि अपने प्रौढ़ कवि संस्कार के कारण ये रचनायें अभिनव प्रयोग के उपरान्त भी 'प्रयोगवादी' रचना नहीं बन सकी हैं। प्रयोगवादी रचनाओं की अपेक्षा ये रचनायें स्वस्थ, प्रौढ़, आस्था युक्त और आशावादी है।

अपनी दूसरी कृति 'कोयला' और कवित्व' में भी कवि ने कुछ ऐसे ही प्रयोग किये हैं। युग की नूतनता से कवि कुछ अंशों तक यहां भी प्रभावित प्रतीत होते हैं। इस आशय का स्पष्टीकरण करते हुये डा० राम विलास शर्मा ने लिखा है—'शायद अपनी पुरानी कविताओ से खुद ही कुछ ऊपर दिनकर जी' ने कुछ नये ढंग की कविताये लिखी हैं। वे इस संग्रह (कोयला और कवित्व) में हैं ..... किन्तु दिनकरजी पुरानी कविताओं का अनुसरण और नये कवियों का अनुकरण किये बिना भी ..... काफी सुन्दर कवितायें लिख सकते हैं वे उन थोड़े से कवियों में हैं जिनकी प्रतिभा निरन्तर विकसित होती जा रही है।[१६०] डा० शर्मा के इस कथन का भी यही अभिप्राय है कि दिनकर की कवि-प्रतिभा युग का प्रतिनिधित्व करती हुयी ही विकसित होती है।

उपरोक्त विवरण से यह स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि दिनकर में प्रयोगवाद के प्रति एक लघु आकर्षण भाव है। परम्परावादी आलोचकों (आ० नन्द दुलारे जी, नगेन्द्रजी) की तरह दिनकर को प्रयोगवाद का भविष्य अंधकारमय नहीं प्रतीत होता। यही कारण है कि वे भी यदा-कदा अपने काव्य में अभिनव प्रयोग कर बैठते हैं।

निष्कर्ष यह कि दिनकर की काव्य रचनाओं पर विभिन्न साहित्यक आंदोलनों का प्रभाव पड़ा है। ये विभिन्न काव्यान्दोलन उनकी काव्य-रचना की पृष्ठभूमि के निर्माण में सहायक रहे हैं।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि दिनकर ने अपनी काव्य-रचना में युगीन सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यक सभी परिस्थितियों से प्रेरणा ली है।

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों के परिवर्तन चिन्ह दिनकर की काव्य-रचनाओं में देखे जा सकते हैं। युगीन राजनीतिक स्थिति के प्रति वे हमेशा जागरुक रहे हैं। इसी प्रकार सामाजिक समस्याओं के प्रति भी कवि उदासीन नहीं नजर आते। किन्तु, हमें यह न भूलना चाहिये कि उन्होंने अपने व्यक्तित्व की कहीं भी उपेक्षा नहीं की है। राष्ट्रगत या अन्तर्राष्ट्रीय उन्हीं स्थितियों के प्रति कवि का आकर्षण-भाव जागा है जिनके औचित्य को इनकी बुद्धि और इनके हृदय ने स्वीकार किया है। युगीन परिवर्तनों के औचित्य पर कवि विचार करता है; उसका विश्लेषण करता है और तब जो निष्कर्ष निकलता है वही उसके काव्य की पृष्ठभूमि बनता है। इस प्रकार अपने युग की समस्त राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि पर ही वह अपने काव्य की रचना करता है।

ठीक यही बात साहित्यिक पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में भी सत्य है। वे छायावाद के प्रशंसक रहे। उसमे कुछ अंश प्रभावित भी रहे किन्तु उसकी कल्पना की अतिशयता और शैली की दूरुहता को इन्होंने कभी, स्वीकार नहीं किया। प्रगतिवाद के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। वर्ग वैषम्य, पूंजीवाद के प्रति अनास्था और मास्को का जयगान आदि प्रवृतियां इनकी काव्य कृतियों में उपलब्ध होती हैं किन्तु प्रचारवादी साहित्य के स्तर तक दिनकर कभी नहीं गये। इसी तहर प्रयोगवादी युग से प्रभावित होकर इन्होने भी कुछ अभिनव प्रयोग किये। किन्तु प्रयोगवाद के दुर्बल पक्षों को इन्होंने ग्रहण नहीं किया। अस्तु, युग-पटल पर होने वाले सारे परिवर्तनों का चाहे वे आर्थिक हों, सामाजिक हों राजनीतिक या साहित्यिक—उन्होंने अन्धानुकरण नहीं किया। मेरी सम्मति में युग का अन्धानुकरण करना ही युग-चेतनाका

प्रतिनिधित्व करना नहीं कहा जा सकता। प्रायः प्रत्येक युग में जो मान्यतायें स्थापित होती हैं उनके दो पक्ष होते हैं—एक विधेयात्मक और दूसरा निषेधात्मक। कवि-प्रेरणा के विषय दोनों ही पक्ष होते हैं।

युग की कुछ परिस्थितियों और मान्यताओं को कवि स्वीकारता है और कुछ को अस्वीकारता भी है। युग की प्रत्येक प्रवृति को स्वीकार कर इसे काव्याभिव्यक्तित्व देना, कवि की रचनात्मक सामर्थ्य का द्योतक नहीं माना जाता। कवि के व्यक्ति और मेधा की छाप उसकी रचनाओं पर अवश्य पड़ती है। दिनकर की काव्य-कृतियों पर उनके युग की छाप भी है और उनके व्यक्तित्व कीभी। इसी अर्थ में हम उन्हें युग-चेतना का प्रतिनिधी रचनाकार कह सकते हैं।

संदर्भ

१. इन्साइक्लोपीडिया ग्रॉफ सोशल सांइसेज: जिल्द १५, पृ० ६३
२. ग्राचार्य विश्वनाथ : साहित्य दर्पण–७/२३
३. ग्राधुनिक हिन्दी काव्य मे परम्परा तथा प्रयोग-गोपाल दत्त सारस्वत पृ० ४
४. जान लिविग्स्टन : कन्वेशन एण्ड रिवोल्ट इन पोइट्री, पृ० १०
५. गिलबर्ट मरे : द क्लैसिकल ट्रेडीशन इन पोइट्री, पृ० ५
६. गोपाल दत्त सारस्वत : ग्राधुनिक हिन्दी काव्य में परम्परा तथा प्रयोग–पृ० ८
७. प्रभाकर माचवे : हिन्दी साहित्य कोश भाग, १ पृ० ४
8. Poetry is at bottom a criticism of life. MathewA rnold. The Study of Poetry in essays in critism.Second series.
9. Poetry is interpretation of life. Introduction of the Poetry. Page 62
१०. प्रभाकर माचवे : हिन्दी साहित्य कोश–भाग १ पृ० ४७७
११. जॉन लिविंगस्टन-लेविस-कन्वेशन एण्ड रिवोल्ट इन पोइट्री, पृ० ८७
१२. गोपाल दत्त सारस्वत : ग्राधुनिक हिन्दी काव्य में परम्परा तथा प्रयोग पृ० १०
१३. रामधारी सिंह दिनकर : साहित्य मुखी
१४. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका–पृ० १४८
१५. गोपाल दत्त सारस्वत : ग्राधुनिक काव्य परम्परा तथा प्रयोग–पृ० ११
१६. जॉन लिविंगस्टन लोवास : कन्वेशन एण्ड रिवोल्ट इन पोइट्री–पृ० ६३
१७. टी. एस. इलियट-ग्राफटर स्ट्रेज गाडस पृ० १८–१९
18. 'No poet no artist of any art has his c mplete meaning alone. His significance, his ap reciation is the appreaction of his relation to the dieel poets and artists, Scredwood By T. S. Eliot : Page 49
१९. एच. वी. रुथ : इंगलिश लिटरेचर ग्राइडियाज इन द ट्वैंटियथ सेन्चुरी पृ०२
२०. कैलाश वाजपेयी : ग्राधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प पृ० २९८
21. "The truth is that the great poet is in almost every case both a traditionalist and an experimentalist. He does not forget the discoveries made and examples shown by his great predecessors but at the same time he must bring

some freshness in to the language some technical invention some new discovery of the world of sight or sound. Tredition and experiment by wilcians ch. Experiment in Poetry by Edith Sit well.

२२. पुतूलाल शुक्ल–आधुनिक हिन्दी काव्य में छंद योजना–पृ० ७
२३. हरिऔध : प्रिय प्रवास
२४. विद्या भास्कर अरुणा : आधुनिक साहित्य की परम्परा पृ० ६
२५. टी. एस. इलियट : मेलेक्टेड प्रोज पृ० २५
२६. अज्ञेय द्वारा सम्पादित : प्रथम तार सप्तक की भूमिका।
२७. नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य : भारतीय साहित्य में एकता शीर्षक निबन्ध पृ० १२८
२८. अंग्रेज लेखक इस युद्ध को बगावत कहते हैं परन्तु यह गलत है। यह कुछ सिरफिरे देशी नरेशो की छिट पुट बगावत नहीं थी, बल्कि सामन्तवादी की अन्तिम और संगठित कोशिश थी अपने को जीवित रखने के लिये। कृष्णदास–स्वतन्त्रता संग्राम ६० वर्ष, पृ० १०
२९. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय-आधुनिक हिन्दी साहित्य पृ० २८६
३०. वही : पृ० १६
३१. रामगोपाल सिंह : भारतेन्दु साहित्य पृ० ६
३२. पट्टाभि सीतारमैया–काँग्रेस का इतिहास पृ० १२
३३. वार्ष्णेय–आधुनिक हिन्दी साहित्य पृ० २७०
३४. सम्पादक ब्रजरत्न दास : भारतेन्दु ग्रन्थावली–भारत दुर्दशा नाट्य रसिक उल्लास रूपक, पहला खण्ड पृ० ४६६/३५. वही दूसरा भाग पृ० ६८३ ६८४
३६. नत्थन सिंह : गद्यकार बाबू बालमुकुन्द गुप्त–जीवन और साहित्य–पृ० १२४
३७. प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय–प्रेमधन सर्वस्व प्रथम भाग ३८. वही १५४
३९. केसरीनारायण शुक्ल-आधुनिक काव्य धारा के सांस्कृतिक स्रोत–पृ०११२
४०. भारतेन्दु ग्रंथावली : दूसरा भाग पृ० ६८२
४१. प्रेमधन सर्वस्व–प्रथम संस्करण पृ० ५१
४२. प्रताप लहरी–विषाद पंचक–प्रथम संस्करण पृ० १२६–३०
४३. राधाकृष्ण ग्रथावली, भाग १ प्रथम संस्करण पृ० १५ से २०
४४. प्रेमधनसर्वस्व–पृ० १५९
४५. भारतेन्दु ग्रंथावली दूसरा भाग पृ० ७३१
४६. हिन्दी गद्य के निर्माता पं. बालकृष्ण भट्ट पृ० २००
४७. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग १ पृ० ४७०

४८. प्रेमघन सर्वस्व–प्रथम भाग, पृ० १६२/४९ वही–पृ० १५९
५०. वही पृ० १८३
५१. श्रीधर पाठक–भारत गीत पृ० ४६
५२. प्रेमधन सर्वस्व–पृ० १५३/५३. वही पृ० २७
५४. भारतेन्दु ग्रंथावली–दूसरा भाग पृ ६६९
५५. वासुदेव शरण अग्रवाल–भारत भूमिलेख पृ० १
५६. भारतेन्दु ग्रथावली दूसरा भाग, पृ० ५६
५७. प्रेमधन सर्वस्व–पृ० २४८/५८. वही पृ० १८५
५९. राधाकृष्ण ग्रंथावली, भाग १, पृ० ३/६०. वही पृ०६
६१. भारतेन्दु ग्रंथावली–पृ० ३७–३८ /६२. प्रेमधन-सर्वस्व–पृ० २४९
६३. सुषमानारायण : भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्ति-पृ० ६३
६४. केसरीनारायण शुक्ल-आधुनिक काव्य धारा के सांस्कृतिक स्रोत-पृ० १३८
६५. कविता कौमुदी-पृ० ४१६ /६६. वही–पृ० ४१९
६७. केसरी नारायण शुक्ल-आधुनिक काव्य धारा के सांस्कृतिक स्रोत-पृ० १४२
६८. विमल-प्राचीन प्रमुख हिन्दी कवियों का मूलयांकन, पृ० ३१२
६९. मैथिलीशरण गुप्त : साकेत पृ २२०-२२७
७०. भारत भारती-पृ. १६०/७१. वही पृ. १६०/७२ वही पृ. १६४/७३. वही पृ. १६४
७४. केसरी नारायण शुक्ल-आधुनिक काव्य धारा के सांस्कृतिक स्रोत-पृ. १६५
७५. चक्रवाल की भूमिका-पृ. ३४/७६. वही पृ. ३४
७७. मन्मथनाथ गुप्त–आज के लोक प्रिय कवि रामधारीसिंह दिनकर पृ. २६
७८. वही-पृ. १७/७९ वही पृ. २६
80. Coalman 'F' years of oesting : Page 95–96
81. The dramatic shight of Gandhi from Cooprate to non-cooperation Changed the whole face of Indian politics polics. Dr. M. A. Buch: The Rise and growth of Indian Nationalisim. Page :30.
82. Gandhi soon took the leadership of the Indian Muslims. He felt that grave injustice had been done to the Mohammedoms in India. Their religions susceptilisibetics had been deeply wounded. This was on opportunity to the Hindus to stand by the side of their Muslim for then and and thus

advance the cause of Hindus Muslim unity.
–same : Page 27.

८३. सुषमा नारायण–भारतीय राष्ट्रवाद का विकास पृ० १००
८४. शकरलाल तिवारी बेढब 'भारत सन् ४७ के बाद' पृ० ८३
८५. पट्टाभि सीतारमैया : कांग्रेस का इतिहास पृ० २५३
८६. रेणुका–मंगल आवाहन पृ० ३०/८७. वही, पृ० ३०
८८. हुंकार पृ० २/८९. वही : हाहाकार : २१, वही : अनत किरीट, पृ २९
९०. बापू : पृ० १/९१ सावित्री सिन्हा–युगाचारण दिनकर : पृ० ५१
९२. हुंकार : पृ० ६८/९३. चक्रवाल की भूमिका, पृ० ३४
९४. Indian Annual Register : Volume. 1938 P. P. 336–248
९५. वही : पृ० २८२-२९२
९६. Netajee, His life and work : P. P. 357–358
९७. सामधेनी पृ. ५

'हलाहल का दुर्जय विस्फोट. भरा अंगारों से तूफान
दहकता जलता हुआ खगोल, कड़कता हुआ दीप्त अभिमान
निकट ही कहीं प्रणय का स्वप्न दिख लाता है कोई।'

९८. सामधेनी-आग की भीख पृ० ५६
९९. मंजिल दूर नहीं है–पृ० ११ (सामधेनी) /१०० वही पृ० ६९
१०१. वही पृ० ६९
१०२. सामधेनी पृ० ६०/१०३. वही पृ० ६५/१०४ वही पृ० ६१
१०५. सामधेनी पृ० ३१
१०६. सत्यकाम वर्मा–जन कवि दिनकर : पृ० ७२
१०७. आपने एक दार्शनिक कवि के कौशल के साथ-साथ अतीत की पृष्ठभूमि पर वर्तमान को चित्रित किया है । मेरी सम्मति में कुरुक्षेत्र नये युग की नयी गीता है।'
सामधेनी–कुरुक्षेत्र पर सम्मतियां, पृ० १
१०८. कुरुक्षेत्र पृ० २७
शान्ति नहीं तब तक जब तक सुख भाग न नर का सम हो।
नहीं किसी को बहुत अधिक हो, नहीं किसी को कम हो।'
कुरुक्षेत्र : पृ० ३१
१०९ सामधेनी : कुरुक्षेत्र पर सम्मतियां पृ० ३
११०. नील कुसुम : जनतन्त्र का जन्म पृ०
१११. नीम के पत्ते पृ० १३
११२. नीम के पत्ते–पहली वर्ष गाँठ पृ० १७

११३. है कहां तुम्हारी आजादी ? क्या स्कूलों में ?
अनुशासन लंगड़ा हुआ जहाँ, बिल लाता है ?
हड़ताल करों भेदी प्रचंड कोलाहल में
है जहां गर्क भावी नेताओं के समूह ।' वही पृ० १७/११४. वही पृ० १६
११५. नीम के पत्ते पृ० १८/११६ वही पृ० १८/११७. वही पृ० १६
११८. मंहगी आजादी के जीवन का एक साल
बापू को डाला मार, नमक का दाम दिया । वही पृ० १६
११६. वही पृ० १६
१२० नील कुसुम विनोबा और भूदान शीर्षक कविता पृ० ७६
१२१ चक्रवाक की भूमिका पृ० ३३
१२२. गिराओ बम गोली दागो रे, परशुराम की प्रतीक्षा पृ० ५८
१२३. समर शेष है जन गंगा को खुल कर लहराने दो
शिखरों को डूबने और मुकुटों को बहजाने दो ॥
समर शेष है : परशुराम की प्रतीक्षा पृ ७६
१२४. सब टूटेगे एक साथ संघर्ष भयानक होगा ।
कहो शान्ति कामन अशान्त है, बादल जुभर रहे हैं
तप्त ऊमसी हवा टहनियों में छटपटा रही है ।
समर शेष है : परशुराम की प्रतीक्षा पृ० ७०/वही पृ० ७२
१२५. वही पृ० ७४–७५
१२६. वही पाठ टिप्पणी पृ० ५६
१२७. परशुराम की प्रतीक्षा–शान्तिवादी पृ० ५७
१२८. 'हुंकार' : मेघं रन्ध्र में बजी रागिनी : पृ० २२
१२६. हुंकार पृ० २२ /१३०. वही पृ० ३२
१३१. हुंकार–भविष्य की आहट पृ० ३२
१३२. कुरुक्षेत्र पृ० ५६
१३३. कोयला और कवित्व पृ० ७०/१३४. वही, पृ० ७०
१३५. नील कुसुम पृ० ६५ (राष्ट्र देवता का विसर्जन शीर्षक कविता)
१३६. नील कुसुम पृ० १००
१३७. रश्मिरथी की भूमिका पृ० १/१३८. वही पृ० १/१३६. वही पृ० ६३
१४०. एक नग्नता यह भी है
अब तन तो नग्न नहीं ।
लेकिन मन है विफल आवरण से बाहर आने को

लज्जा वसनों में अनेक वातायन खोज रही है
देह पहनती चीर नग्नता अपनी दिखलाने को।' —नील कुसुम—

१४१. रसवंती पृ० ४६
१४२. रसवंती पृ० ४६
१४३. नील कुसुम पृ० २७/१४४ वही पृ० ३१
१४५. युग चारण दिनकर पृ० १६९—१७०
१४६. हुंकार विपथगा पृ० ६७/१४७. वही पृ० ६७ १४८. वही हाहाकार पृ० २४
१४९. हुंकार-हाहाकार पृ० २३
१५०. नीम के पत्ते पृ० १८
१५१. नील कुसुम पृ० ८०/१५२. वही पृ० ८०
१५३. नील कुसुम पृ० ७०
१५४. परशुराम की प्रतीक्षा पृ० ५
१५५. शिवदान सिंह चौहान—आलोचना २९ जनवरी
१५६. कुरुक्षेत्र पृ० ४३—४५
१५७. विमल—छायावाद मूल प्रवृतियां, पृ० २५
१५८. नगेन्द्र—'छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है'
नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध पृ० ९६
१५९. मिट्टी की ओर—साहित्य और राजनीति, पृ०
१६०. चक्रवाल की भूमिका पृ० ३४
१६१. चक्रवाल की भूमिका पृ० १०
१६२. वही पृ० १२—१३
१६३. 'मूलतः यह भारत के उस सांस्कृतिक नवोत्थान का परिणाम था जिसका प्रवर्तन राजा राममोहन राय ने किया था और जिसके व्याख्याता केशव चन्द्रसेन, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, एनीबेसेन्ट, लोकमान्य तिलक और महात्मा गाधी हुये हैं। वही पृ० १६
१६४. चक्रवाल की भूमिका पृ० २२
१६५. मैं सौन्दर्य मे अधिक सुस्पष्टता का प्रेमी हूं। कविताओ में अनुभूतियों की बारीकियां या ऊंचे-ऊ चे भाव मुझे तभी जचते हैं जब वे अनुरूप शैली में स्वछंदता अभिव्यक्त किये गये हों। वही पृ० २७
१६६. नील कुसुम—तुम क्यों लिखते हो (१९५०) पृ० १
१६७. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ६६९
१६८. नगेन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध पृ० ९६
१६९. रश्मिरथी पृ० ९६

१७०. उर्वशी पृ० ९६
१७१. रेणुका पृ० ८६/१७२. वही/१७३. वही
१७४. चक्रवाल की भूमिका पृ० ४०
१७५. रसवती की भूमिका पृ० १
१७६. चक्रवाल की भूमिका पृ० ४२
१७७. सत्यकाम वर्मा–जन कवि दिनकर पृ० ५९
१७८. सामधेनी पृ० ६१
१७९. सामधेनी–दिल्ली और मास्कों पृ० ५९
१८०. जन कवि दिनकर पृ० ५४
१८१. जन कवि दिनकर पृ० ८५
१८२. जन कवि दिनकर पृ० ६२–६३
१८३. चक्रवाल की भूमिका पृ० ५०
१८४. काव्य की भूमिका पृ० ६४–६५
१८५. नगेन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध पृ० ८०६
१८६. प्रथम तार सप्तक की भूमिका पृ०
१८७. नील कुसुम दो शब्द पृ० ग, घ/१८८. वही
१८९. दिनकर का विश्वास दृढ़ आशावादी व्यक्तित्व लेकर और नील कुसुम की आस्था भरी कविताओं का इस परिवेश से स्थान कहां ? उनकी विस्फोटक आवेगपूर्ण रसार्द्रता तथा बहिर्मुख मुखरता भी अपने मन की निविड़ गहनता में उलझे हुये अन्तर्मुखी प्रयोगवादी कवियों के साथ मेल नहीं खाती–युग चारण दिनकर पृ० १५०
१९०. जनशक्ति साप्ताहिक पटना–१९ अप्रैल, १९६४ पृ० १०

२

कवि, समाज और राजनीति का पारस्परिक सम्बन्ध

समाज और राजनीति मानव जीवन के दो महत्वपूर्ण पक्ष हैं। प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक हाब्स के अनुसार पहले मनुष्य ने अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए समाज की रचना की। तत्पश्चात उस सामाजिक अवस्था को व्यवस्थित करने के लिए राज्य का निर्माण किया। अतः व्यक्ति, समाज और राजनीति-तीनों अन्योन्याश्रित है। व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यक्तित्व समाज और राजनीति की मांगों और पूर्तियों से भरा होता है। साधारण मनुष्य की भांति कवि भी एक सामाजिक प्राणी होता है। उसके भी जीवन दर्शन का निर्माण परिस्थितियों के प्रभाव से ही होता है। हाँ, वह जन साधारण से अधिक जागरूक अवश्य होता है। इसी हेतु उसका घात-प्रतिघात भी अधिक सक्रिय और संवेदनशील होता है। यहीकारण है कि कवि, समाज और राजनीति दोनों से प्रेरणा ग्रहण कर अपने काव्य का सृजन करता है। यह सच है कि सच्चा कवि न तो समाज सुधारक होता है और न नेता। वह अपने समसामयिक युग, समाज और राजनीतिक को देखता है। उनसे प्रेरणा लेता है और क्रियात्मक या प्रतिक्रियात्मक भाव व्यक्त कर अपने काव्य में युग-चित्र प्रस्तुत करता है। ठीक ऐसा ही काव्य अपने युग का दर्पण बन जाता है। डा० विमल के शब्दों में–"काव्य के इतिहास की गति बड़ी ही टेढ़ी-मेढ़ी होती है। काव्य-धारा कवि हृदय से फूटकर युग, सतह की ऊंची-नीची, असम-विषम सतह से बहती हुई लोक कल्याणोदधि में जा गिरती है। यही कारण है कि प्रत्येक काव्य में युग-बिम्ब होता ही है।"[१] कबीर हों या तुलसी, प्रसाद हों या पंत सब के काव्य में तद-युगीन चेतना के बिम्ब उतर आये ही हैं। दिनकर भी उसी कोटि के कवि हैं जिनके काव्य में उस युग की सामाजिक और राजनीतिक समस्त चेतनाएं मूर्त हो उठी हैं।

२. दिनकर की राजनीतिक चेतना–

(क) राजनीति और साहित्य–राजनीति, समाज का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। समाज के निर्माण और व्यक्ति के उत्थान–दोनों में राजनीति का योगदान होता है। साहित्यकार जिस समाज में जीता है, युग की जिस राजनीति में अपने

व्यक्तित्व का विकास करता है। उसकी प्रतिच्छाया उसके साहित्य में परिलक्षित हो उठती है। युग के प्रति जागरूक और सामाजिक परिवेश का चितेरा कवि राजनीतिक परिस्थितियो के प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं रख सकता।

साहित्य के क्षेत्र में राजनीति का प्रभाव मुख्यत. दो रूपों में पड़ता है। किसी विशिष्ट राजनीतिक धारा का अनुयायी रचनाकार जब अपने साहित्य द्वारा उस राजनीतिक विचार-धारा का प्रचार प्रारम्भ करता है तो वैसी रचनाएं शुद्ध प्रचार वादी बनकर रह जाती हैं। इस प्रकार का प्रभाव रचनाकार के अस्तित्व को मिटा कर उसे प्रचारक मात्र बनाकर छोड़ता है। किन्तु, दूसरे वर्ग में उस श्रेणी का साहित्य आता है जिसमें रचनाकार युग की मांगों के अनुसार समसामयिक राजनीति के प्रभावों को अपने साहित्य में स्थान देता है। इस कोटि का साहित्यकार किसी पूर्वाग्रह से प्रभावित नहीं रहता है, वह तटस्थभाव से युग को देखता है और उसे अपने काव्य में उतारने का प्रयास करता है। इसी कोटि का साहित्य सत्साहित्य कहा जाने लगता है। प्रगतिवाद का समस्त मार्क्सवादी साहित्य 'कम्यूनिज्म' के प्रचारार्थ लिखा गया है। फलतः ऐसे साहित्य में न शास्त्रीयता ही पायी जाती है और न उसमें भावना का अतिरेक ही है। ये केवल प्रचार वादियों के नारे बनकर रह गए हैं। ठीक इसके विपरीत तुलसी का वह सामजस्य वादी साहित्य आता है जिसमें महाकवि ने समाज तथा राजनीति का समावेश केवल 'बहुजन हिताय' की भावना से किया है। तुलसी किसी राजनीतिक धारा के प्रचारक बन कर नहीं आये हैं। यही कारण है कि तुलसी-साहित्य युग-साहित्य की एक स्मारक-शिला बन गया है। आधुनिक युग में हिन्दी में दिनकर-साहित्य भी इसी कोटि का है। खींच तानकर इन्हें गांधीवाद या मार्क्सवाद का अनुयायी कवि कहना इनकी कला को निंदित करना होगा। मेरे अभिमत से दिनकर ने तत्कालीन युग में प्रचलित सभी सामाजिक और राजनीतिक विचार धाराओं पर मनन-चिंतन किया है किन्तु अभिव्यक्ति केवल उन्हें ही दी है जिन्हें युग ने ग्रहण किया है। युग की जो राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना रही है उन्हें तटस्थभाव से इन्होंने अभिव्यक्त कर दिया है।

साहित्यकार का राजनीति से क्या सम्बन्ध होता है यह प्रश्न भी यहाँ विचारणीय है। व्यक्तिगत रूचि से साहित्यकार किसी विचारधारा के प्रति आकर्षित हो सकता है, परन्तु साहित्यकार के दायित्व का स्मरण कर उसे अपनी स्वतंत्रता की रक्षा भी करनी पड़ी है। साहित्यकार के इसी कर्तव्य-निर्धारण के उहापोह को दिनकर ने बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है—"लेखक राजनीति में पड़े या न पड़े यह प्रश्न विचारणीय है किन्तु प्रत्येक राजनीतिक दल किसी न किसी लेखक को अपना मानता है। लेखक को राजनीति में पड़ने में खतरा क्या दिखाई पड़ता है? यह कि दल के आग्रह में पडकर वह सम्पूर्ण सत्य बोलने में शायद चूक जाए। साहित्यिक जिस प्रकार सर्वस्वतन्त्र होकर बोलना चाहता है वह स्वतन्त्रता किसी भी राजनीतिक दल

को हमेशा अनुकूल नहीं बैठती। और, राजनीति का सर्वथा त्याग किया जाये तो साहित्य के हाथ से एक करगर यंत्र छूट जाता है। रास्ता एक ही है कि साहित्यिक राजनीति में जाने पर भी, दल से मत भेद होने पर भी अपनी ही बात कहे। तन सौंपे मन दे नहीं सती कहावै सोय।"[२] निष्कर्ष यह कि राजनीति में रहकर कवि उससे प्रभाव तो अवश्य ग्रहण करे किन्तु उसका प्रचारक न बने। राजनीति के कारण अपनी आत्मा की पुकार की अवहेलना न करे। वस्तुतः दिनकर जी ऐसे ही कलाकार हैं जिन्हें राजनीति में रहते हुए भी राजनीति का विष नहीं व्यापता है।

दिनकर के काव्य की राजनीतिक चेतना—दिनकर की राष्ट्रीय रचनाओं में राजनीति का जो स्वर उभरा है, उसे प्रचारवादी नहीं कहा जा सकता है। उसमें दलीय गन्दी राजनीति का सर्वथा अभाव है। दिनकर की कतिपय गांधीवादी और मार्क्सवादी रचनाओं के आधार पर उन्हें गांधीवादी या मार्क्सवादी मानना उचित नहीं है। कवि की लेखनी से प्रसूत ये विरोधी धाराये ही उसकी राजनीतिक निरपेक्षता का सबसे बड़ा उदाहरण है। वे किसी एक राजनीतिक धारा से बधकर नहीं चले हैं, तत्कालीन समाज में जो कुछ घटित हो रहा था कवि ने उसे ही वाणी दी है, उसी का चित्रण किया है। दिनकर पर किसी वाद विशेष का स्थाई प्रभाव नहीपड़ता है। वे किसी वाद के अंधे अनुयायी नहीं बन जाते हैं। समय पड़ने और आवश्यकता अनुभव करने पर वे उसी राजनीतिक धारा का खुलकर विरोध करते हैं जिसे कभी उन्होंने बडी श्रद्धा से सराहा था। कट्टर सिद्धान्तवादी राजनीतिज्ञों में इतना आत्मबल नहीं होता कि वे अपने सिद्धान्तों का स्वय खडन कर सकें। यह विशेषता तो विचारकों में ही पायी जाती है। विचारकों की इस प्रवृति पर प्रकाश डालते हुए दिनकर जी ने लिखा है-"महान विचारक के खेत में एक ही क्यारी नहीं होती। जिसमें एक ही तरह के पौधे उगते हों। वह बराबर अनेक सत्यों की क्यारियां तैयार करता है। जो भी सत्य जीवन्त है वे उसकी किसी न किसी क्यारी में जड़ पकड़ लेते हैं। बिना आत्म खडन किये सत्य का सेवन नहीं चल सकता। आदमी को कभी-न-कभी ऐसी बात बोलनी ही पड़ती है जिससे उसकी पहली बात का खंडन हो जाता है।"[३]

दिनकर का रचनाकाल पूर्ण विस्तृत और व्यापक है। लम्बी अवधि में विभिन्न समस्याओं ने दिनकर को उत्प्रेरित कर उनसे विशाल साहित्य का सृजन कराया है। अपने काव्य की पृष्ठभूमि की व्याख्या करते हुये कवि ने लिखा है-'मेरी कविता के भीतर जो अनुभूतियां उतरी वे विशाल भारतीय जनता की अनुभूतियां थीं। वे उस काल की अनुभूतियां थीं जिनके अंक में बैठकर मैं रचना कर रहा था। कवि होने की सामर्थ्य शायद मुझमे नहीं थी। वह क्षमता मुझमें भारतवर्ष का ध्यान करने से जाग्रत हुई, यह शक्ति मुझमें भारतीय जनता की आकुलता को आत्मसात करने से स्फूर्त हुई।'[४] तात्पर्य यह कि युगीन भावना को कवि ने उपेक्षा

की दृष्टि से कभी नहीं देखा है। ये ही युगीन भावनाएं दिनकर के काव्य की पृष्ठ-भूमि बनी हैं।

साम्यवाद के सस्ते प्रचार का विरोध—दिनकर की काव्य-रचना के प्रारम्भिक युग में भारतीय राजनीति की दशा बड़ी ही विषम थी। एकता का सूत्र टूटसा गया था। सिद्धान्तों की बहुलता तथा अव्यावहारिक नीति का चतुर्दिक साम्राज्य हो गया था। परतन्त्रता जनित देश की इस दुःस्थित में भी एक ऐसा वर्ग था जो स्वतन्त्रता से पूर्व ही साम्यवाद की स्थापना चाह रहा था। स्वतन्त्रता के हेतु युद्धरत दिल्ली के रुधिराक्त वीरो के प्रति उनका आकर्षण नहीं रह गया था। वे तो राष्ट्र की उस संक्रान्ति वेला में भी मास्को के रणधीरों की प्रशस्ति गा रहे थे। दिनकर ने इस वर्ग की खुली भर्त्सना की।[५] भारत में रहकर विश्व-विश्व चिल्लाने वाले इस वर्ग का 'दिनकर' ने न केवल प्रतिरोध किया अपितु उसकी नीति की भर्त्सना कर अपने राष्ट्र-प्रेम का परिचय दिया है। इस वर्ग के प्रति यह भर्त्सना की वाणी दिनकर की नहीं—सम्पूर्ण देश की थी। १९४२ की राष्ट्रव्यापी क्रान्ति में जब समस्त भारत अंग्रेजी साम्राज्य को यहां से उखाड फेंकना चाहता था, उस समय इस वर्ग ने राष्ट्र के प्रति श्रद्धाभाव को भुलाकर, राष्ट्रीय कर्त्तव्य को ताक में रखकर साम्यवाद का नारा बुलन्द किया था। राष्ट्रीयता की कीमत पर स्वतन्त्रता से पहले साम्यवाद लाने वाले इस वर्ग के प्रति सम्पूर्ण देश में भर्त्सना का भाव था। दिनकर ने इस वर्ग की खुली आलोचना कर सच्चे अर्थों में युग का प्रतिनिधित्व किया है।

साम्प्रदायिक दुष्परिणाम—स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये सघर्ष रत भारत को साम्प्रदायिक-दुष्परिणामों को भी भोगना पड़ा था। राष्ट्रव्यापी साम्प्रदायिक संघर्षों से समस्त राष्ट्र आहत हो रहा था। साम्प्रदायिक पाशविकता के नग्न नृत्य को देखकर दिनकर का हृदय भी विचलित हो उठा था। युग की इस व्यथा को दिनकर ने सामधेनी के गीतों में वाणी दी है। हे मेरे 'स्वदेश'[६] शीर्षक कविता कवि ने नोआखाली और बिहार के दंगे से प्रभावित होकर लिखी है साम्प्रदायिक आधार पर बटते हुये भारत को देखकर कवि का हृदय चीत्कार उठा था। 'तकदीर का बंटवारा'[७] कविता युग की इसी व्यथा की पृष्ठभूमि में लिखी गयी है।

स्वातंत्र्योत्तर युग का भ्रष्ट नेतृत्व—राष्ट्र की कठिन साधना और कुर्बानी के बाद स्वतन्त्रता आयी किन्तु उसके आते ही यह महाभूखण्ड दो भागों में विभक्त हो गया। फलतः राष्ट्र ने आहत हृदय से स्वतन्त्रता का स्वागत किया। दिनकर ने भी अपने व्यथित हृदय से स्वतन्त्रता के आगमन पथ पर वाणी के पुष्प बिखेरे। फिर संविधान आया। चुनाव प्रारम्भ हुआ। नेता गण जनता के सामने सेवक बनने का स्वांग रचकर बड़े-बड़े वादे करने लगे किन्तु सत्ता प्राप्ति के पश्चात उनके वे सारे

वादे झूठे निकले। जनता की सारी आशायें धूमिल होने लगी। कवि ने जनता की इस व्यथा का अनुभव किया और उसे वाणी दी।[८]

इन तथा कथित नेताओं का एक दूसरा पक्ष भी है। वे लोग जब तक सिंहासनारूढ़ रहते हैं तब तक तो इन्हें सरकार में व्याप्त हीनता एवं भ्रष्टाचार दृष्टिगोचर नही होते। वे उस शासन में गुण ही गुण देखते हैं। किन्तु मंत्री पद से च्युत होते ही वे सरकार के कटु आलोचक बन जाते है। अब उन्हें उस शासनान्तर्गत सारे अवगुण ही नजर आने लगते हैं। दिनकर ने ऐसे भ्रष्ट मंत्रियों का बड़ा व्यंग्यात्मक चित्र खीचा है।[९] ऐसे भ्रष्ट मंत्रियों को कवि ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में फटकारा है—

'किसे सुनाते हो शासन के पग-पग पर है पाप छिपा
किया न क्यों प्रतिकार जब तुम सिंहासन पर आये।'[१०]

ऐसे भ्रष्टाचारी नेताओं के प्रति सम्पूर्ण देश अनास्थावान हो गया। दिनकर ने 'नेता' शीर्षक कविता में स्पष्ट शब्दों में कहा कि अब सुयोग्य नेताओं का मिलना असंभव है। आज के ये नेता जनता के सखा, बन्धु और सहचर नही रहे। इन्होने अपने स्वार्थ को बड़ा ही विस्तृत बना लिया है। 'छिपाकर नोट जमा करने वाले' इन नेताओं ने नेता पद की पवित्रता को कलंकित कर दिया।[११] इनकी पवित्र ऐतिहासिक गांधीवादी टोपी रुपये जमा करने वाली थैली' बन गयी तथा कुर्त्ता 'बोरिया'।[१२] निष्कर्ष यह कि स्वातन्त्र्योतर युग के भ्रष्ट नेतृत्व से त्रस्त जनता की मनोवृत्ति का चित्रण कर कवि ने युग-चेतना को मूर्त किया है।

अव्यावहारिक राजनीति— स्वाधीनतोपरान्त भारत की राजनीति प्रायः असफल रही। इस असफलता का मूल कारण सिद्धान्तों की अव्यवहारिकता में देखा जा सकता है। इसका सम्पूर्ण दायित्व अदूरदर्शी राजनीतिज्ञों पर है। दिनकर ने अपने काव्य में इसी अदूरदर्शी नीति का पदार्फाश किया है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में इस अदूरदर्शी नीति की कवि ने कटु आलोचना की है। इस असफल नीति पर टिप्पणी करते हुए दिनकर ने कहा है कि यह युद्ध अहिंसा और शान्ति के सिद्धान्तों की अति के कारण ही उत्पन्न हुआ है। इसके मूल में नेताओं की जगदगुरु बनने की लालसा है, अपने सिद्धान्तों द्वारा विश्व में शान्ति का अमृत उत्पन्न करने की आकांक्षा का थोथा घमण्ड भी है।[१३] अपनी इसी मान्यता को और भी अधिक स्पष्ट करते हुये उन्होंने कहा है कि इस असफलता के मूल में भ्रष्टाचारी और अयोग्य शासकों की अकर्मण्यता भी है। वे बाहरी व्यक्तित्व में तो बड़े शालीन दिखते हैं पर कार्य बड़े निम्न कोटि के करते हैं। वे गुण नहीं, जाति को महत्व देते हैं। सत्य जानते हुये भी सत्य कहने का उनमें नैतिक साहस नहीं है। ये राजनीतिज्ञ

अनीति, असत्य और चोरी के समर्थक हैं। इन चापलूस नेताओं एवं प्रशासकों के संरक्षण में ही पाप पल रहा है।[१४] डा० सावित्री सिन्हा ने दिनकर की इस मान्यता पर आक्षेप किया है। उन्होंने लिखा है—'ये उक्तियाँ एक सैनिक के मुख से कहलाई गई हैं जिसे सोचने विचारने का नहीं केवल लड़ने मारने और मरने का अधिकार है। सैनिक अनुशासन की दृष्टि से इस कविता की विद्या आपतिजनक है।[१५] इस आलोचना के सम्बन्ध में मेरी विनम्र आपत्ति है कि सीमा के सजग प्रहरी और देश-रक्षा में दिन रात रहने वाले मातृभूमि के रक्षक का केवल इतना ही अधिकार होता है कि वह भेड़ बकरियों की तरह लड़े, मारे और मरे ? क्या, चांदी के कुछ सिक्के देकर हमने उसको अपनी रक्षा के लिये नियुक्त अधिकार विहीन नौकर बना दिया है ? उसके सोचने और समझने के अधिकार छीन लिये हैं ? व्यावहारिक दृष्टि से तो कार्य करने वाला व्यक्ति ही उसकी सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि को भी बारीकी से समझ सकता है। सिद्धान्त बनाने वाला व्यवहार के तल तक नहीं पहुंच पाता। इसीलिये यह आवश्यक है कि कार्यकर्त्ता ही कार्यक्रम का भी निर्धारण करे। मेरी समझ से इसी हेतु कवि ने एक सैनिक के मुख से राजनीतिक सिद्धान्तों की असफलता के लिये नेताओं की आलोचना कराई है।

महामानवता तथा वसुधैव कुटुम्बकम जैसा भाव वैयक्तिक होता है वह किसी महान आत्मा में कभी-कभी ही जन्म लेता है। तप, करुणा, धर्म, विनय, क्षमा, त्याग आदि व्यक्तिगत गुण होते हैं। इनकी शोभा व्यक्ति विशेष में ही है किन्तु जब समुदाय का प्रश्न उठता है तो इन्हें सहज ही भूलना पड़ता है क्योंकि जन समुदाय में इनका पालन सर्वथा असंभव है—

'व्यक्ति का है धर्म तप, करुणा, क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी त्याग भी,
किन्तु उठता प्रश्न जब समुदाय का
भूलना पड़ता हमें तप त्याग को।[१६]

कवि के दृष्टिकोण से इन अतिमानवीय गुणों को समुदाय पर थोपने की नीति प्रायः असफल हो जाया करती है।[१७] चीनी आक्रमण के समय कवि ने ऐसी ही नीतियों को असफल होते देख एक ऐसे नेता का आवाहन किया जो कर्मठता और त्याग दोनों ही गुणों से परिपूर्ण हो। दिनकर ने जिन अंगारों से बापू को पूजा था आज उन्हीं अंगारों से अंगार जैसे दहकते हुये व्यक्तित्व परशुराम का कवि आवाहन करता है। कवि का विश्वास है कि इन अतिमानवीय नीतियों के सहारे हमारा कल्याण संभव नहीं हो सकता। हमें गांधी की रक्षा के निमित गांधी से भागना पड़ेगा ही। अहिंसा को त्याग कर बम, गोली बरसाना पड़ेगा ही।[१८]

दिनकर के सम्बन्ध में यहां एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि संसद सदस्य के नाते राजनीति के मंच पर पहुंच कर भी भारत की तत्तकालीन भ्रष्ट राजनीति के लिए इन्होंने क्या समाधान खोजा ? इन्होंने व्यावहारिकता पर बल देने के लिये राजनीतिक मंच का उपयोग क्यों नहीं किया ? इस सम्बन्ध में यही कहा जाना उचित होगा कि दिनकर ने यहां भी युग-चेतना से प्रभावित होकर ही ऐसा किया है। वे उस समम संसद सदस्य बने थे जब भारत की राजनीतिक क्षितिज पर नेहरू जैसा प्रतिभावान नक्षत्र चमक रहा था। नेहरू की प्रत्येक नीति में देश को प्रबल आस्था थी। राष्ट्र ने उन्हें अपना सर्वस्व समझ कर अपने सभी अधिकार सौप दिये थे। दिनकर चिंतक कम, युग भावनाओं के वाहक अधिक हैं। उनकी चिंतना पर भी युग-प्रभाव हावी रहा है। राजनीतिक मंच पर रहकर भी, तद् युगीन राजनीतिक नीतियों में अनेक प्रकार की त्रुटियो को पाकर भी वे उस मंच से विरोध की आवाज इस लिये नहीं उठा सके कि भारत की जनता को पं. नेहरू की नीतियों में प्रबल आस्था थी। लोक अंध भक्त होकर सहज ही मान लेते थे कि स्वतन्त्रता लाने वाले इस महान त्यागी नेता द्वारा निर्मित सभी नीतियां सफल होकर ही रहेगी। फलतः कवि ने मौन रहना ही श्रेयस्कर समझा। साथ ही चीनी आक्रमण से पूर्व दिनकर नेहरू के नेतृत्व में निर्धारित नीतियों के प्रति कुछ अंशों मे आस्थावान न रहकर भी नेहरू के व्यक्तित्व के बड़े प्रशसक थे। नेहरू के जन प्रिय व्यक्तित्व ने उन्हें इतना प्रभावित किया था कि स्वप्नो के द्रष्टा जय प्रकाश को दलित देश का त्राता[१९] समझने वाला कवि अपने उस दृष्टिकोण को भूल गया और उसने जनता के ज्योतिनयन जवाहर[२०] की अर्चना प्रारम्भ कर दी। जय प्रकाश के सम्बन्ध में कवि का यह दृष्टिकोण व्यक्तिगत था और नेहरू के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण सम्पूर्ण युग-समाज का प्रतिक था। वस्तुतः स्वाधीनतोपरान्त राष्ट्र जय प्रकाश को प्राय भूल था। दूसरी ओर जवाहर जनता के मन और मस्तिष्क पर पूर्ण रूप से छा गये थे। युग की इसी चेतना ने दिनकर को जय प्रकाश की ओर लौटने के लिये विवश कर दिया। निष्कर्ष यह कि इन्हीं कारणो से राजनीति के सर्वोच्च मंच पर संसद सदस्य के रूप में रहकर भी, समसामयिक राजनीतिक नीतियों की अव्यवहारिकता समझते हुये भी कवि ने विरोध नहीं किया, किसी प्रकार का व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत नहीं किया।

इस संदर्भ में एक और दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जा सकता है। वह यह कि दिनकर सच्चे अर्थों में कवि हैं— राजनीतिज्ञ नहीं। यद्यपि आलोचकों ने संसद सदस्य मनोनित होने के पश्चात उन्हें युग कवि न कह कर राजनीति का कवि कहा है।[२१] किन्तु दिनकर के सम्बन्ध में यह आक्षेप सर्वथा निराधार है। दिनकर राजनीति में रह कर भी राजनीति के गुलाम होने वाले कवि नहीं हैं। जीविकोपार्जन के लिये

विदेशी सरकार की दया पर जीने वाले दिनकर भी कभी विदेशी सरकार के दास नहीं बने। शासन में रहकर शासक के विरोध में इन्होंने "हुंकार" भरी ही। अपनी जीविका की भी चिंता न कर इन्होंने युग-पुकार को वाणी दी थी। उसी दिनकर को स्वातंत्र्योत्तर भारत में आकर सरकारी माइक्रोफोन कहना सर्वथा असंगत है। मुख्य बात तो यह है कि वे संसद सदस्य रहकर भी कवि ही बने रहे है, राजनीतिज्ञ नहीं। कविगत प्रवृत्ति के अनुसार वे निरपेक्ष भाव से राजनीतिक मंच पर होने वाले उत्थान पतन को मौन होकर देखते हैं, अपने काव्य के लिए उससे प्रेरणा लेते हैं। नेताओं की तरह उस मंच पर प्रतिक्रिया व्यक्त करना उनका कवि धर्म नहीं है। यही कारण है कि इन्होंने अपनी कविता में इन राजनीतिक उत्थान-पतनों की चर्चा अवश्य की है परन्तु राजनीतिक मंच पर नेताओं की तरह नारे नहीं लगाये हैं। "परशुराम की प्रतीक्षा में" संसद सदस्य रहकर भी इन्होंने सरकारी नीतियों की खुली आलोचना की है—यही सबसे बड़ा प्रमाण है कि वे सरकार के गुलाम होने वाले कवि नहीं हैं। आवश्यकता होती है तो वे पर खण्डन की क्या बात आत्म खंडन करने में भी सकोच नहीं करते हैं। राजनीति में रहने पर भी उन्हें राजनीति गुलाम नहीं बना सकी है। इस प्रसंग में उन्होंने स्वयं लिखा है—"साहित्य का वृत्त इतना बड़ा है कि राजनीति उसमें समाहित हो जाती है। सांप के मुँह में जहर होता है लेकिन उसी मुँह से वह खाता-पीता है तब भी नहीं मरता। उसी प्रकार राजनीति का जहर मुझे नहीं व्यापता। मेरी आत्मा साहित्य के अमृत कोष में बसती है।"[२२]

निष्कर्ष यह कि दिनकर का कवित्व राजनीति में जाकर भी मरा नहीं है। वे राजनीति में रहकर भी राजनीतिज्ञ नहीं हो सके हैं। वे सदा राजनीतिक दाव-पेंच से बचते रहे हैं। राजनीतिक परिस्थितियों के प्रति उनकी प्रतिक्रियायें कविता में ही अभिव्यक्त हुई हैं—राजनीतिक मंच पर नहीं। वे अपने कविकर्म के प्रति सतत जागरूक रहे हैं।

3. राजसत्ता और प्रजातांत्रिक व्यवस्था:—राजसत्ता सामाजिक संगठन और सुव्यवस्था के लिए बनाई गई एक ऐसी अनिवार्य संस्था है जिसकी आवश्यकता समाज को सदैव बनी रहती है। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रचलित सामाजिक समझौते का सिद्धान्त इसलिए अत्यधिक सत्य प्रतीत, होता है। कालान्तर में संगठन को सुव्यवस्थित बनाने वाली सत्ता विशेष स्वयं अव्यवस्थित होने लगी और "सामाजिक समूह" ने इसमें परिवर्तन कर प्रजातंत्र को जन्म दिया। इसमें सत्ता "व्यक्ति विशेष" नहीं वरन् "विशिष्ट व्यक्ति समूह" के हाथ में आयी। यद्यपि मानव के स्वार्थ लोलुप स्वभाव के कारण सत्ता का यह सामूहिक रूप भी दूषित हो गया तथा व्यवस्था विहीन बन गया। मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार सामाजिक व्यवस्था के लिये राज्य सत्ता को अनिवार्य न मानकर केवल एक अस्थायी संस्था मात्र माना गया है। इसकी उत्पत्ति सामाजिक विकास की कुछ विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत मानी

गयी है तथा यह भी माना गया है कि उन परिस्थितियों के बदल जाने पर इसका विलीन हो जाना भी निश्चित है।[२३] परन्तु बहुत चाहने पर भी यह सत्ता कभी समाज में विलीन नहीं होती है। मनुष्य जीवन के साथ राज्य इस भांति आवश्यक बन गया है कि वह उसकी बुराइयों को जानते हुये भी उससे अलग नहीं हो पाता है। राजसत्ता के इसी ऐतिहासिक महत्व का विश्लेषण करते हुए एंगेल्स ने अपनी पुस्तक "परिवार निजी सम्पत्ति और राजसत्ता का जन्म" में लिखा है—"राजसत्ता कोई ऐसी शक्ति नहीं है जिसे समाज पर बाहर से लाद दिया गया हो।.....वह ऐसी वस्तु है जो समाज के विकास की एक अवस्था विशेष में उत्पन्न हुई है। वह इस बात की स्वीकृति है कि समाज अपने ऐसे विरोधों में उलझ गया है कि उनसे मुक्ति पाना संभव नहीं है।.....परन्तु विरोधी आर्थिक हितों वाले इस वर्ग का अन्तर्विरोध कही सार हीन निर्रथक संघर्षों में अपने को और समाज को भस्म न कर दे, एक ऐसी शक्ति आवश्यक हो गई जो देखने में तो समाज से ऊपर हो और जो इस संघर्ष को धीमा करके उसे व्यवस्था की सीमाओं में रखें। यह शक्ति समाज से उत्पन्न हुई है परन्तु अपने आपको समाज से ऊपर रखती है और उससे अधिकाधिक अलग होती जाती है।[२४]

समाज और राज्य दोनों के समुचित सहयोग के बिना मानवता का पूरा होना असम्भव हो जाता है। जब कभी राजसत्ता अपने "पालनकर्त्ता" के पुनीत कर्तव्य से च्युत होती हैं तभी मानव-समाज में अशान्ति, दुख और क्रान्ति का उदय होता है। फलतः साहित्य, धर्म, दर्शन, कला आदि पर राज्य सत्ता का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। युग के प्रति जागरूक कवि तो समाज का एक प्रकार से नेता होता है। दिनकर भी एक युग कवि हैं फलतः युगीन परिस्थितियाँ इन पर गहन प्रभाव डालती हैं। अपने अब तक के जीवन काल में दिनकर जी ने भारत में राजसत्ता के विभिन्न रूपों को देखा है, उनके आदेशों का पालन किया है। ब्रिटिश साम्राज्य की विस्तार-वादी सत्ता का भी कवि ने बड़े निकट से अनुभव किया है। उन्हें परतन्त्र जीवन के बड़े कटु अनुभव है। फिर स्वाधीनता के बाद प्रजातांत्रिक अवस्था का निरीक्षण भी कवि ने सूक्ष्म रूप से किया है। बड़ी प्रतीक्षा और प्रयत्न से पाये गए प्रजांतत्र को 'एनार्की'[२५] में बदलते हुये भी कवि ने देखा है। फलतः इनकी रचनाओं में कहीं एक तंत्रीय राज्य सत्ता की कटु आलोलना है तो कही प्रजातंत्र का आवाहन।

सत्ता और अत्यधिक सुविधा को पाकर व्यक्ति उच्छृंखल हो जाता है। उसे स्वयं उस स्रोत का स्मरण नहीं रहता जिसने उसे अधिकार संभूत और अधिकारी बनाया है। ऐसे राजा के प्रति दिनकर ने "कलिंग-विजय" शीर्षक कविता में बड़े ही तीखे शब्दों का प्रयोग किया है—

"हाय रे धन लुब्ध जीव कठोर
हाय रे दारुण मुकुट धर भूप लोलुप चोर
साज कर इतना बड़ा सामान,

स्वत्व निज सर्वत्र अपना मान,
खड्ग-बलका ले मृषा आधार,
छीनता फिरता मनुज के प्राकृतिक अधिकार।"[२६]

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कवि का दृष्टिकोण—राज्य की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई—इस समस्या पर कवि ने 'कुरुक्षेत्र' में सक्षेप में विचार किया है। कवि के अनुसार प्रकृति ने समान रूप से मनुष्य को जीने योग्य सुविधायें दी हैं। अतः मनुष्य को सारे सुखों का विभाजन भी समान रूप से ही करना चाहिये। इतिहास साक्षी है कि जब तक मनुष्यों में व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना इतनी तीव्र नहीं थी तब तक मानव समाज सुखी रहकर शान्तिपूर्ण जीवन—यापन करता था। सब लोग समष्टि सुत्र में बंधे थे। व्यक्ति का नैतिक स्तर ऊंचा था। वह किसी कानून के भय से नियमों का पालन नही करता था। किन्तु धीरे-धीरे व्यक्तिगत स्वार्थ प्रमुख होता गया। फलतः समाज में वैषम्य अनाचार दुख आदि फैलने लगे। समाज में सर्वत्र उछृंखलता आने लगी। दिनकर के मत से इसी दुः स्थिति में समाज ने राज्य सत्ता का सृजन किया। उसे राजा की आवश्यकता हुई जिसके दड—भय से लोग सुसंबद्ध रहकर जीना सीखे[२७] किन्तु कवि ऐसी दुः स्थिति से उत्पन्न राजसत्ता को श्लाघनीय नहीं मानता है। कवि के विचार मे स्वयं का बनाया हुआ यह बन्धन इतना प्रचण्ड हो जाता है कि मनुष्य उसमें बुरी तरह से जकड़ जाता है। कवि इस प्रकार के बंधन को मानवता की ग्लानि और संस्कृति का कलंक कहता है–

"राजतन्त्र धोतक है नर की मलिन निहीन प्रवृत्ति का
मानवता की ग्लानि और कुत्सित कलंक संस्कृतिका
आया था यह संगति रोकने को केवल दुर्गुण की
नहीं बांधने को सीमा उन्मुक्त-पुरुष के गुण को
सो देखो अब दिशा विचारों की भी निर्धारित है
राज्य धर्म से परे कर्म क्या चिंतन भी मारित है।"[२८]

प्रजातन्त्र के प्रति कवि का दृष्टिकोण—स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत ने स्व-शासन हेतु प्रजातंत्र की स्थापना की। दिनकर ने भारतीय जनता को जनतन्त्र बसाने से पहले ही जागृत करना चाहा जिससे वह अपने दायित्व को सम्हाल सके।[२९] प्रजातंत्र जनता का शासन है जो जनता के द्वारा और जनता के लिये होता है। इसीलिये प्रथम जनतन्त्र के अवसर पर कवि ने समस्त भारतीय जनता के लिये सिंहासन सजवाया। जनता का उस पर अभिषेक करना चाहा।[३०] कवि ने जनता के स्कंधों पर यह उत्तरदायित्व रखा कि वह शासन के यंत्रों पर अनुशासन रखे अन्यथा पूर्वावस्था की भाति यह जनतन्त्र भी दूषित हो जायेगा और समाज को राज्य विहीन होना पड़ेगा।[३१]

प्रजातंत्र में विरोधी पार्टियों की भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है। शासक वर्ग इसके आतंक से उच्छृंखल नहीं हो पाते है, मनमानी नहीं कर पाते हैं कवि ने प्रजातंत्र के इस महत्त्व को भी समझा तथा अपने काव्य में इसे भी वाणी दी।[३२]

भारत में स्थापित प्रजातन्त्र कालान्तर में अपने लक्ष्यों की पूर्ति न कर सका। प्राकृतिक नियम के अनुसार राज्य की इस प्रजातात्रिक व्यवस्था में भी दोष आने लगे। शोषण, अन्याय और स्वार्थ का भाव उभरने लगा। सताधारियों का स्वार्थ प्रबल हो उठा। वे अपने को निरंकुश समझने लगे। समाज का हित उनके समक्ष नगण्य हो गया।[३३] चुनाव के दोरों में जिन तथा कथित समाज सेवी नेताओं ने जनता के दुख दैन्य को दूर करने के बड़े-बड़े आश्वासन दिये थे, वे भी बदल गये। उनके आदर्शों का लोप हो गया। वे जन-सेवक के पद से गिर गये। एक ऐसे ही नेता का चित्र प्रस्तुत करते हुये कवि ने लिखा है—

"हो गया एक नेता मैं भी तो बंधु सुनो,
मैं भारत के रेशमी नगर में रहता हूँ।
जनता तो चट्टानों का बोझ सहा करती,
मैं चांदनियां का बोझ किसी विधि सहता हूं।"[३४]

राज सत्ता के बदलते हुये रूपों पर दिनकर ने 'दिल्ली' कविता में बड़े व्यंग्य किये हैं। दिल्ली के माध्यम से कवि ने शासक-वर्ग को काफी खरी-खोटी सुनायी है। 'दिल्ली' काव्य-संग्रह में स्वतंत्रता से पूर्व और पश्चात् दोनों ही शासक वर्गों के लिये रचित व्यंग्यात्मक कविताओं का संकलन है। इसमें विदेशी शासन तथा असफल स्व-शासन दोनों की आलोचना की गयी है। १९५२ में रचित 'हक की पुकार' कविता में कवि ने शासकों पर बड़ा ही तीखा प्रहार किया है—

"औ बुझी हुई ज्वालाओं की
राखों के ढेर सुने जाओ,
सोने के चंगुल मढ़े हुये,
गद्दी के शेर सुने जाओ।"[३५]

भारत का प्रजातत्र शनैः शनैः अराजक तत्र बनने लगा। अव्यवस्था बढ़ने लगी जिसे दिनकर ने 'एनार्की घोषित कर दिया।[३६] 'एनार्की कविता में कवि ने भारतीय प्रजातत्र के प्रत्येक वर्ग की अव्यवस्थित स्थिति का चित्र प्रस्तुत किया है।

देश में जब प्रत्येक नागरिक अपने को अधिक स्वतंत्र मानने लगता है तो वह अन्य व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन करने लगता है। इस स्थिति में अराजकता जन्म लेने लगती है और चतुर्दिक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।[३७] ऐसी अराजकता की स्थिति में तानाशाह की आवश्यकता होती है जो इस अराजकता को शान्त कर

व्यवस्था बना सके।[३८] दिनकर ने इस कविता में युग की सच्ची पुकार को मूर्त कर दिया है।

एक अभिनव व्यवस्था की खोज—प्रजातंत्र और राजतंत्र दोनों ही व्यवस्थाओं को देखने के बाद कवि एक ऐसी व्यवस्था के लिए इच्छुक है, जिससे राजा-प्रजा का भेद समाप्त हो जाए, सर्वहारा वर्ग को उन्नति की हर सुविधा मिल सके। सभी श्रम करें और सुखी रहें[३९] दिनकर ने यहाँ जिस अभिनव व्यवस्था की चर्चा की है उस पर किंचित मार्क्सवाद का प्रभाव लक्षित होता है। परन्तु यहाँ भी कवि की मौलिकता सुरक्षित है ही। उनकी यह व्यवस्था मार्क्सवाद से किंचित प्रभावित अवश्य है किन्तु मार्क्सवाद का अनुकरण नही है। डा. जनेश्वर वर्मा ने दिनकर की इस राज्य विषयक धारणा को मार्क्सवाद से प्रभावित कहते हुए भी उससे पृथक माना है। उन्होंने साफ शब्दों में कहा है—"जहाँ तक आस्था का प्रश्न है दिनकर मार्क्सवादी नही है।"[४०] "आत्मा की आँखें" काव्य संग्रह मे कवि ने "भावी राज्य" शीर्षक कविता लिखकर "कुरुक्षेत्र" में प्रस्तुत अपने उस दृष्टिकोण की पुनः पुष्टि की है। वे यहाँ एक ऐसे राज्य की कामना करते हैं जिसमें न यंत्रों का आधिपत्य हो, न विश्ववाद का नारा, न सत्ता के केन्द्रीकरण की भावना और न व्यक्ति के स्वत्वों का हरण।[४१]

निष्कर्ष यह कि युग कवि दिनकर राज्य सत्ता के विभिन्न रूपों के प्रति सतत जागरूक रहे हैं। इनके काव्य में राजनीनिक संचेतना का अभाव नही है। वे निरंतर होने वाले राजनीतिक परिवर्तनों के प्रति सचेष्ट रहे हैं। यही कारण है कि इनके काव्य में राजनीतिक सचेतना सर्वत्र उपलब्ध होती है।

दिनकर की सामाजिक चेतना—काडवेल के अनुसार कला एक सामाजिक प्रक्रिया है।[४२] कलाकार भी एक सामाजिक प्राणी होता है। परिस्थिति जन्य समस्त अनुभव तथा भविष्य के लिए आदर्श की कल्पना दोनों को वह कला के माध्यम से व्यक्त करता है। जहाँ वह युग से प्रेरणा लेता है वही वह युग को वाणी भी देता है। दिनकर का समस्त काव्य-साहित्य युग दर्पण है जिसमें युग की सभी समस्यायें प्रतिबिम्बित हुई हैं।

समाज की परिधि बड़ी व्यापक होती हैं। मानव जीवन के विभिन्न पहलू यथा अर्थ, धर्म, काम आदि सभी समाज के अन्तर्गत आते हैं। दिनकर के काव्य-साहित्य में सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्ष चित्रित हुये हैं। समाज के प्रति निवृत्ति और पलायन का भाव कवि में नहीं हैं। उन्हें कल्पना की अति उस सीमा तक मान्य नहीं है जिसमें जीवन के सूत्र खो जाते हैं। यथार्थ जीवन के प्रति अपेक्षाकृत उनमें ममत्व अधिक है।[४३] दिनकर की व्यापक सामाजिक चेतना के अन्तर्गत लोक व्यवहार, संस्कृति और भारतीय आदर्श भी सन्निहित है। इनका सारा काव्य-साहित्य समाज की पृष्ठभूमि में ही रचित है। समाज में छायी हुई अव्यवस्था और सामाजिक वैषम्य

में कवि को जब-जब आक्रान्त किया है तब-तब उन्होने सत्काव्य की सृष्टि की है। विशेषतः नारी की दयनीय स्थिति और बच्चों का भूख से तड़पनाइन दोनो ही परिस्थितियों में कवि में जब आक्रोष भाव जगा है तो उन्होंने पृथ्वी ही नहीं स्वर्ग लूटकर भी इन विषमताओं का अंत खोजने का प्रयत्न किया।[४४] । रेणुका' और 'हुंकार' कालीन समस्त सामाजिक स्थितियों को कवि ने अपनी रचनाओं में मुखर किया है।

अत्याचार और अन्याय कभी दिनकर को सहन नहीं होते। 'कुरुक्षेत्र' में भी कवि ने इन सामाजिक समस्याओं का हल खोजने का प्रयास किया है। दिनकर की मान्यता है कि सुख-सुविधाओं के समान वितरण के आधार पर ही समाज में शान्ति स्थापित हो सकती है।[४५] कवि ने युग व्यापी युद्ध को रोकने का सामाजिक हल भी प्रस्तुत किया है। उन्होने स्पष्ट शब्दो में कहा है कि व्यक्ति व्यक्तिगत सुखो का त्याग करे तथा समाज के लिये कुछ उत्सर्ग करे। समाज का खुला शोषण करने वालों को समाप्त कर दे।[४६]

भारतीय समाज का सम्यक प्रतीक ग्राम्य जीवन है। समाज का सबसे बड़ा भाग गांवों में रहता है। कोई भी कवि जो सामाजिक समस्या को लेकर काव्य रचना करता है उसे ग्राम्य जीवन से निकट का सम्पर्क बनाना ही होता है। दिनकर ने अपने प्रारंभिक जीवन के अधिकाश दिन गावों में बिताये हैं। फलतः ग्रामीण-जीवन के मीठे और कड़वे-दोंनों ही प्रकार के अनुभव कवि ने किये है। जहा ये ग्राम्य जीवन की सहजता, उसका भोलापन, उसकी निश्च्छलता तथा उसके प्राकृतिक सौन्दर्य से अभिभूत हुये हैं वहीं गांवों के निवासी किसानो की दयनीय दशा ने उनके मर्म पर कड़ी चोट दी है।' स्वतंत्रता के बाद भी जब कवि ने जनता के लिये सिंहासन खाली करवाना चाहा तब इन कृषको का कवि ने जो चित्राकन किया है वह भी कम करुण नहीं है—

'आरती लिये तू किसे ढूंढता है मूरख
मन्दिरों, राज प्रासादों, तहखानों में,
देवता कही सड़कों पर मिट्टी तोड़ रहे,
देवता मिलेंगे खेतों में खलिहानों में।'[४७]

इसके अतिरिक्त कवि ने परिवार, विवाह, लोक जीवन, ग्रामबोध, नगरबोध-सामाजिक जीवन के अन्यान्य पक्षों को लेकर भी रचना की है जिसका विवेचन 'सांस्कृतिक चेतना' वाले अध्याय में किया जायगा। यहां इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि राजनीतिक समस्याओं के प्रति सतत जागरुक रहने वाला कवि समाज को भी उपेक्षा-भाव से नहीं देखता है। कवि राष्ट्र के प्रति जितना ही वफादार है उतना ही समाज के प्रति भी।

(५) **व्यष्टिवादी तथा समष्टिवादी चेतना—**

"व्यष्टि समष्टि का विवाद व्यर्थ है झगड़ा मनमाना है,
है समष्टि ही हार व्यक्ति तो मोती का दाना है।
आते सारे भाव व्यक्तियों के समाज से छन कर
पुनः लौट जाते समष्टि में वे ही गायन बन कर।
जहां व्यक्ति स्वाधीन अधिक है नाश वहां छायेगा,
अनुशासन के बिना व्यक्ति प्राप्त न कुछ कर पायेगा।
झुक समष्टि को जिस दिन व्यष्टि दान देती है।
तभी व्यक्ति के भीतर करुणा, विनय जन्म लेती है।"[४८]

दिनकर का काव्य-साहित्य व्यष्टि और समष्टि के इसी समन्वय पर आधारित है। जनकवि[४९] और युग चारण[५०] आदि विशेषणों से युक्त कवि की व्यष्टिवादी तो कहा ही नहीं जा सकता। उनकी काव्यधारा का विवेचन करने पर भी जो निष्कर्ष निकलता है, उसमें भी व्यष्टि का समष्टि के लिये उत्सर्ग ही प्रमुख है। यों कवि ने व्यष्टि की सत्ता को भी नकारा नही है। श्री विश्वनाथसिंह के शब्दों में—'जीवन के प्रति कवि का दृष्टिकोण बड़ा सीधा और सरल है। इसीलिए उनकी गतिशील चेतना अहं की रक्षा करते हुये भी परिवर्तन शील इद्म का समादर करती है। इसमें दोनों के समन्वय की चेष्टा है। कला का सृजन व्यक्ति के द्वारा होता है और पालन समष्टि के द्वारा। अतः आत्म सुख और जनहित दोनों उसके अनिवार्य तत्व हैं। दोनों का सामंजस्य ही उसकी सफलता है। कला न आत्मकथा है न हितोपदेश वह न कलाकार का मानस-बिहार है और न लोक सुधार का बौद्धिक उपचार। वह भावयोग की सामाजिक साधना है। सच्चा कलाकार लोक हित में स्वान्तः सुखाय का अनुभव करता है। इसे ही वस्तुतः कलागत या काव्यगत अव्यक्तिवाद कहते हैं जिसमें व्यक्ति का विसर्जन हो जाता है। यही लोक हृदय की सच्ची पहचान है जिसके सहारे हृदय की मुक्तावस्था रसदशा को प्राप्त करती है। यह साधना बहुत बड़ी और दिनकर का कवि इस साधना का साधक है।[५१]

अपने प्रारंभिक रचनाकाल से ही दिनकर ने व्यष्टि के स्थान पर समष्टि के महत्व को स्वीकार किया है।[५२] 'हुंकार' 'साधना और विधा' नामक कविता इसी भावना की द्योतक है। व्यक्ति पर युग धर्म की और सौन्दर्य पर शिव् की विजय ही कवि का ध्येय है। कविता का प्रतिपाद्य चाहे राष्ट्रीयता हो चाहे शृंगार–दोनों में कवि का उद्देश्य समग्र जगत भाव का चित्रण ही रहता है। यद्यपि डा. सावित्री सिंहा ने दिनकर की राष्ट्रीय भावना को समष्टिगत कहा है और शृंगार चेतना को व्यष्टिगत।[५३] किन्तु यह निर्णय तथ्याश्रित नहीं। दिनकर की शृंगार-चेतना की प्रतिनिधि रचना 'उर्वशी' है। उर्वशी में व्यक्त काम चेतना, जिसे कवि ने समस्या के रूप में लिया है, आधुनिक समाज की मूलभूत समस्याओं में एक है। 'उर्वशी' की भूमिका

में भी कवि ने पुरुरवा को सनातन नर और उर्वशी को सनातन नारी का प्रतीक कहा है।[५४] फिर 'उर्वशी' की शृंगार चेतना को व्यक्तिपरक कैसे मान लिया जाए ? 'सवन्ती' की शृंगार चेतना को भी वैयक्तिक नहीं कहा जा सकता। उसके मूल में भी ग्रामीण नारी मनोभाव का ही हाथ है। स्वयं डा. सावित्री सिंहा ने भी सहर्ष स्वीकार किया है कि "रसवन्ती की रचनाओं को समसामयिक वैयक्तिक काव्य-धारा के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता।[५५] निष्कर्ष यह है कि दिनकर की शृंगार-चेतना में भी छायावादी वैयक्तिकता का सर्वथा अभाव है।

दिनकर ने यदा-कदा अपने काव्य में निरपेक्ष आनन्द की वकालत की है। 'कोयला और कवितत्व' संग्रह की कोयला और कवित्व' शीर्षक कविता में कवि का यह भाव व्यजित हुआ है। इसके अतिरिक्त 'शुद्ध कविता की खोज' भी इन्होने कुछ अशों तक कला के लिये वाली धारणा की संपुष्टि की है। इस आधार पर संभव है आलोचक इन्हें व्यष्टिवादी कवि स्वीकार कर लें किन्तु वस्तु स्थिति तो कुछ और ही है। डा. सत्यकाम वर्मा के विचार से अगर इन्हें दिनकर के काव्य का आदर्श भी मान लिया जाए तो इन स्थलों पर दिनकर के अपने ही काव्य विषयक सिद्धांत चरितार्थ नहीं होते हैं।[५६] दिनकर के विशाल जन साहित्य में इस एक कविता का क्या अस्तित्व हो सकता है ? इसे तो अवसाद के क्षणो की रचना कह सकते हैं। काडवेल ने तो काव्य को ही सामाजिक माना है। उनके अनुसार 'कवि का कल्पना-जगत सामाजिक यथार्थ का ही प्रतिबिम्ब अथवा मानस चित्र है। और इस नाते काव्य व्यक्ति के माध्यम से सामाजिक सत्य की ही अभिव्यक्ति है।[५७] ऐसी प्रवस्था में जब कलाकार भावों को अभिव्यक्त करता है तो दिनकर के शब्दों में—

"बूंदे जब गिरती समुद्र में व्यथा कौन पाती है ?
सागर में मिलकर अगाध सागर ही बन जाती है,'।[५८]

दिनकर का 'द्वन्द्वगीत' एक अलग दृष्टिकोण का काव्य-ग्रथ है। कहा गया कि 'द्वन्द्वगीत' कवि की नैराश्य प्रधान, पलायनवादी काव्य वृत्ति है।[५९] वस्तुतः उसमें राग-विराग, आस्था-अनास्था तथा कर्म और पलायन का द्वन्द्व है। किन्तु, द्वन्द्व कभी भी एकांगी और व्यक्ति प्रधान नही होता। उसमे द्वैत की सत्ता अवश्यभावी है। यद्यपि 'द्वन्द्वगीत' के द्वन्द्व में अर्न्तमुखता की प्रधानता है परन्तु पलायन और अवसाद का वह भाव नही है जो जीवन में विमुखता ला सके। उदाहरण स्वरूप 'द्वन्द्वगीत' की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

"पीले विष का भी घूंट बहक
तब मजा सुरा पीने का है।
तन कर बिजली का वार सहे
तब गर्व नये सीने का है।
सिर की कीमत का मान हुआ
तब त्याग कहां बलिदान कहां। ?"[६०]

क्या, इन पंक्तियों में पलायनवादी स्वर है ? क्या, इन्हें व्यष्टिवादी कहा जायेगा ? अगर उत्तर स्वीकारात्मक है तो निश्चय ही दिनकर का सारा काव्य साहित्य व्यक्तिवादी साहित्य कहा जायेगा क्योंकि ऐसे ही उत्साह और आवेग पूर्ण जीवन जीने की सलाह इन्होंने आद्योपान्त दी है। निष्कर्ष यह है कि 'द्वन्द्वगीत' में भी व्यष्टिवाद की प्रधानता नही है। इसमें भी समष्टि उपेक्षित नही है। प्रो. कपिल के शब्दों में—"दिनकर ने जहां व्यक्ति पक्ष तथा उसके विभिन्न राग-विरागों का चित्रण किया है वहीं लोक पक्ष में समाज के कल्याणार्थ हमारे सामाजिक द्वन्द्वो को अभिव्यक्त भी किया है।[६१] प्रो. कपिल की इस मान्यता में पूर्ण बल है। 'तकदीर का बंटवारा' शीर्षक कविता इस बात का प्रमाण है कि दिनकर ने इसकी रचना पृथक सस्कृति में विश्वास रखने वाले यहा के निवासियों के प्रति पारस्परिक सामंजस्य भाव के लिये ही की थी।[६२]

दिनकर मिट्टी का गायक है। कल्पना की ऊंची उड़ाने उन्हें सन्तुष्टि प्रदान नहीं करती। उनके अभिमत में कल्पना जीवन का यथार्थ नहीं होती। अतः पृथ्वी पर रहकर स्वप्नो को उतनी ही सीमा तक दुलारा जा सकता है जहाँ तक उनका सूत्र पृथ्वी से जुड़ा हो। दिनकर का यह कर्मठता प्रधान यथार्थवादी जीवन-दर्शन 'द्वन्द्वगीत' में भी प्रकट हुआ है।[६३]

'कुरुक्षेत्र' में भी कवि ने स्पष्टतः कहा है कि व्यष्टिवाद की प्रमुखता के कारण ही समाज की दुर्दशा हुई है।

"इस वैयक्तिक भोगवाद से फूटी विष की धारा।
तड़प रहा जिस में पड़कर मानव समाज यह सारा"।[६४]

कवि व्यक्ति विशेष के अति मानवीय गुणों से संभूत उस व्यक्तित्व का भी प्रशंसक नहीं है जो मनुष्य को समाज से विलग करता है। समाज को त्यागने वाले मुमुक्ष सन्यासी से भी कवि प्रसन्न नही है।[६५]

निष्कर्ष यह है कि दिनकर अपने सम्पूर्ण काव्य में समष्टि भाव के ही पोषक प्रतीत होते हैं। जहां व्यष्टिभाव का प्रसंग आया भी है तो कवि ने उसे समष्टि भाव से समन्वित कर दिया है। वे कहीं भी निरे व्यक्तिवाद के पक्षधर नहीं बने हैं। उनका व्यष्टिवाद भी समष्टिवाद की ओर उन्मुख है।

(६) **आर्थिक संचेतना**—समाज-निर्माण की पृष्ठभूमि में अर्थ की भूमिका महत्वपूर्ण होती है—इसे स्वीकारने में दो मत नहीं हो सकते। अर्थ समाज के क्रमिक विकास का भौतिक आधार है। इसी आधार पर मानव समाज का भवन निर्मित हुआ है। कवि के काव्य की पृष्ठभूमि में समाज का महत्वपूर्ण स्थान होता है। प्रेरणा के समस्त स्रोत उसे समाज से ही मिलते हैं। कवि एक विशेष प्रकार का व्यक्ति होता है जिसकी चिंतना-शक्ति, ग्रहण-शक्ति और अभिव्यक्ति-कला सामान्यजनों से

भिन्न होती है। फलतः वह जो भी प्रेरणा ग्रहण करता है उसके लिये उसे समाज पर ही निर्भर करना पड़ता है। उसके जन्मकाल से ही समाज हेतु जीवनोपयोगी सुविधायें प्रस्तुत करता है। वह मृत्यु पर्यन्त अपना जीवन समाज के ही साये में यापन करता है। समाज के अभाव में व्यक्ति की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अर्थ समाज का मेरुदण्ड है, समाज-निर्माण की वह मुख्य पीठिका है। फलतः आर्थिक संचेतना से प्रसूत काव्य युग-काव्य की कोटि में आता है। दिनकर का काव्य इसी कोटि का है जिसमें समाज की सर्वांगीण व्याख्या हुई है। आर्थिक संचेतना पर भी गम्भीरता-पूर्वक विचार हुआ है।

अपने आर्थिक दृष्टिकोण में दिनकर बहुत कुछ मार्क्सवाद के निकट पड़ते हैं। 'नील कुसुम' की 'कांटों का गीत' तथा 'आत्मा की आंखें' की 'बुजुर्आ' शीर्षक कविताओं में कवि के इसी भाव की परिपुष्टि हुई है। किन्तु, मार्क्सवाद के प्रति कवि का यह आकर्षण भाव शाश्वत् नहीं है। कवि की आर्थिक चेतना भारतीय समाज की निजी चेतना है। कवि का सिद्धान्त है—

"ध्येय विपुल धन नहीं ध्येय तो सचमुच निर्धनता है
+ + +
निर्धन का धन बढ़े घटे धनवान बात समुचित है।[६६]

कवि के इस आर्थिक सिद्धान्त में भारतीय मनीषियों की आत्मा बोल उठी है। हां, प्राचीन भारतीय आत्मा में इसका स्वरूप दार्शनिक था, यहां वह सामाजिक बन गया है।

आर्थिक वैषम्य—दिनकर का युग आर्थिक वैषम्य का युग है। स्वतन्त्रता के बाद भी यह वैषम्य मिट नहीं सका। दिनकर ने स्वतन्त्रता से पूर्व भी जहां कहीं इस वैषम्य का चित्रण किया है वहां समाज अपने यथार्थ रूप में प्रकट हुआ है। 'रेणुका' और 'हुंकार' का कवि जब समाज की इस आर्थिक विषमता से पीड़ित मानव को देखता है तो उसकी अन्तरात्मा चीख उठती है। उसका कवि हृदय व्यथित होकर आक्रोश से भर उठता है। वह देखता है कि राम और कृष्ण के पुनीत देश भारत में 'कन्याओं' के लज्जावसन बेचकर ऋण का ब्याज चुकाया जाता है। अमीरों के कुत्ते दूध-दही से नहाते हैं और गरीबों के लाड़ले भूख से बिलबिलाते हैं, मां की सूखी हड्डी से चिपक-चिपकर जाड़े की रात काटते हैं।[६७] भारतीय समाज की यह आर्थिक विषमता पराकाष्ठा पर है। स्वतन्त्र भारत का रेशमी नगर दिल्ली" वैभव की दीवानी बनी हुयी है और दूसरी ओर कृषकों तथा मजदूरों के बच्चे दूध-दूध चिल्ला रहे हैं। उनके घर में दोनों समय चूल्हे भी नहीं जलते हैं। देश की इस आर्थिक विषमता से पीड़ित कवि दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' में इस पर सार गर्भित रूप से विचार किया है। उन्होंने वहां निर्णय दिया है कि जब तक समाज में यह

आर्थिक विषमता बनी रहेगी, सुख सुविधाओं का समान विभाजन नहीं होगा–समाज में शान्ति नहीं आ सकती—

"न्यायोचित सुख सुलभ नहीं जब तक मानव मानव को,
चैन कहा धरती पर तब तक शान्ति कहां इस मन को,
जब तक मनुज-मनुज का सुख भाग नही सम होगा,
शमित न होगा कोलाहल संघर्ष नही कम होगा।"[६८]

'रेणुका' की 'कविता की पुकार' शीर्षक कविता में समाज का यही स्वरूप चित्रित हुआ है।[६९]

धर्म पर अर्थ के प्रभुत्व का विरोध – दिनकर के रचना युग में धर्म भी अर्थ से पीड़ित हुआ है। मन्दिरों में भी अर्थ को प्रधानता दी गयी है। ईश्वर पूजा की विधियों में भी अर्थ को प्रमुखता मिली है। दीनों-दलितों के लिए ईश्वर के द्वार भी बन्द हो गये हैं। मन्दिरों में भी धनवानों के लिए विशेष सुविधायें हैं। धर्म के भी वे ही ठेकेदार हो चले हैं जिनके हाथ में अर्थ का ठेका है। समाज के इस वैषम्य से कवि हृदय मर्माहत हो उठता है। वह विलख उठता है–

"आज दीनता को प्रभु की पूजा का अधिकार नहीं
देव बना था क्या दुखियों के लिये निठुर ससार नहीं।
धन पिशाच की विजय धर्म की पावन ज्योति मलीन हुई।"[७०]

फिर, कवि भगवान बुद्ध का आह्वान करता है। उसे विश्वास है कि सामाजिक वैषम्य मिटा कर एकता का पाठ पढाने वाले भगवान बुद्ध आकर इस अस्पृश्य मानवता का अवश्य उद्धार करेंगे। इसी हेतु कवि भाव विह्वल होकर भगवान बुद्ध को दौड़कर आने के लिए पुकार लगाता है—

"दौड़ो बौधि सत्व भारत में मानवता अस्पृश्य हुई।"[७१]

स्वातन्त्र्योत्तर युग में भी आर्थिक प्रभुत्व का विरोध–राष्ट्र स्वतंत्र हुआ किन्तु आर्थिक विषमता मिटी नहीं अपितु उत्तरोत्तर बढती ही गई। धनी और धनी बनते गये, गरीब और गरीब। लूट खसोट का बाजार और भी गर्म हो गया। यह वैषम्य पहले से भी अधिक हो गया। धनसंचय की वृत्ति के समक्ष राष्ट्रीय श्रद्धाभाव भी तिरोहित हो चला। विदेशियों द्वारा राष्ट्र पर आक्रमण होने पर भी इन धन-कुवेरों ने धन देने की अपेक्षा धन जोडना ही उचित समझा। कवि का आक्रोश इन धन कुबेरों पर बरस पड़ा। उन्होंने चीखते हुए इन धन के ठेकेदारों से पूछा—

"पूछो कुबेर से कब सुवर्ण वे देंगे ?
यदि आज नहीं तो सुयश और कब लेंगे ?
तूफान उठेगा प्रलय वाण छूटेगा,
है जहां स्वर्ग बम स्यात वहीं फूटेगा।

जो करें किन्तु कंचन यह नहीं बचेगा,
शायद सुवर्ण पर ही संहार मचेगा।"[७२]

राष्ट्र की इस आपत्ति में भी लक्ष्मी संचय करने वालों को कवि ने 'नया जार" कहा है—

"वह मनुष्य मर गया,
शेष जो है लक्ष्मी का जार है
गीत उसे क्या,
जो कुवेर पद पाने का उम्मीदवार है।"[७३]

कवि का विश्वास है कि जिस धन के अभाव में मानव जीवन की शृंखलायें टूट जाती हैं, उसी के संचय से पापों का आधिक्य हो जाता है।

"धन से मनुष्य का पाप उभर जाता है
निर्धन जीवन यदि हुआ बिखर जाता है।[७४]

आर्थिक वैषम्य का द्वन्द्व इस प्रकार से कवि का काव्य-दर्शन बन जाता है। मानव कल्याणार्थ तथा समाज के अभिनवीकरण हेतु कवि इस वैषम्य को मिटा देना चाहता है। कवि की यह आर्थिक संचेतना भारतीय वातावरण से प्रसूत पूर्णतः व्यवहारिक है। आर्थिक समस्याओं के चित्रण में कवि ने युग और समाज की स्थिति तथा मांग को सतत दृष्टि में रखा है।

७. **निष्कर्ष**—दिनकर की कविता में राजनीतिक स्थितियों, सामाजिक स्थितियों एवं आर्थिक स्थितियों का पर्याप्त प्रभाव है। किन्तु इन सब की अभिव्यक्ति में कवि ने युग को ध्यान में रखा है। राजनीतिक चेतना की क्या बात—उनकी सामाजिक और आर्थिक चेतना भी युग प्रसूत हैं। सर्वत्र कवि ने युग को ही वाणी दी है। अस्तु यहां भी यही कहा जा सकता है कि दिनकर युग चेतना के संवाहक रचनाकार हैं।

———

संदर्भ

१. विमल–प्राचीन प्रमुख हिन्दी कवियों का मूल्यांकन, पृ० २२५
२. साहित्यमुखी पृ० २७
३. साहित्यमुखी, पृ० १२
४. चक्रवाल की भूमिका, पृ० २१
५, चिल्लाते हैं विश्व, विश्व 'कह जहां चतुर नर ज्ञानी
बुद्धि भीरु सकते न डाल जलते स्वदेश पर पानी
जहां मास्को के रण वीरों के गुण गाये जाते हैं
दिल्ली के रुधिराक्त वीर को देख लोग सकुचाते हैं।
एक देश है जहां विषमता से अच्छी हो रही गुलामी
जहां मनुज पहले स्वतन्त्रता से हो रहा विश्व का कामी
जहाँ मनुज है पूज रहा जहाँ जग को, विसार सुधि अपने घर की।
दिल्ली, पृ० ९–१०
६. जलते हैं हिन्दू मुसलमान, भारत की आँखें जलती हैं
आने वाली आजादी की लो दोनों आंखें चलती हैं
वे छुरे नहीं चलते, छिलती जाती स्वदेश की छाती है
लाठी खाकर भारत माता बेहोश हुई जाती है।—सामधेनी, पृ० ३१
७. हुंकार, पृ० ५८
८. 'लगा राजनीतिक रहा अगले चुनाव पर घात ।
परन्तु नेता पद प्राप्त करने पर वह बदल जाता है
शक्ति और सिद्धान्त राजनीतिक जनों में खूब चमकते हैं
जब तक अधिकार न मिलता
मंत्री बनने पर दोनों ही दब जाते हैं।" –नये सुभाषित, पृ० २१
९. 'नये मंत्री के शासन की यह महिमा विचित्र है
जब तक इस पर रहो नहीं दिखलाई देगी
शासन की हीनता, न भ्रष्टाचार किसी का,
किन्तु उतरते ही उससे सहसा हो जाता
सारा शासन चक्र भयानक पुंज पाप का
और शासकों का दल चोर निकल जाता है।

जब तक मन्त्री रहे मौन थे किन्तु पद–च्युत होते ही
जोरों से टूटने लगे हैं भाई, भ्रष्टाचारों पर।" नये सुभाषित, पृ० २२

१०. वही पृ० २३,

११. नीम के पत्ते, पृ० २०

१२. टोपी कहती मैं थैली बन सकतीं हूँ
कुर्त्ता कहता मुझे बोरियां ही कर लो
इमान बचा कर कहता है आंखें सबकी
बिकने को हूँ तैयार खुशी हो जो चाहे दे दो।" नीम के पत्ते, पृ० १८

१३. परशुराम की प्रतीक्षा–खण्ड १

१४. घातक है जो देवता सदृश्य दिखता है
लेकिन कमरे में बैठ गलत हुक्म लिखता है
जिस पापी को गुण नहीं गोत्र प्यारा है
समझो उसने ही हमें यहां मारा है
जो सत्य जानकर भी न सत्य कहता है
या किसी लोभ के वश मूक रहता है
उस कुटिल राजतंत्री को धिक है
वह मूक सत्य हंता कम नही बधिक है।
चोरों के है हितु जो ठगो के बल हैं।
जिनके प्रताप के बल में पलते पाप सकल हैं
जो छल प्रपंच सबको प्रश्रय देते हैं।—परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ३७

१५. युगचारण दिनकर, पृ० ६७

१६. कुरुक्षेत्र, पृ० २१

१७ परशुराम की प्रतीक्षा–खण्ड ५

१८. वही पृ ५८

१९. यह सुनो भविष्य पुकार रहा,
यह दलित देश का त्राता है,
स्वप्नों का द्रष्टा जय प्रकाश
भारत का भाग्य विधाता है। सामधेनी, पृ० ८२

२०. इस घमासान अंधियाले में आशा का दीपक एक शेष
जनता के ज्योतिर्नयन तुम्हें ही देख-देख जी रहा देश'
नीम के पत्ते, पृ० ३२

२१. "पार्लियामेंट का सदस्य बनने के बाद दिनकर राष्ट्र और जनता का कवि कम और राजनीति का कवि अधिक बन जाते है।"

जनता जनार्दन के चारण पद को छोड़कर वे
कुछ समय के लिए सरकार के माइक्रोफोन बन
गये। अब वे भारत के भाग्य विधायकों में से
एक थे। और, विधायकों का काम केवल नियम
बनाना है। उनके प्रभावो और प्रतिक्रियाओं के
प्रति वह बेखबर और बेपरवाह रहता है।

डा. सावित्री सिहा–युग चारण दिनकर, पृ. २९९

२२. दिनकर का पत्र, २०-१०-६४ (दिनकर-व्यक्तित्व कृतित्व : श्रीमती एस. के. पदमावती) से साभार उद्धत।

२३. डा. जनेश्वर वर्मा, आधुनिक हिन्दी कविता पर मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव। पृ. १३

२४. The origin of the family, private proporty and the State : F. Engels : quoted by Letin : the State and revolution : p. p. 13.

२५. परशुराम की प्रतीक्षा–पृ. ८०

२६. सामधेनी–पृ. २

२७. दे न सका नर को जो सुख भाग प्रीति से, नय से,
आज दे रहा वही भाग राज खड्ग के भय से।
अवहेला कर सत्य, न्याय के शीतल उद्गारों की,
समझ रहा नर आज भली विधि भाषा तलवारो की। कुरुक्षेत्र–पृ. ११५

२८. वही, पृ. ११७

२९ "जनतंत्र बसाने के पहले
जन को जाग्रत करना होगा।" धूप और धुआँ–पृ. ६५

३०. "सबसे विराट जनतंत्र जगत का आ पहुँचा,
तैंतीस कोटि हित सिहासन तैयार करो।
अभिषेक आज राजा का नहीं प्रजा का है,
तैंतीस कोटि जनता के सिर पर मुकुट धरो।"

वही पृ. ७० (जनतंत्र का जन्म)

३१. "शासन के यंत्रों पर रखो आँख कड़ी
छिपे अगर हों दोष उन्हें खोलते चलो,
प्रजातंत्र का क्षीर प्रजा की वाणी है,
जो कुछ है बोलना अभय बोलते चलो।" नये सुभाषित–पृ. २१

३२. "प्रजातंत्र का वह जन असली मीत,
सदा टोकता रहता जो शासन को,
जन सत्ता का वह गाली संगीत,
जो विरोधियों के मुख से झरती है।" नये सुभाषित, पृ. २३

३३. "नया नियम निकला की राज्य सबसे ऊपर है।
उससे भी ऊपर जितना पहले ईश्वर था,
अतः व्यक्ति या प्रजा धूलि-तृन वत नगण्य है।" कोयला और कवित्व पृ. ५६

३४. दिल्ली-भारत का यह रेशमी नगर–पृ. १९

३५. दिल्ली–पृ. १६

३६. परशुराम की प्रतीक्षा–पृ. ६५

३७. "गणजन किसी का न तंत्र है,
साफ बात यह है कि भारत स्वतन्त्र है।
भिन्नता संभाले तार-तार की
राज करती है यहां चैन से एनकी।" परशुराम की प्रतीक्षा–६८

३८. "ऊपर बढ़े जो और गरमी,
डेमोक्रेसी दूर करो हमें तानाशाह दो।" वही पृ. ६६

३९. श्रम होता सबसे अमूल्य धन सब जन खूब कमाते,
अशंक रहते अभाव से सब इच्छित सुख पाते।
राजा प्रजा नहीं कुछ होते मात्र मनुज ही,
भाग्य लेख होता न मनुज को कर्मठ भुज ही।"–कुरुक्षेत्र–पृ. १०९

४०. हिन्दी कविता पर साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव–पृ. १९९

४१. आत्मा की आंखें–पृ. ७१–७२

४२. "Art is a social function."
–Critophere Caudwell, Studies in a Dying Culture- P.P. 44

४३. "विद्युत छोड़ दीप साजूंगी महल छोड़ तृण कुटी प्रवेश,
तुम गांवों के बनो भिखारी मैं भिखारिणी का लूं वेश।"
–चलो कवि वन फूलों की ओर।"
–रेणुका–पृ. १४

४४. वे भी यही दूध से जो अपने स्वानों को नहलाते हैं,
ये बच्चे भी यहीं कब्र में दूध-दूध जो चिल्लाते हैं,
हिला चाहता मूल सृष्टि का देख रहा क्या खड़ा-खड़ा
हटो व्योम से मेघ पंथ से स्वर्ग लूटने हम आते हैं।
दूध-दूध ओ वत्स तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं। हुंकार–पृ. २३

४५. न्यायोचित सुख सुलभ नहीं जब तक मानव-मानव को.
चैन कहाँ धरती पर तब तक शान्ति कहां इस मन को,
जब तक मनुज-मनुज का सुख भाग नही सम होगा,
शमित न होगा कोलाहल सघर्ष नहीं कम होगा। कुरुक्षेत्र–पृ. ८७
(सप्तम सर्ग)

४६. "रण रोकना है तो उखाड़ विषदंत फेंको,
थक व्याघ्र भीत से मही को मुक्त कर दो।
अथवा अजा के छागलो को भी बनाओ व्याघ्र,
दातों में कराल कालकूट विष भर दो,
बट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष
ठिठुर रहे हैं उन्हें फैलने का वर दो
रस सोखता है जो मही पर भीमकाय वृक्ष
उसकी शिरायें तोड़ों डालियां कुतरदो।" कुरुक्षेत्र–पृ. १०२
"रोमंथन करती गायें आ रही रौदती घास हरी,
घर-घर से उठ रहा धुआँ जलते चूल्हे बारी-बारी।
चौपालों में कृषक बैठ गाते कंह अटके बनवारी।
पनघट से आ रही पीत वसना युवती सुकुमार,
किसी भांति ढोती गागर यौवन का दुर्वह भार।" रेणुका–पृ. १४

४७. जेठ हो कि पूस हमारे कृषकों को आराम नही,
छु बैल से संग कभी जीवन में ऐसा याम नही,
मुख में जीभ शक्ति भुज में जीवन में सुख का नाम नहीं
वसन कहाँ सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नही।
विभव स्वप्न से दूर भूमि पर दुखमय संसार,
खलिहानों में मचा करता है हाहाकार।
बैलों के ये बन्धु वर्ष भर क्या जाने कैसे जीते हैं ?
जुवां बंद बहती न आँख गम का शायद आँसू पीते हैं। 'हुँकार'

४८. नील कुसुम–पृ. १०४

४९. डा. सत्यकाम वर्मा–जनकवि-दिनकर

५०. डा. सावित्री सिन्हा–युग चारण दिनकर

५१. विश्वनाथ सिंह–कवि दिनकर–पृ. ४३ (डा. सावित्री सिन्हा द्वारा संपादित ग्रंथ)।

५२. समय असमय का तनिक न ध्यान
मोहिनी यह कैसा आह्वाहन

× ×

फेंकता हूँ लो तोड़ मरोड़ अरी निष्ठुर बीन के तार,
उठा चाँदी का उज्जवल शंख फूकता हूँ भैरव हुँकार।" हुँकार–पृ. १०

५३. युग चारण दिनकर–पृ. ५६

५४. उर्वशी की भूमिका–पृ. 'ख'

५५. कवि दिनकर–स. डा. सावित्री सिन्हा– पृ. ७७

५६. जनकवि दिनकर पृ. ८

५७. The Phantasy of Poetry is a social image, therefore, the phantastic world of poetic ritual myth or drama expresses a social truth.—Chritophere Candwell : Illusion and poetry : P. P. 31.

५८. दिनकर की सूक्तियाँ : व्यष्टि और समष्टि,

५९. डा. सावित्री सिन्हा–युग चारण दिनकर पृ. १०२

६०. द्वन्द्वगीत–पृ. ५७

६१. दिनकर और उनकी काव्य कृत्तियां–पृ. ९६

६२. ठोकर मार फोड़ दे उसको जिस बर्तन में छेद रहे
वह लंका जल जाय जहाँ भाई-भाई में भेद रहे।
गजनी तोड़े सोमनाथ को काहे को दे फूँक शिवा,
जले कुरान अरबी रेतो में सागर जा फिर वेद रहे। द्वन्द्वगीत–पृ. ५३

६३. "जिनको न तटी से प्यार उन्हें
अम्बर में कब आधार मिला,
यह कठिन साधना बंधु,
मिट्टी को किये प्रणाम चलो।" वही पृ. ५६

६४. कुरुक्षेत्र–पृ. १२८

६५. व्यक्ति का है धर्म तप, करुणा, क्षमा
व्यक्ति की शोभा विनय भी त्याग भी
किन्तु, उठता प्रश्न जब समुदाय का,
भूलना पड़ता हमें तप, त्याग को।

\+ \+

दुर्लभ नहीं मनुज के हित निज वैयक्तिक सुख पाना।
किन्तु कठिन है कोटि-कोटि मनुजो को सुखी बनाना। कुरुक्षेत्र–पृ. १४८
ऊपर-ऊपर शून्य-शून्य है कुछ भी नही गगन में,
धर्मराज जो कुछ है इस मिट्टी में जीवन में। वही पृ. १०

धर्मराज कर्मठ मनुष्य का पथ सन्यास नहीं है
नर जिस पर चलता है वह मिट्टी है आकाश नहीं हैं। वही पृ. ६८

६६. कोयला और कवित्व, पृ. ४५
६७. हुंकार-पृ. २३
६८. कुरुक्षेत्र–पृ. ३१
६९. रेणुका पृ.–१६
७०. रेणुका पृ. १८
७१. वही
७२. परशुराम की प्रतीक्षा–पृ. ५
७३. नील कुसुम–पृ. ६५
७४. परशुराम की प्रतीक्षा–२९

3

राष्ट्रीय चेतना और अतीत परिकल्पना

1. राष्ट्रीय चेतना–जन्म और विकास—खड़ी-बोली हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय चेतना का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से होता है। इस युग की राष्ट्रीय चेतना में निराशा के स्वर की प्रधानता थी। वर्तमान की दुर्दशा पर आंसू बहाने के अतिरिक्त उसमें बचा ही क्या था ? तिलक, गांधी और सुभाष जैसे व्यक्तित्व या कांग्रेस जैसी संस्था का भी अभाव था, जिनमें देश आशा की किरण ढूंढता। द्विवेदी युग में आकर मैथिलीशरण गुप्त, नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी आदि के सद् प्रयासों से हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता की धारा अग्रगामी हुई जिसमें आशा और उद्‌बोधन के स्तरों की प्रधानता थी। द्विवेदी युग में ही तिलक और गांधी जैसे राष्ट्रीय नेताओं का प्रभाव राष्ट्र पर छा चुका था। जन समाज इनके कुशल नेतृत्व में राष्ट्र का कल्याण देख रहा था। कांग्रेस भी ऐसी संस्था हो चुकी थी जिसके नेतृत्व में राष्ट्र का भावी कल्याण दिख रहा था। कहने का अर्थ यह कि द्विवेदी युग के बाद हिन्दी काव्य मुख्य रूप से गांधीवादी दर्शन से प्रभावित हो गया था। ठीक इसी समय राष्ट्र के तरुणों का एक वर्ग भी राष्ट्र की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिये कठिन प्रयत्न कर रहा था परन्तु इसका मार्ग गांधी से बिल्कुल अलग यानि अहिंसात्मक न होकर बल प्रयोग का था। कांग्रेस में भी वामपंथी युवकों की विचारधारा गांधीवादी अहिंसक नीति से विपरीत जा रही थी। दिनकर ने इन्हीं वामपंथी युवकों और क्रान्तिकारियों के स्वरों को काव्यात्मक वाणी दी है। दिनकर की इसी विचारधारा पर अभिमत व्यक्त करते हुये डा० सावित्री सिन्हा ने कहा है– 'दिनकर की कविता इस पीढ़ी की राष्ट्रीय कविता से अलग है क्योंकि आरंभ से ही उसमें गांधीवादी युग के उन नवयुवकों की विद्रोही और उग्र मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति हुयी है जो दक्षिण पंथी कांग्रेसियों के विरुद्ध थे जिनका प्रतिनिधित्व उस समय कांग्रेस में और बाहर नेहरू और सुभाषचन्द्र बोष तथा जयप्रकाश नारायण कर रहे थे।"[1] वस्तुतः दिनकर की क्रांति के स्वर उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे जो भगतसिंह की उग्र एवं आतंकवादी प्रवृत्तियों का उपासक था और जिसकी जवानी का गर्म रक्त ब्रिटिश सरकार की दमन नीति के विरोध में उबल रहा था। 'हुंकार' तक आते आते कवि की यह प्रवृत्ति अपने पूर्ण औदात्य पर पहुंच गयी थी।

दिनकर के विशाल काव्य साहित्य में उनकी राष्ट्रीय चेतना एक विकास

गामी रूप लिये अग्रसर हुयी है। स्वतंत्रता से पूर्व उनकी राष्ट्रीयता से सर्वत्र गर्जन तर्जन से भरा हुआ 'हुंकार' है, विद्रोह से युक्त क्रान्तिकारी स्वर है। किन्तु स्वातंत्र्योत्तर युग में आकर कवि की यही राष्ट्रीय चेतना पंचशील सह अस्तित्व और अन्तर्राष्ट्रीयता से विश्व मानवतावाद की ओर उन्मुख होती हुयी, भारत चीन-युद्ध तक आते आते उस पंथ में विलग होकर पुनः एक नवीन मार्ग की ओर अनुगमन करती है, जिसमें विद्रोह, आक्रोश और आतक का भाव है। अतः दिनकर की राष्ट्रीय चेतना के क्रमिक विकास का परिचय हम उसे परिस्थितियों से जोड़कर ही प्राप्त कर सकते हैं।

'रेणुका' में दिनकर की राष्ट्रीय चेतना का प्रारंभिक रूप है। उसमें कवि के स्वर केवल क्रान्ति के हैं। "तांडव" का रुद्र रौद्र भावो का प्रतीक है जिसके द्वारा कवि ने युगीन अत्याचार, आडम्बर और अहंकार का नाश चाहा है—

"गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो
लगे आग इस आडम्बर में,
अहंकार के उच्च शिखर से
स्वामिन अंधड़ आग बुझा दो
जले पाप जग का क्षण भर में।"[२]

हिमालय' शीर्षक कविता में भी कवि ने ऐसी ही कल्पना की है—

"कह दे शकर से आज करें
वे प्रलय नृत्य फिर एक बार
सारे भारत में गूंज उठे हर-हर बम-बम का महाच्चार।"[३]

दिनकर की इस प्रारंभिक राष्ट्रीय चेतना मे विनाश का एक सशक्त स्वर है और निर्माणकारी तत्वो का पूर्ण अभाव। वे अपने आसपास की सामयिक स्थिति से दमन की दानवी लीला से इतने आक्रान्त हैं कि उसके विरोध में ध्वंस और विप्लव ही चाहते हैं।"[४] दिनकर की यह प्रारभिक राष्ट्रीयता पूर्ण भावुकता प्रधान है। उनकी इस प्रवृति पर आलोचकों ने उन्हें 'सस्ती भावुकता के कवि' की संज्ञा दी है।[५] दिनकर-साहित्य की समर्थ आलोचिका डा० सावित्री सिन्हा ने रेणुका में व्यक्त उनकी वीरता को अंधी वीरता और क्रान्ति को 'अंधी क्रान्ति कहा है। उनके शब्दों में यह क्रान्ति यह ज्वाला अव्यवस्था फैला सकती है परन्तु समस्या का अन्तिम समाधान नहीं बन सकती।"[६]

विद्वान आलोचकों की ऐसी सम्मतियों के साथ पूर्णतः सहमत होना तत्कालीन परिस्थितियों की मांग को उपेक्षित करना है। दिनकर ने जिन परिस्थितियों के मध्य रहकर 'रेणुका' कालीन कविताओं की रचना की थी, उस काल की विभिन्न समस्याओं के संदर्भ में जब हम कविताओं का मूल्यांकन करते हैं तो दिनकर की भावुकता के प्रति हममें भी निष्ठा जग जाती है। उस पर अनायास ही आस्था

जम जाती है। चाहे वह कोरी भावुकता ही क्यों न हो, किन्तु युग-क्रान्ति के कगार पर खड़े कवि की वाणी की यह क्रान्ति पूर्ण अभिव्यक्ति जिसमे हृदय के सहजोद्गार है, 'सस्ती' और 'अधी' विशेषण के योग्य नहीं है। कवि को आतंकवादी, अधी वीरता और अव्यवस्था फैलाने वाला कह कर भी हम उसके महत्व को अस्वीकार नहीं सकते। क्रान्ति और विप्लव का आवाहन करने वाला कवि यदि शान्ति शान्ति की पुकार करने लगे, सुधार का मार्ग प्रशस्त करने लगे तो क्रान्ति सभव हो नहीं हो सकती। तूफान का विस्फोट कभी यह नही सोचता कि उसका प्रभाव कितना भयकर और प्रलयकारी होगा। परिस्थितियो से पीड़ित एवं त्रस्त हृदय को शान्ति के बारे मे सोचने का अवसर ही कहा मिलता है? फिर कविता तो परिस्थिति जन्य विस्फोट से प्रभावित हृदय का स्वत: निसृत आवेग होती है। अत स्वत: निसृत आवेग की भावुकता मे इसके लिये अवसर कहा? यह विचार-विश्लेषण तो गद्य की विचार प्रधान अभिव्यक्ति मे ही सभव है। दिनकर के काव्य में तो परिस्थितियों का यह यथार्थ विस्फोट ही व्यजित हुआ है जिसे कवि ने निर्भीक अभिव्यक्ति देकर युग का सच्चा प्रतिनिधित्व किया है। दिनकर के काव्य की यह भावुकता तत्कालीन परिस्थितियों के सदर्भ मे देखने पर पूर्णत: स्वस्थ, सार्थक, तर्कसंगत, सत्य सम्पृक्त तथा युगानुकूल प्रतीत होती है। स्वतत्र भारत के आलोचक अब 'रेणुका' की कविताओं में चाहे जितनी त्रुटियां देखे किन्तु परतंत्र भारत की घुटन को अनुभव करने वाला कोई आलोचक यदि तटस्थ भाव से उसकी परीक्षा करेगा तो दिनकर की राष्ट्रीयता का औचित्य स्वत: उसके समक्ष आ जायगा और हृदय अनायास ही उसके महत्व को ग्रहण कर लेगा। निष्कर्ष यह कि दिनकर की युग सापेक्ष्य राष्ट्रीयता का मूल्यांकन अगर युगीन परिस्थितियों को ध्यान मे रख कर किया जायतो कवि और काव्य दोनो के प्रति न्याय होगा।

'रेणुका' में युगीन राजनीतिक परिस्थितियों को स्पष्ट करने वाली तीन कवितायें है— 'बागी' 'कस्मै-देवाय' और 'बोधिसत्व' जिनमे अछूतोद्धार, किसान-आंदोलन साम्प्रदायिकता और आर्थिक शोषण के चित्र है। ये समस्यायें समाज और राष्ट्र दोनों की थी इसी हेतु दिनकर ने आदि कवि की वाणी को युग वाणी मे परिवर्तित करने का आग्रह किया है—

"लाखों क्रौच कराह रहे है,
जाग आदि कवि की कल्याणी
फूट फूट तू कवि कंठों से
बन व्यापक निज युग की वाणी।"[7]

अपने युग की आवश्यकताओं को देखते हुये कवि को यह ज्ञात होने लगा था कि अध्यात्म और उच्च मानवता के सिद्धान्त जिन्हें गांधी ने अहिंसा के रूप में अपनाया है, आज के मानव के लिये उपादेय नहीं हो सकते। अतः स्वतंत्रता प्राप्ति के हेतु हिंसात्मक मार्ग को कवि समाज के सन्मुख प्रस्तुत करना चाहता है। 'हिमालय' शीर्षक कविता में कवि ने शौर्य और शक्ति के प्रतीकों की खुली मांग की है—

"रे रोक युधिष्ठर को न यहां
जाने दे उनको स्वर्ग धीर
पर फिरा हमे गांडीव गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।
तू मौन त्याग, कर सिंहनाद
रे तपी आज तप का न काल
नव-युग शंख-ध्वनि कर जगा रही
तू जाग, जाग मेरे विशाल।"[५]

इसी भांति 'हुंकार' की 'अनल किरीट' शीर्षक कविता मे जो जवानी नेजों से खेलती है वह गांधीवादी युग के कवि की वाणी है जिसकी आस्था अहिंसा मे नहीं क्रान्ति के सैनिक मे है। दिनकर के इस सैनिक भाव का पूर्ण विकास 'परशुराम की प्रतीक्षा' मे हुआ है। 'महामानव की खोज' शीर्षक कविता मे गाँधी नीति पर कवि का पहला निर्भीकता पूर्ण आक्रमण हुआ है—

"ऊब गया हूँ देख चतुर्दिक अपने
अजा धर्म का ग्लानि विहीन प्रवर्तन
युग सतम सुबद्ध पुनः कहता है
ताप कलुष है शिखा बुझा दो मन की॥[७]

स्वाधीनता के बाद कुछ दिनों के लिये दिनकर की यह गर्जना मंद पड़ गयी। अब उनके प्रमुख ध्येय राजनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय नीति हो गये। इस धारा की प्रमुख रचना 'नील कुसुम' है। इसमें कवि का दृष्टिकोण बदला हुआ है। 'जनतंत्र का जन्म' 'भूदान' 'किसको नमन करु मैं' 'राष्ट्र देवता का विसर्जन' आदि कवितायें युग प्रेरित शांतिवादी और मानवतावादी भावनाओं की प्रतीक हैं।

दिनकर के इन बदलते हुये मूल्यों और परम्परा भंजन की प्रवृति ने एक अभिनव पथ पर प्रस्थान किया था कि देश पर चीन का आक्रमण हुआ। राष्ट्रीयता आहत हुई। खून की नदियाँ बही। जीवन मूल्य भंग हुये। फलतः युग की मांग

पर कवि ने अपने सुषुप्त अनल और आक्रोश को पुनः जगाया। शान्ति और अहिंसा सम्बन्धी राष्ट्र की सारी मान्यता ध्वस्त हो गयी थी। राष्ट्रीयता पर लगी हुई चोट से कवि तिलमिला उठा। फलतः उसने उद्घोष किया– कि गाँधी की मर्यादा की रक्षा के निमित्त राष्ट्र की प्रतिष्ठा को बचाने के लिये गांधी की इस अहिंसक नीति से भागो–

'गिराओ बम गोली दागो
गांधी की रक्षा करने को गांधी से भागो।'[10]

निष्कर्ष यह कि हम 'रेणुका' से लेकर 'परशुराम की प्रतीक्षा' तक कवि को युगीन राष्ट्रीयता के उद्बोधक रूप में पाते हैं। दिनकर को राष्ट्र सर्वाधिक प्यारा है। राष्ट्रीयता की मर्यादा पर आंच लाने वाले सिद्धान्त या व्यक्ति चाहे वह अपने में कितना बड़ा क्यों न हो दिनकर की आलोचना का शिकार अवश्य होता है। 'रेणुका' से 'परशुराम की प्रतीक्षा' तक के विकास क्रम में राष्ट्र की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत हो गयी है।

२. अतीत परिकल्पना : इतिहास और खण्डहर प्रेम–

इतिहास एवं ऐतिहासिक पुरुष :

दिनकर की राष्ट्रीय चेतना ने अपने प्रारंभिक सूत्र अतीत की गौरवमयी परम्परा से संचित किये है। वर्तमान मानव की हीनता को हटाने के लिये तथा शक्ति-स्फूर्ति एवं उत्साह के पुनर्जागरण के लिये इन्होंने अतीत के गौरव गीत गाये है। इस ऐतिहासिक चेतना ने इनके राष्ट्रीय कवि रूप को उभारा है।[11] वर्तमान की द्वन्द्व पूर्ण स्थिति में जब निराकरण का कोई भी मार्ग प्राप्त नहीं होता, तो कवि अतीत की ओर निहारता है, इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों की ओर दृष्टिपात करता है। भारतीय इतिहास के ऐश्वर्यमय अतीत और भव्य खंडहरों से प्रकाश लेकर कवि ने वर्तमान के आंगन को जगमगाना चाहा है।

जहाँ तक कवि के इतिहास से प्रेरणा लेने की बात है वे मुख्यतः तीन कारणों से इतिहास की ओर प्रेरित हुये हैं– १. छायावादी प्रभाव, २ सांस्कृतिक महत्व और ३. अतीत गौरव के प्रकाश में वर्तमान समस्याओं के समाधान की आकांक्षा।

(क) छायावादी प्रभाव

अपने अतीत के प्रति आसक्ति भाव को स्वयं कवि ने भी छायावादी प्रभाव माना है। कवि के ही शब्दों में– "छायावादी कविता का मूलाधार भावुकता थी

और भावुकता जब वर्तमान से असन्तुष्ट हो जाती है तब स्वभावत: वह अतीत की ओर लालसा से दौड़ती है।"[12] संस्कारो से प्राप्त इस आसक्ति भाव को कवि ने राष्ट्रीयता के साथ रखकर बड़ा ही उज्ज्वल रूप प्रदान किया है। दिनकर के काव्य मे जिस अतीत प्रेम की चर्चा की गयी है उसे छायावादी पलायन नही कह सकते। कवि वर्तमान दुखद जीवन से क्षणिक विश्राम पाने के लिये ही अतीत की सुखद गोद में जाना चाहता है–

"देवि दुखद है वर्तमान का यह असीम पीड़ा सहना
कहीं सुखद इससे मस्मृति मे है अतीत का रहना।[13]

प्रस्तुत उद्धरण में करुणा और अवसाद का जो अल्प भाव आया है सिर्फ वही छायावादी प्रभाव है। 'पाटलिपुत्र की गगा मे' वैशाली और मगध का गौरव गान गाया है, अप्रत्यक्ष रूप से अतीत के माध्यम से वर्तमान को जगाने का प्रयास किया गया है। 'रेणुका' की 'मगध महिमा', 'मिथिला' आदि कविताओ में कवि ने इसी भाव को व्यक्त किया है। दिनकर के इस भाव को और भी स्पष्टता प्रदान करने के लिये 'इतिहास के आसू' की कुछ पक्तियाँ द्रष्टव्य है– "कवि को भारतीय संस्कृति और भारतीय वैभव से बडा प्रेम है। वह प्रत्येक परिस्थिति में उसके मूल्यों की महत्ता चाहता है यही कारण है कि जब उन पर आघात होता है तो कवि कभी गर्जना के स्वर मे हुंकार भरता है, कभी इतिहास पर आंसू बहाता है।)यह उनकी पलायनवादी प्रवृत्ति छायावादी वृत्ति की पुनरावृत्ति है ऐसा कहना कवि की भावना के साथ अन्याय करना है।[4]

(ख) अतीत संस्कृति के प्रति मोह

(भारतीय सस्कृति और अतीत के गौरवमय इतिहास से कवि को बड़ा प्रेम है। उनके काव्य-ग्रन्थो मे ऐतिहासिक प्रतीको के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति हुई है। अपनी इसी संस्कृति प्रेमी प्रवृत्ति के कारण कवि ने ऐतिहासिक पुरुषो और ऐतिहासिक घटनाओ का सहारा लिया है। चन्द्रगुप्त, अशोक, राणा प्रताप, अर्जुन, भीष्म, युधिष्ठर, कर्ण आदि इनके प्रिय पात्र है। जब कभी सांस्कृतिक मान्यताओ को भंग होने कवि देखता है तो वह पुकार उठता है—

ढूढों उन्हे जगाओ जिनकी ध्वजा गिरी है
जिनके सो जाने से सिर पर काली घटा घिरी है।[15])

अपनी विख्यात व्यग्य रचना 'दिल्ली' मे भी कवि ने इन्ही ऐतिहासिक पुरुषों को जगाया है।[16] विदेशी सस्कृति के ससंग से दिल्ली ने अपने युगो से संचित

गरिमा को भुला दिया और वह भारतीयता के लिये कलंक बन गयी। उसके इसी रूप पर दिनकर का क्रोध उबल पड़ा है। उन्होंने गर्जना के स्वर मे भर्त्सना के गीत गाये है। 'दिल्ली' की रचना की यही पृष्ठभूमि है।

देश में चतुर्दिक छाये हुये निराशा जन्य अंधकार को दूर करने के लिये कवि ने इतिहास का मंगल आवाहन किया है। वह सुप्त भुवन के प्राणो मे श्रृंगी के स्वर में जागृति की ऐसी लहर उत्पन्न करना चाहता है जो अतीत की विभूति और भविष्य की आशा से सम्पृक्त हो—

"गत विभूति भावी की आशा ले-
युग धर्म पुकार उठे
सिहो की घन अंध गुहा मे ज्योति पूर्ण हुंकार उठे
प्रिय दर्शन इतिहास कठ मे आज ध्वनित हो काव्य बने
वर्तमान की चित्रपटी पर भूतकाल संभाव्य बने।[17]

आधुनिक युग में फैली हुई धार्मिक अव्यवस्था के लिये भी कवि ने अतीत मे समाधान चाहा है। 'बोधिसत्व' कविता मे युग धर्म को प्रचारित करने वाले भगवान बुद्ध से भारत मे पुनः अवतरित होने के लिये प्रार्थना की गई है क्योंकि भारत का धार्मिक क्षेत्र संक्रान्ति युग से गुजर रहा है धन पिशाचो ने निर्धनो का जीवन दूभर कर दिया है। यहां तक कि दीनो हीनो के धार्मिक अधिकारो का भी हनन हो गया है। ऐसी स्थिति में कवि भारत की उस प्राचीन गरिमा का स्मरण करता है और उस मिट्टी को याद करता है, जिस पर धर्म का उपवन सहज ही पल्लवित हुआ था।

"यह मिट्टी वह, खिला धर्म का जहा अवदात
फूटा जहां मृदुल करुणा का पहला दिव्य प्रपात।"[18]

निष्कर्ष यह कि प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनन्य भक्त होने के कारण दिनकर ने वर्तमान सभी समस्याओं के समाधान के लिये गौरवमय अतीत से प्रेरणा लेना ही उपयुक्त समझा है, कवि वर्तमान को उद्बोधन और शक्ति देने के लिये ही भूत का आहवान करता है। उसने अतीत के वैभव का गान इसलिये किया है कि वर्तमान का परास्त मानव यह जानकर उद्वेलित हो कि उसका भूत कितना गौरवशाली रह चुका है।[19]

(ग) अतीत का स्मरण और वर्तमान के अभ्युत्थान की आकांक्षा

दिनकर ने अतीत की घटनाओं और प्रतीकों के सहारे वर्तमान के उत्थान

की कामना की है । अपने अतीत के प्रति आकर्षण भाव को कवि ने 'कोयला और कवित्व' मे कहा है–

जब भी अतीत मे जाता हूं, मुर्दो को नहीं जिलाता हूँ
पीछे हटकर फेंकता बाण, जिससे कम्पित हो वर्तमान
खंडहर हो हों भग्नावशेष पर कहीं बचा हो स्नेह शेष
तो जा उसको ले जाता हूं, निज युग का दिया जलाता हू ।[20]

ऐसे जीवन्त अतीत को जगाने के बाद कवि उसमे खोये हुये जीवन मूल्यो को खोजता है । राष्ट्र जब दलित होता है तो व्यक्ति अपने पूर्व संचित शौर्य को विस्मृत कर द्विधाग्रस्त हो जाता है । वैसी दिशा मे कवि उन्हे इतिहास के वीर पुरुषो का स्मरण कराकर उनमे शौर्य भावना भरने का प्रयास करता है–

'झकझोरो झकझोरो महान सुप्तो को
टेरो-टेरो चाणक्य चन्द्रगुप्तो को
विक्रमी तेज असि की उद्दाम प्रभा को
टेरो टेरो माता लक्ष्मी बाई को
+ + +
साहसी सूर के उस मतवाले को
टेरो टेरो आजाद हिन्द वाले को
खोजो टीपू सुल्तान कहां सोये हे
बम वाले वीर जवान कहां सोये हैं
वे भगतसिंह बलवान कहा सोये है ।[21]

कवि द्वारा प्रस्तुत ऐसे ओजमय स्थलो पर निराशा और क्लीवता ठहर नही सकती । सुनने-पढ़ने वालो के मन मे स्वतः उत्साह जाग्रत हो उठता है । वे विश्वस्त हो जाते हैं कि जिनका इतिहास इतना ओजमय और उत्साह वर्द्धक है, उन्हे कौन परास्त कर सकता है । इसी तरह 'हिमालय' शीर्षक कविता मे कवि ने शौर्य और उत्साह के लिये ऐतिहासिक पुरुषो का वह व्यक्तित्व मागा है जो शक्ति प्रदान कर सके, सकटों का सामना करने की क्षमता दे सके ।[22] निष्कर्ष यह कि दिनकर के अतीत प्रेम ने वर्तमान मे हमेशा शौर्य भरा है, उत्साह भरा है ।

खंडहर प्रेम और गौरवमय अतीत का स्मरण

इतिहास प्रेम के अन्तर्गत दिनकर के खडहर प्रेम सम्बन्धी भावों का

भी उल्लेख आवश्यक है। खंडहर कवि को गौरवमय अतीत का स्मरण कराते हैं। कवि कहता है–

"यह टूटा प्रासाद सिद्धि का महिमा खंडहर।
ज्ञान पीठ मानवता की तपो भूमि उर्वर है
इस पावन गौरव समाधि को सादर शीश झुका।[23]

\+ \+ \+

धूलों में जो चरण चिन्ह है पत्थर पर जो लिखी कथा है
मुझे ज्ञात है उस खंडहर के कण कण में जो छिपी व्यथा है।[24]

ये खण्डहर उन अमर विभूतियों के स्मारक हैं, जिनकी श्रेष्ठता कभी विश्व ने भी स्वीकार की थी। इसी आधार पर भारत का ज्वलंत इतिहास निर्मित हुआ था।

चीनी आक्रमण के समय जब भारत शांति और सह अस्तित्व की छलना में छला गया था, उस समय भी दिनकर ने प्रेरणा के लिये इन खण्डहरों की ओर जाने का आदेश दिया था–

"खण्डहरों भग्न कोटों प्राचीरों में जहान्वी नर्मदा यमुना के तीरों में
कृष्णा कछार में काबेरी कूलों में सोये हैं जो रणबंकी उन्हें टेरो रे
नूतन पर अपनी शिखा प्रज्ञ फेरो रे।"[25]

कवि के इस खंडहर प्रेम ने राष्ट्र को आपत्ति के समय में प्रेरणा दी है। निराशा से दूर हटाकर आशा का संचार किया है, और आलस्य कापुरुषता आदि को मिटाकर शक्ति एवं उत्साह भाव का संचार किया है।

दिनकर को यह विश्वास है कि जिस देश का इतिहास वीरता वह्नि बन कर जगमगा रहा है, जिनके वीर पूर्वज आई हुई आपत्तियों को हंसते हंसते झेल चुके हैं, उस जाति को पराभूत करना किसी के वश की बात नहीं है–

जिसका सारा इतिहास तप्त जगमग हैवीरता वह्नि से भरी हुयी रग रग है
जिसके इतने बेटे रण झेल चुके हैं शूली किरीच शूलों से खेल चुके है
उस वीर जाति को वन्दी कौन करेगा बिकराल आग मुट्ठी में कौन भरेगा।[26]

दिनकर के इतिहास और खंडहर प्रेम का महत्त्व इसलिये है कि उसमें सांस्कृतिक चेतना का समावेश है तथा वर्तमान को उद्बुद्ध करने की शक्ति भी। युग कवि दिनकर वर्तमान का गायक है। फलतः वर्तमान को मंगलमय बनाने के लिये तथा भविष्य को गरिमामय बनाने के लिये वे अतीत की ओर अग्रसर हुये हैं। कवि को पुरातन का वही स्वरूप मान्य है जो–

"जिये देश का वह अतीत जो आगे जी सकता है।[27]

अपने सिद्धान्त पक्ष की व्याख्या करते हुये कवि स्पष्ट शब्दों में कहता है कि मैं भूतकाल का जितना भी सम्मान क्यों न करूं वर्तमान को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखता हूं। बदलती हुयी घड़ियों से आदेश लेकर वर्तमान के लिये सब कुछ होम कर देता हूँ–)

महाकाल का मन से जितना भी सम्मान करूं मैं
वर्तमान के लिये होम लेकिन सब कुछ देता हूँ
और बदलती घड़ियों से आदेश सदा लेता हूँ।[२८]

तात्पर्य यह कि इतिहास और खण्डहर प्रेम के पीछे वर्तमान को अतीत से प्रेरणा दिलाने की भावना ही पृष्ठभूमि के रूप मे सक्रिय है।

३. पौराणिक चेतना और राष्ट्रीय चेतना

संस्कृति और इतिहास का समर्थ गायक कवि पुराण की प्रेरणा स्थली तक न जाय यह असंभव है। भारतीय पौराणिक पुरुषो मे राम और कृष्ण जैसे महान चरित नायक है जो आज भी भारतीय जन-जीवन के प्रेरणा स्रोत बने हुये है। पौराणिक आख्यान दिनकर का बड़ा ही प्रिय विषय है। महाभारत प्रसंग पर लिखा गया 'कुरुक्षेत्र' हिंसा अहिंसा तथा युद्ध और शान्ति की तात्कालिन स्थिति को प्रकट करने वाला एक सशक्त काव्य ग्रन्थ है। सामाजिक समस्याओ का समाधान प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ 'रश्मिरथी' की पृष्ठभूमि भी पौराणिक आख्यान ही है। आधुनिक युग की सर्वाधिक जटिल समस्या 'काम' का मनोवैज्ञानिक विश्लेषणात्मक रूप प्रस्तुत करने हेतु 'उर्वशी' में कवि ने पुरुरवा और उर्वशी के पौराणिक आख्यान को आधार बनाया है। दिनकर की पौराणिक चेतना इतनी सशक्त है कि वे घटनाओं के अतिरिक्त चरित्रों में भी वर्तमान की समस्याओं का निदान प्रस्तुत करते हैं। उन्हें भारत की वह प्राचीन मान्यता, जो पौराणिक पात्रों को देवत्व के उच्च सिहासन पर आसीन कराकर हमसे उन्हें अलग कर देती है, मान्य नही है। पुराण के वे प्रेरणाप्रद पात्र जो वर्तमान जीवन की समस्याओं के समाधान में सहायक हो सके कवि उन्हीं को आदर्श मानता है। पौराणिक पात्रों का आदर्श च्युत रूप उन्हें कदापि मान्य नहीं है–

"दो उन्हें राम तो मात्र नाम वो लेगी विक्रमी सराशन से न काम वे लेंगी
नवनीत बना देती भट अवतारी को मोहन मुरलीधर पांचजन्य धारी को
पावक को बुझा तुषार बना देती हैं गांधी को शीतल क्षार बना देती हैं।"[२९]

(चीन-आक्रमण के समय कवि की इस नीति की यथार्थता प्रतिपादित हो गयी। अपनी 'अतीत-चेतना की भाँति ही कवि ने पौराणिकता को आधुनिकता का पूरक

बनाने का प्रयास किया है। आज के युग धर्म ने यह स्पष्ट कर दिया है कि हमारे जीवन और सिद्धांतों के बीच सामंजस्य होना चाहिये। पुराणों का कोरा अध्यात्मवाद और पौराणिक पात्रों की अतिमानवीयता का आदर्श आज के युग में हमारा मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकता। ऐसे कोरे सिद्धान्तों से हमें पराजित होना पड़ेगा—

"उपशम को जाति धर्म कहती है शम दम विराग को श्रेष्ठ कर्म कहती है
धृति को प्रहार, शान्ति को धर्म कहती है अक्रोध विनय को विजय मर्म कहती है
अपमान कौन वह जिसको नहीं सहेगी सबको असीम सबका बन दास रहेगी।"[30]

इस प्रकार दिनकर की सारी काव्य-चेतना युग धर्म की पुकार से भरी हुयी है। उनके काव्य की समस्त प्रेरणा वर्तमान के समाधान के लिये आयोजित है। ऐतिहासिक पौराणिक सभी पात्रों एवं घटनाओं से प्रेरणा प्राप्त कर दिनकर ने वर्तमान को ही भव्य बनाने का प्रयास किया है। पौराणिकता उनकी संस्कारों से प्राप्त चेतना है। इतिहास उनका प्रिय विषय है। फलतः राष्ट्रीय काव्य रचना के समय उनकी दृष्टि स्वतः ही इतिहास और पुराण की ओर चली जाती है। पुराण, इतिहास, धर्म-शास्त्र आदि की गौरवमयी निधियों से वे अपने वर्तमान का रूप रंग संवारते हैं। संक्षेप में दिनकर की राष्ट्रीय चेतना का निर्माण इतिहास, पुराण और खंडहर प्रेम ने ही किया है।

४. शांति और अहिंसा का स्वर :

शान्ति और अहिंसा का सम्बन्ध मानव सभ्यता के विकास के साथ है। अपनी आदिम स्थिति से ही मनुष्य की सभ्यता ज्यों-ज्यों विकासोन्मुख होने लगी त्यों-त्यों मानव ने इसके महत्व को समझना प्रारंभ किया। सभ्यता के विकास के साथही मानव ने अनुभव किया कि बिना शान्ति पूर्ण व्यवस्था के जीवन का सर्वांगीण विकास असंभव है।

भारत की सभ्यता और संस्कृति की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। संस्कारवश भारतीय शान्ति प्रेमी रहे हैं। प्राचीन काल की क्या बात आधुनिक काल में भी भारतियों की शान्ति प्रियता विश्व का आदर्श है। ब्रिटिश शासन की परतंत्रता से मुक्त होने के लिए भी भारत ने शान्ति और अहिंसा का ही सहारा लिया। विश्व ने यद्यपि इसे आश्चर्य से देखा। उसकी समझ में यह नहीं आया कि इतने बड़े साम्राज्यवाद को शान्ति और अहिंसा से कैसे जीता जा सकता है? किन्तु भारत स्वपथ पर अडिग रहा, और आने वाली परिस्थिति ने यह स्पष्ट प्रमाणित कर दिया कि विजय शान्ति वादियों की ही हुयी। यद्यपि इस विजय की नींव में महाराणी लक्ष्मीबाई, चन्द्रशेखर आजाद, भगत सिंह, सुभाषचन्द्र बोस आदि की सरफरोशियां भी बड़ी महत्वपूर्ण थी।

स्वतंत्रता के बाद भारत ने पुनः एक बार शान्ति और अहिंसा का स्वर

निनादित किया। पंचशील और सह-अस्तित्व के नारों से विश्व गूंजने लगा किन्तु १९६२ के चीनी आक्रमण के बाद देश ने अनुभव किया कि शान्तिवादी नीति सर्वत्र सफल नहीं हो सकती। जब युद्ध जबरदस्ती थोप दिया गया हो तब शान्ति की नीति से उसका प्रतिकार नहीं किया जा सकता। युद्धकाल में शान्ति की नीति बहुत उपादेय नहीं सिद्ध हो सकती। अतः सम्पूर्ण विश्व ने शान्ति और अहिंसा के सिद्धांतों को कार्य रूप में परिणत करने की समस्या पर विचार किया। समय की पुकार के प्रति जागरूक रहने वाले कवि दिनकर की दृष्टि से भी यह वैचारिक आन्दोलन छिपा न रह सका। अतः उन्होंने भी इस समस्या पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया। अध्ययन के सुविधार्थ हम उनकी शान्ति नीति को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं— एक स्वतन्त्रता से पूर्व की शान्तिवादी नीति और दूसरी स्वतन्त्रता के बाद की शान्ति-नीति। स्वतंत्रता से पूर्व दिनकर के सामने राष्ट्र की स्वाधीनता का प्रश्न था। अतः स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिये विप्लव, विद्रोह और क्रान्ति के गीत ही गाते रहे। शान्ति की समस्या पर गभीरता पूर्वक विचार उन्होंने 'कुरूक्षेत्र' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' में किया है। अतः यहां इन्हीं दोनों ग्रन्थों का इसी दृष्टि से अलग अलग अध्ययन किया जायगा।

शांति की समस्या का वैचारिक विवेचन–

शान्ति की समस्या का विश्लेषण करते हुये कवि इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि शान्ति, शोषक वर्ग के पास होती है। शोषकों का जीवन ऐश्वर्य और विलास से युक्त होता है। दूसरी ओर शोषितों के पास तो अभाव होते है। फलतः अभाव-ग्रस्त होने के कारण उनमें असन्तोष जगता है और वे सघर्ष के लिये विवश हो जाते हैं। शोषक वर्ग छल बल से शोषितो का सब कुछ लूट कर जब समृद्धिशाली हो जाता है तो कहने लगता है कि विश्व में सर्वत्र शान्ति ही शान्ति है। इसमे अशान्ति का गरल मत घोलो। उनके मतानुसार शोषितो का असन्तोष और विद्रोह अनुशासन भंग करने की मनोवृति का परिचायक होता है। सत्ता का एकीकरण और पूंजीवाद का अत्याचार दिनकर को मान्य नही है। उनके विचार से ये समृद्धि सम्पन्न शोषक तो शान्ति के प्रेमी बनेंगे ही। परन्तु जब तक सुख के विभाजन में असमानता रहेगी तब तक शान्ति संभव नहीं हो सकती।[31] आश्चर्य की बात तो यह है कि ये शोषक वर्ग समय के रूख को भी नही देखते। वरन अपने शोषण और दमन से शोषितों को क्रांति के लिये बाध्य कर देते है। शाति के नाम पर दमन कर जब क्रान्ति की वर्जना की जाती है तभी अशांति का सृजन होता है। जब तक वर्ग वैषम्य समाप्त नही हो जाता, समानता नहीं आ जाती तब तक शाति की स्थापना असभव है–

"शांति नहीं तब तक जब तक, सुख भाग न नर का सम हो
नहीं किसी को बहुत अधिक हो, नहीं किसी को कम हो।[32]

समानता प्रसूत शान्ति का राज्य हृदय पर होता है, उसमें मानव हृदय के महत गुण श्रद्धा, भक्ति, करूणा आदि का समावेश रहता है किन्तु कृत्रिम शान्ति की नींव तलवार पर टिकी होती है। फलत: ऐसी शान्ति बहुत दिनो तक नहीं टिक सकती। जिनका रक्त-पीकर जिनकी हड्डियां चबाकर यह शान्ति जीवित रहती है उनके मन का दाह किसी भी समय अनायास दहक उठता है और कृत्रिम शान्ति जल कर राख हो हो जाती है।

इसी शान्ति नीति के संदर्भ मे कवि हिंसा अहिंसा पर भी विचार करता है। हिंसा और अहिंसा का द्वन्द्व शाश्वत है। इतिहास तो यही बताता है कि मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था में हिंसा की ही विजय होती थी। देवता सदैव दानवों से हारते रहे हैं। मानवता, दया क्षमा, तप त्याग आदि सद्गुणों का सहारा लेने पर भी प्राय पशुता से पराजित होती रही है। दिनकर इस ऐतिहासिक सत्य का गंभीर विवेचन प्रस्तुत करते हैं और निर्णय देते हैं कि सहनशीलता, दया शांति आदि मानवीय सद्वृत्तियां विजय तभी प्राप्त करती है जब इनके आलम्बन में शक्ति और सामर्थ्य हो। क्षमा, शक्ति-सम्पन्न व्यक्तियों को ही शोभा देती हैं। क्षमा और शांति का आवरण ओढ़कर अपनी कर्दयता छिपाना दिनकर को मान्य नहीं —

क्षमा शोभती उस भुजग को जिनके पास गरल हो
उसको क्या जो दंत हीन विष रहित विनीत सरल हो (33)

दिनकर की विचारधारा में अपने अधिकारों एवं अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये कदाचित अशाँति भी उत्पन्न करनी हो तो अनुचित नहीं है। कभी–कभी शांति की स्थापना एवं उसकी रक्षा के निमित्त भी अगर अशांति का सहारा लेना पड़े तो अनुचित नहीं है (34) कवि सतत इस बात की चिन्ता में मग्न दिखायी पड़ता है कि पृथ्वी पर शांति की स्थापना कैसे हो सकती है ? कुरुक्षेत्र के युधिष्ठर का यह विचार-

जिये मनुज किस भांति परस्पर होकर भाई भाई ?
कैसे रुके प्रवाह क्रोध का ? कैसे रुके लड़ाई। (35)

कवि का नीजि विचार है। किंतु कवि का यह स्वप्न साकार नही हो पाता। भूले भटके कभी किसी युधिष्ठर के मन में ही ऐसा विचार उठता है। जब तक प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर शुद्धता नहीं आती तब तक लड़ाई कैसे रुके ? शाति की स्थापना कैसे हो ? यदि सब मनुष्य इस प्रकार की शांति के कामी बन जांय, तो युद्ध का तिमिर सदा के लिये नष्ट हो जायगा (36) दिनकर की इस विचारधारा पर आंग्ल विचारक रसेल का स्पष्ट प्रभाव है (36) रसेल ने भी शांती के प्रयत्नों में आभ्यांतर शुद्धता की आवश्यकता बतलायी है। दिनकर भी बाह्य प्रयत्नों की अपेक्षा संस्कार पर अधिक बल देते हैं। जब तक मनुष्य अपनी प्रवृत्ति को विकृति मुक्त नहीं करता तब तक

सच्ची शांति की स्थापना असंभव हैं–

शांति सिद्धि का तेज तुम्हारे मन में है खड्ग न बाहों को न जीभ को व्याल करो
इससे भी ऊपर रहस्य कुछ मन मे है चिंतन करते समय न दृग को लाल करो ।[38]

शांति-चिंतन के लिये दिनकर कायिक और वाचिक दोनों प्रयत्नों को महत्व देते हैं–

तुम बहस में लाल कर लेते दृगों को शांति की यह साधना निश्छल नही है
शांति को वह खाक देंगे जन्म जिसकी जीभ पंकोची हृदय शीतल नही है ।[39]

दिनकर भारत को शांति का प्रतीक मानते है । भारत की अन्यान्य विशेषताओं में उसकी शाति प्रियता को वह प्रथम स्थान देते है । उनका विश्वासहै कि विश्व में जहां कहीं भी शाति का स्वर निनादित होता है वह भारत का ही स्वर है–

"उठे जहां भी घोष शांति का भारत वह स्वर तेरा है
धर्म दीप हो जिसके भी कर में वह नर तेरा है
तेरा है वह वीर सत्य पर जो अड़ने जाता है
किसी न्याय के लिये प्राणार्पित करने जाता है ।[40]

अहिंसा का प्रयोग–शांति और अहिंसा की रक्षा के लिये—

दिनकर की शाति और अहिंसा की नीति के सम्बन्ध मे परशुराम की प्रतीक्षा' एक नया प्रयोग है । कवि ने इसमें अहिंसा को सुरक्षित रखने के लिये हिंसा का आह्वान किया है । १९६२ में शांति और सहअस्तित्व को सबसे पहले मानने वाले राष्ट्र चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो कवि का हृदय कचोट उठा । कवि ने देखा कि शांति शांति की रट लगाते हुये भारतीय निष्क्रिय हो गये है । हमारी निष्क्रियता को दुश्मनो ने क्लीवता समझा है और हम पर आक्रमण कर हमारी शांतीवादी नीति को चुनौती दी है । गांधी की शाति और अहिंसा आज कसौटी पर चढ गयी है ।[41] इसीलिये कवि ने अपने प्रत्युत्पन्न मतित्व से निर्णय लिया—

कार गर कोई नही उपाय गिराओ बम गोली दागो
गांधी की रक्षा करने को गांधी से भागो ।[42]

साम्राज्यवादी मनोवृत्ति और शांति भंग—

कवि के मतानुसार शांति स्थापना के लिये साम्राज्यवादी मनोवृत्ति सबसे अधिक बाधक है । वे देश जिनकी विस्तारवादी आकांक्षा सतुष्ट ही नही होती शांति के पथ के सबसे बड़े अवरोध है । कवि के शब्दों मे–

वे देश शांति के सबसे शत्रु प्रबल है जो बहुत बड़े होने पर भी दुर्बल है
है जिनके उदर विशाल बाह छोटी है भोथरे दांत पर जीभ बहुत मोटी है
औरो के पाले जो अलज्ज चलते है अथवा शेरों पर लदे हुये चलते है ।[43]

चीन का आक्रमण इसी साम्राज्यवादी, विस्तारवादी मनोवृत्ति का परिचायक है । चीन सबसे पहले भारत के साथ पंचशील और सह अस्तित्व के सिद्धान्त को

कार्यान्वित करने के लिये वचनबद्ध हुआ था। चीन ने भारत के साथ शान्ति के प्रतीक कपोत उड़ाये थे। किन्तु सारी उदारता वादी नीति का परित्याग कर, समझौता भंग कर, सिद्धान्त को तोड़कर भारत पर आक्रमण किया, तो कवि का भी मानवतावादी स्वप्न भंग हुआ, और वह 'नीलकुसुम' के धरातल से उठकर 'हुंकार' और 'सामधेनी' के ही स्वरों को पुनः मुखरित करने लगा। इन झूठे प्रवचक शांतिवादियों की इन्होंने खुल कर भर्तसना की। चीन की साम्राज्यवादी विस्तारवादी नीति पर कवि ने तीव्र प्रहार किया।[44] चीनी आक्रमण के बाद भारतवासियों ने अनुभव किया कि उन्होंने शांति और अहिंसा का पुण्य कमाकर भी कुछ पाया नहीं है बल्कि इससे उनका राष्ट्रीय सम्मान भी खतरे में पड़ गया है। दिनकरने जन मानस की इस भावना को भी काव्याभिव्यक्ति दी—

देख चुके हम तो सब पुण्य कमाकर सौभाग्य, मान, गौरव अभिमान गंवा कर।[45]

कवि ने इन शांति और अहिंसावादी नीति की असफलता के कारणों की खोज राष्ट्रीय स्तर पर की। उन्होंने पाया कि शांति-शांति, चिल्लाते-चिल्लाते भारतीय नेता वस्तुतः अकर्मण्य हो गये है। अपने सारे शौर्य और वीरत्व को गवा बैठे है। उनका यह शांति और अहिंसावादी सिद्धांत अतिमानवीय बन गया है। यही कारण है कि हमारे देश को चीनियो से पराजित होना पड़ा। दिनकर ने अपनी भावनाओं को प्रकट करते हुये लिखा कि शांति की स्थापना विनय से नहीं अपितु शौर्य से ही हो सकेगी—

सुर नहीं शांति आंसू बिखेर लायेंगे, मृग नही, युद्ध का शमन शेर लायेंगे
विनय न विनय की लगा टेर लायेंगे लायेंगे तो वह दिन दिलेर लायेंगे
बोलती बन्द होगी पशु की जब भय से उतरेगी भू पर शांति फूट संशय से[46]

कवि के मत से कर्मठता और शौर्य से स्थापित की गई शांति ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार की शांति की जब विश्व में वर्षा होगी तो युद्ध का गरल अनायास ही बह जायेगा और विश्व में मैत्री तथा विश्व-बन्धुत्व का भाव भर जायगा—

शांति के हंस को धर्म अवतंस को अंक में लो इसे प्रेम दो मान दो
हो जहां भी जहर क्षीर की दो लहर वाणी की नोंक पर फूल पर तान दो।[47]

कवि को विश्वास है कि विश्व में शांति की यह वर्षा भारत के द्वारा होगी। युद्ध के भीषण तांडव से विश्व को बचा लेने का श्रेय भारत को मिलेगा—

निखिल विश्व के शांति यज्ञ में निर्भय हमीं लगेंगे,
आयेगा प्रकाश हाथ में सारी रात जागेंगे।[48]

अब तक के समस्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दिनकर ने शांति और अहिंसा की समस्या पर बड़ी गंभीरता से विचार किया है। कवि को शांतिवादी

नीति पर आस्था भी है वह इसे उपयोगी भी मानता है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि कोई भी सिद्धान्त सभी के लिये सभी समय एक जैसा प्रभावकारी नहीं रह सकता। जब गांधी के अहिंसावाद ने ब्रिटिश शासकों को भारत छोड़ने के लिये विवश किया तो सम्पूर्ण विश्व इससे चमत्कृत हो उठा। परन्तु चीनी आक्रमण के समय अहिंसावादी नीति की असफलता को देखकर वे ही चमत्कृत विश्व इसके प्रति शंकालु और अनास्थावान हो गया। दिनकर युग और परिस्थिति के अनुकूल अहिंसा और शांति की उपादेयता स्वीकारते हैं। उनके मत से शांति और अहिंसा का अस्तित्व शक्ति और सामर्थ्य पर निर्भर करता है। यदा-कदा यदि इस अहिंसा की रक्षा के लिये हिंसा का सहारा ले लिया जाय तो अनुचित नहीं है। दिनकर के ही शब्दों में "हिंसा अहिंसा की समस्या मनुष्य जाति की सबसे जटिल समस्या है जिसका कोई सीधा समाधान नही है। अगर कोई सीधा समाधान हुआ होता तो गांधी ने कश्मीर में फौज भेजने से अपने को रोक दिया होता और चीनी आक्रमण के बाद विनोबा भावे यह संकेत देने के लिये बन्दूक का स्पर्श नहीं करते कि कभी कभी अहिंसा की रक्षा भी हिंसा के बिना नही की जा सकती।"[49]

५. युद्ध सम्बन्धी चेतना

शान्ति और अहिंसा वादी नीति के विवेचन में ही दिनकर के युद्ध संबंधी विचार की ओर सकेत किया जा चुका है। दिनकर अपने स्वभाव से ही क्रान्ति के समर्थक रहे हैं। उन्हें अपना और राष्ट्र का स्वाभिमान बड़ा प्यारा है। अपनी प्रारंभिक कृतियों में गांधी के व्यक्तित्व से प्रभावित होने के बाद भी उनकी वाणी ने सदैव क्रान्तिकारियों का साथ दिया है। ब्रिटिश शासन के विरुद्ध उनका विद्रोह पूर्ण स्वर 'रेणुका' से लेकर 'सामधेनी' तक की रचनाओं में सुनाई पड़ता हैं। राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा के लिये 'परशुराम की प्रतीक्षा' में एक बार पुनः उन्होने वही विद्रोह और क्रान्ति का स्वर फूंका है। दिनकर स्वभाव और संस्कार दोनों से क्रांतिकारी व्यक्तित्व रखते हैं। साथ ही प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका से त्रस्त मानवता की दयनीय दशा को भी उन्होंने निकट से देखा है, कवि हृदय से परखा है। यही कारण है कि वे युद्ध सम्बन्धी विवेचन में बड़े तार्किक ढंग से विचार प्रस्तुत करते हैं। 'हुंकार' की विपथगा और 'कुरुक्षेत्र' के युद्ध की उत्पति एक सी ही परिस्थितियों में होता है और उससे दिनकर का क्रान्तिकारी रूप उभर कर सामने आ जाता है–

"पी अपमानों का गरल घूंट शासित जब ओंठ चबाते हैं
जिस दिन रह जाता क्रोध मौन मेरा वह हो भीषण जन्म लग्न।"
"पौरुष की बेडी डाल पाप का अभय रास जब होता है
दुनियां को भूखों मार भूप जब सुखी महल में सोता है

सहती सब कुछ मन मार प्रजा, कसमस करता मेरा यौवन।"[50]

"सहते सहते अनय जहां, भर रहा मनुज का मन हो
समझ कर पुरुष अपने को, धिक्कार रहा जन जन हो।[51]

दिनकर समष्टिवादी कवि है। इसलिये उन्हे जीवन वही प्रिय हैं जो समष्टि के लिये उपयोगी हो। युद्ध सम्बन्धी विचार प्रस्तुत करते हुये उन्होंने लिखा है—

"वैयक्तिक चिन्तन युद्ध के विरुद्ध जाता है किन्तु समूह जब युद्ध में ग्रस्त हो जाता है तब समूह का ही चिंतन प्रधान, व्यक्ति का चिंतन गौण हो जाता है।[52] यही कारण है कि कवि ने सर्वत्र समष्टि के हितों के लिये युद्ध की योजना की है। वे गांधी की अहिंसा से इसलिये सहमत न हो सके। प्रारम्भ से आज तक वे मानते है कि अपनी तरफ बढते हुये हाथ को रोकने के लिये युद्ध ही करना पड़ता है, सत्य और अहिंसा उस समय लाभदायक नहीं होते—

"छीनता हो स्वत्व कोई और तू त्याग, तप से काम ले यह पाप है
पुण्य है विछिन्न कर देना उसे बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ हो[53]

युद्ध की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि-

युद्ध के सम्बन्ध में दिनकर का विचार बड़ा सुलझा हुआ है। उनके अनुसार युद्ध एक अनिवार्य विकार है। मानव समाज में राजनीतिक, सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर वैषम्य की अग्नि धीरे धीरे सुलगती है। कालान्तर मे वही आग घृणा, ईर्ष्या और द्वेष से समृद्ध होकर युद्ध का रूप धारण करती है। यही सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी लागू होता है। अतः युद्ध न चाहने वाले शांति के उपासकों को भी युद्ध करना पडता है—

"जूझना पडता सभी को शत्रु जब आगया हो ललकारता द्वार पर[54]

जैसे रोग की मुक्ति के लिये औषधि की कड़वी घूंट भी पीनी पड़ती है, वैसे ही अत्याचार और शोषण के विरोध के लिये युद्ध करना पड़ता है, क्योंकि शोषण का तांडव शांति के प्रयत्नों से कभी समाप्त नहीं हो सकता—

रुग्ण होना चाहता कोई नहीं, रोग लेकिन आगया जब पास हो
तिक्त औषधि के सिवा उपचार क्या शमित होगा अब नही वह मिष्ठान से[55]

प्रायः मनुष्य युद्ध का कामी नही होता है। परिस्थिति ही उसे उसके लिये विवश कर देती है। यह परिस्थिति कई प्रकार से बनायी जाती है। ऐसी परिस्थिति का आधार शोषण होता है। अपने इसी दृष्टिकोण को कवि ने 'रश्मिरथी' में परशुराम के द्वारा व्यक्त किया है—

रण केवल इसलिये कि राजे और सुखी हों मानी हों
और प्रजायें मिले उन्हें वे और सुखी हो मानी हों

रण केवल इसलिये कि सत्ता बढ़े न पात डोले
भूपों के विपरीत न कोई कहीं कभी कुछ बोले
ज्यों ज्यों बढ़ती विजय अहं नरपति का बढ़ता जाता है
और जोर से वह समाज के सिर पर चढ़ता जाता है।[56]

धनवान और अधिक धनी हो जांय तथा सत्ताधारी और अधिक शक्तिशाली, प्रायः इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये युद्ध होता आया है। दीन-दलितों की दशा सुधारने के लिये आज तक कभी किसी मनुष्य ने युद्ध की योजना नहीं की—

"और रण भी किस लिये नही जग से दुख दैन्य भगाने को
पर शोषक पथ भ्रान्त मनुज को नहीं धर्म पर लाने को।[57]

युद्ध की योजना करने वाला सदैव उसे अपने लिये आवश्यक बताता है। किंतु कवि के अनुसार पर स्व हरने के लिये जो युद्ध किया जाता है वह क्षात्र धर्म के विरुद्ध है। स्वार्थ सिद्धि तथा स्व सुख विस्तार की आकांक्षा से युद्ध करना असंभव है। दिनकर ऐसे युद्ध को पाप युद्ध कहते है—

"सेना साज परस्व हरने की वृत्ति लोभ की लड़ाई क्षात्र धर्म के विरुद्ध है
वासना विषय से नहीं पुण्य उद्भूत होता वाणिज्य के हाथ की कृपाण ही अशुद्ध है[59]

ठीक इसके विपरीत आत्म सम्मान की रक्षा के हेतु लड़े गये युद्ध को कवि पुण्य युद्ध कहता है—

चोट खा परन्तु जब सिंह उठता है जाग उठता कराल प्रतिशोध हो प्रबुद्ध है
पुण्य खिलता है चन्द्रहास की विभा में तब पौरुष की जागृति कहाती धर्म युद्ध है[58]

जब चतुर्दिक पशुता का साम्राज्य हो तो मानव को देवोपम गुण प्रतिष्ठा नहीं पा सकते। शरीर की शक्ति से आत्मा की शक्ति नहीं लड़ सकती है। हिंसा का प्रतिकार हिंसा से ही हो सकता है। हिंसा से भरे हुये इस युग में निरी देवोपमता क्लीवता कही जायगी। इसलिये कवि ने शक्ति सम्पन्नता के सिद्धान्त में विश्वास किया है। मानवता के उच्चतर मूल्य, शांति और अहिंसा समाज के लिये तभी वरेण्य हो सकते हैं जब उनके पीछे सामरिक शक्ति का आधार हो। राष्ट्र इतना शक्ति सम्पन्न हो कि पड़ोसी राष्ट्र उसकी शक्ति का लोहा माने।

युग बदल गया। सारी युग-दिशायें परिवर्तित हो गयीं। फलतः युग के स्वरूप में भी एक अभिनव परिवर्तन आया। अस्त्र-शस्त्र से लड़े जाने वाले युद्ध के स्थान पर सभ्यता ने शीत युद्धों की योजना की। और यह शीत युद्ध भी राष्ट्र युद्ध में परिणत हो गये। अपनी कविता में दिनकर ने युग के इस परिवर्तित तथ्य

की ओर भी संकेत किया है—

"और जिस प्रकार हम आज बेल
बूटों के बीच खचित करके
देते हैं रण को रम्य रूप
विप्लवी उमंगों में भर के
कहते अनीतियों के विरुद्ध
ओ युद्ध जगत में होता है
वह नहीं जहर का कोश
अमृत का बड़ा सलोना सोता है।"

\+ +

"सत्य ही समुन्नति के पथ पर
चल रहा चतुर मानव प्रबुद्ध
कहता है क्रान्ति इसे, जिसको
पहले कहता था धर्म युद्ध।"[६१]

सभ्यता के कृत्रिम आवरण भी युद्ध की कुत्सा और गंदगी को ढ़क न सके। मनुष्य अपनी आदिम अवस्था से भी युद्ध से आक्रान्त था और आज भी सभ्यता के उच्चतम शिखर पर पंहुचे हुये विश्व में भी युद्ध की विभीषिका से बचने के ही प्रयत्न हो रहे हैं। आज के युग में विश्व एकता के नाम पर युद्ध होते हैं। विविधता को हटाकर एकता की स्थापना के लिये युद्ध की घोषणा की जाती है। शान्ति की स्थापना के लिये युद्ध की योजना होती है।[६२]

व्यक्तिवाद संकुचित राष्ट्रीयता और युद्ध की मनोभूमि :—आधुनिक जीवन में व्यष्टिवादी भावना की प्रधानता है। व्यक्तिवाद संकुचित राष्ट्रीयता को जन्म देता है। और यह राष्ट्रीयता आज की स्थिति में विश्व-बन्धुत्व के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। राष्ट्रीयता के प्रति यह भावना ही युद्ध को जन्म देती है।

"मेरा संकल्प महावसुधा को एक नहीं होने दूंगा
मैं विश्व देवता का भू पर अभिषेक नहीं होने दूंगा
है कहां विश्व मानव जो हैं केवल स्वदेश के प्राणी हैं
मानवता नहीं मातृ भू की महिमा के सब अभिमानी हैं
देखेंतो तब तक विश्व मनुज का जन्म कहां से होता है
मैं राष्ट्र वाद का सखा कौन तोड़ेगा मेरा सम्मोहन है।[६३]

भारत पर चीनी आक्रमण का यही रहस्य था। इसी आक्रमण से प्रेरित काव्य कृति 'परशुराम की प्रतीक्षा' में कवि ने युद्ध दर्शन की क्रमबद्ध मीमांसा की है। उन्होंने इस युद्ध के दो प्रमुख कारण बतलाये हैं– एक भारतीय नेताओं की निवृति मूलक

आध्यात्मिकता, दूसरा भारतीय राजनीतिज्ञों की अव्यवहारिक नीति। दिनकर ने उपर्युक्त दोनों मनोवृतियों की कटु आलोचना की, और उन पर तीखा प्रहार किया है।[६४] दिनकर की मान्यता है कि तपस्या और साधना की सफलता के लिये भी वीर पुरुषों की सहायता अपेक्षित होती है। सामान्य मनुष्य की क्या बात ऋषियों को भी तप में तभी सिद्धि मिल पाती है जब पहरे पर धनुष-धारी राम खड़े होते हैं।[६५]

जय पराजय की समस्या :—

युद्ध के संदर्भ में दिनकर ने युद्ध जनित हार-जीत की समस्या पर भी विचार किया है। उन्होंने साफ शब्दों में कहा है कि युद्ध में हारना सबसे बडा पाप है—

"पुण्य हो कि पाप जीत केवल दोनों का ध्येय है
सच है छल की विजय अन्त तक विजय नहीं अभिशाप है
किन्तु मूल मत और पाप जितने घातक हों
समर हारने से बढ़कर घातक न दूसरा पाप।"[६६]

पराजय के इसी पाप से बचने के लिये दिनकर ने शक्ति पुरुष परशुराम को आवाहन किया है। इस प्रकार 'परशुराम की प्रतीक्षा' में कवि ने एक ओर तो युग की आवश्यकता पूर्ति के लिये वीर पुरुष परशुराम को आवाहन किया है और दूसरी ओर उस गांधी वादी नीति पर भी प्रकाश डाला है जिनके अन्तर्गत शत्रु के समक्ष भी पशु बनने की प्रवृति का विरोध किया गया है। अतः हम यह कह सकते हैं कि दिनकर की युग चेतना की यह प्रमुख विशेषता है कि उसमें क्रान्ति और शक्ति के स्वर बड़ी ओजस्वी वाणी में मुखरित होते हैं। वे स्वाधिकार की रक्षा को महत्व देने वाले कवि हैं, शक्ति और स्फूर्ति संचार के रचनाकार हैं।

पंचशील सह-अस्तित्व और तटस्थता की नीति :—

विश्व के सबसे शक्तिशाली साम्राज्यवादी देश की परतन्त्रता से मुक्ति पाकर स्वाधीन भारत के सामने सबसे पहली और बड़ी समस्या यह थी कि वह किन नीतियों का पालन करे, जिससे एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उसकी प्रतिष्ठा अधिकाधिक बढ़ सके। सम्पूर्ण विश्व में साम्राज्यवाद और साम्यवाद के बीच बड़ी सशक्त प्रतियोगिता चल रही थी। सारा विश्व अमेरिका और रूस दो शिविरों में विभाजित था। भारत ने अमेरिका जैसे ही शक्तिशाली देश की गुलामी से अभी अभी मुक्ति पायी थी और रूस जैसी आत्मनिर्भरता की क्षमता उसके पास थी नहीं। अतः उसने इन दोनों में से किसी भी शिविर में जाना पसन्द नहीं किया। साथ ही भारत ने जिस शान्ति और अहिंसावादी नीति से स्वतन्त्रता प्राप्त की थी उसे भी वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रयोग करना चाहता था। अतः इन दोनों महाशक्तियों से प्रथक रहकर दोनों से मित्रता रखते हुये तथा दोनों से सहायता प्राप्त कर यह अपनी उन्नति करना चाहता था। यही कारण है कि भारत ने अपनी नीति को महत्व दिलाने तथा विश्व के अन्य राष्ट्रों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिये पंचशील, सह-अस्तित्व

निशस्त्री-करण, गुट निरपेक्षता तथा तटस्थता आदि के सिद्धान्तों को मान्यता दी है।

पंचशील:—पंचशील बौद्धधर्म का एक पारिभाषिक शब्द है। भिक्षु बनते समय जो पांच व्रत धारण किये जाते थे वे पंचशील कहलाते थे। इसी भांति राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों में सुधार करने के लिये जिन पाच सिद्धान्तों का निर्माण किया गया है उन्हें पंचशील के नाम से अभिहित किया गया। पंचशील के पांच सिद्धान्त निम्नलिखित हैं:—

१. एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सर्वोच्च सत्ता के लिये पारस्परिक सम्मान की भावना।

२. अनाक्रमण।

३. एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति।

४. समानता तथा एक दूसरे को लाभ पहुंचाना।

५. शान्ति पूर्ण सह-अस्तित्व।

निशस्त्रीकरण:—युद्ध को रोकने और शान्ति के प्रसार के लिये निशस्त्रीकरण की मांग की गयी। इसके अन्तर्गत शक्ति का प्रयोग युद्ध और विध्वंस के लिये अनुचित माना गया। आणविक शक्तियों का उत्पादन केवल मानवता की रक्षा के हेतु ही किया जा सकता है। कोई भी राष्ट्र केवल उतने ही शस्त्रों को रख सकता है जिनसे उसकी रक्षा संबन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति हो।

तटस्थता की नीति:—भारतीय विदेश नीति के अन्तर्गत तटस्थता की नीति को भी महत्व दिया गया। तटस्थता अभावात्मक होती है। वह किसी पक्ष में सम्मलित नही होती। वह पूर्ण रूपेण शान्ति वादी और पार्थक्यवादी होती है। किन्तु भारतीय तटस्थता को सक्रिय रखकर प्रत्येक देश से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखना चाहते थे। यद्यपि उन्हें गुटबाजी से कोई मतलब न था। अपनी इसी नीति की घोषणा करते हुये सयुक्त राष्ट्र अमेरिका की काग्रेस के समक्ष प० नेहरू ने कहा था 'जहां स्वाधीनता सकट में हो, न्याय खतरे में हो, आक्रमण हो रहा हो तो हम वहां न तटस्थता रख सकते हैं और न तटस्थ रहेंगे।"[६७]

चीनी आक्रमण के बाद भी अमेरीकी पत्रिका में अपनी तटस्थता नीति की व्याख्या करते हुये उन्होंने कहा था —"असंलग्नता सब देशों के प्रति मित्रता की हमारी नीति को संक्षिप्त रूप से प्रतिपादित करती है। यह सैनिक सन्धियों से पृथक रहने की हमारी नीति है। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम विवाद ग्रस्त विषयों के लिये उदासीन हैं, किन्तु हमारी इच्छा है कि हम अपने लिये ऐसे सभी प्रश्नों पर पूरी स्वतन्त्रता के साथ और पहले से बनाये किसी दलीय पक्षपात से रहित हो विचार कर सकें। मौलिक रूप से इसमें यह विचार था कि इस दुनियां में भलाई

और बुराई मिली होती है। राष्ट्रों को भेड़ और बकरियों में बाट कर उनकी निंदा और प्रशंसा नहीं की जा सकती तथा यदि हम एक सैनिक गुट में मिलेंगे तो यह दोनों गुटों में संघर्ष के खतरे को कम नहीं करेगा किन्तु बढ़ायेगा। वस्तुतः असंलग्नता कार्य करने की स्वतन्त्रता है और यह हमारी स्वाधीनता का अंग है।[६८]

कालान्तर में हमारा यह सिद्धान्त व्यवहारिक रूप में असफल होने लगा। आज के युग में जब व्यक्ति अपने हितों के लिए पागल है, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का स्वत्व हरण करना चाहता है, केवल सैद्धान्तिक आदर्शवाद कैसे चल सकता है? विश्व में तटस्थता की नीति के सबसे बड़े समर्थक भारत की मोह-निद्रा उस समय भंग हो गई जब उसी के मित्र राष्ट्र चीन ने उस पर आक्रमण कर दिया।

राजनीति की इसी पृष्ठभूमि मे जब दिनकर ने अपने काव्य में पौरुष और ओज का झंकार किया तो भारत का एक नूतन चित्र उभरा। काव्य की भूमिका में दिनकर ने कविता को कवि का प्रस्वेद माना है।[६९] किन्तु उनकी स्वयं की कविता उनके प्रस्वेद से भी आगे बढ़कर उसकी गंध भी बन जाती है। अतः इसी सन्दर्भ मे हम दिनकर की कविता का यहां अध्ययन करेंगे।

दिनकर के काव्य में पंचशील, सह अस्तित्व और तटस्थता की नीति—भारत की तटस्थतावादी नीति दिनकर को कभी रुचिकर न लगी। एक तो वे विद्रोह और विप्लव के कवि हैं। उनकी शिरायें वीर वाहिनी हैं। ठण्डा खून उन्हें पसन्द नहीं है। दूसरे इस नीति की असफलता को देखकर वे इसके प्रति अनास्थावान भी हो गये। क्योंकि इसी के दुष्परिणाम स्वरूप राष्ट्र ने धोखा खाया। उसके सम्मान को गहरी चोट लगी। फलतः 'हुंकार' का राष्ट्रीय कवि पुनः 'हुंकार' उठा। शान्ति के दिनों में दिनकर ने नेहरू की इस नीति की अभ्यर्थना अवश्य की थी[७०] किन्तु राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को दलित होते देख उन्होंने इस नीति का बहिष्कार किया। वे पुनः उसी भावभूमि पर लौट आये जहां से उन्होंने क्रान्ति और विद्रोह के गीत गाये थे। परशुराम की प्रतीक्षा में दिनकर का वह्नि पुनः 'हुंकार' निनादित हुआ।)चीनी आक्रमण के सन्दर्भ में, इस नीति के प्रति कवि ने अपनी भावना व्यक्त करते हुए स्पष्ट कहा है कि भेड़ों के हेतु उन पर कृपा करने के लिए शेर कभी अपने दांत तुड़वाते नहीं। अगर शेर के प्रहार से किसी को भी बचना है तो उसे शेर ही बनना पड़ेगा।[७१] यद्यपि कवि ने कहीं भी पंचशील और सह-अस्तित्व का नाम नहीं लिया है तब भी अप्रत्यक्ष रूप से इन सिद्धान्तों का घोर खण्डन किया है। जिस शान्ति और सह-अस्तित्व की स्थापना के लिये पंचशील को आधार बनाकर नेहरू और चाऊ ने शान्ति के प्रतीक कपोत उड़ाये थे वह प्रयास भी समाप्त हो गया और इन कबूतरों के पंजों में विश्वासघात और छल का जहर छिपा हुआ मिला।[७२]

इसी प्रकार तटस्थता की नीति पर आक्षेप करते हुये भी उन्होंने कहा कि समर में पाप का भागी केवल आक्रमणकर्त्ता ही नहीं होता। समय निर्णय कर देता

है कि आक्रमण का मूलाधार क्या है ? चीनी आक्रमण के मूल में भी भारत की तटस्थ नीति को ही पाते हैं जिनकी छाया में भारत अकर्मण्य होकर यह भी भूल गया था कि इस धरती पर बलहीनों का निवास संभव ही नहीं है—

"मूंद मूंद वो पृष्ठ शील का गुण जो सिखलाते हैं
वज्रायुद्ध को पाप लौह को दुर्गुण बतलाते हैं
मन की व्यथा समेट न तो अपनेपन से हारेगा
मर जायेगा स्वयं सर्प को अगर नहीं मारेगा।"[७३]

आगे भी उन्होंने भारत की तटस्थ नीति को तब तक सफल नही माना जब तक विश्व के अन्य राष्ट्र भी उसका सक्रिय पालन न करे।[७४] अतः यदि पड़ौसी हमारे सिद्धान्त की उच्चता को नही समझता और छल से हम पर आक्रमण करता है तो कवि के शब्दों में—

"पढ़ो सामने के अक्षर क्या कहते है ये
विनय विफल हो जहां बाण लेना पड़ता है।"[७५]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने यत्रतत्र पंचशील, सह-अस्तित्व, तटस्थता आदि की नीति के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं यद्यपि सर्वत्र इन नीतियों के विषय में लक्षणा शक्ति का ही सहारा लिया गया है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' तो मूल रूप से इन नीतियों का लाक्षणिक पर्यवेक्षण ही है। युग-चेतना की पुकार और युग-धर्म के प्रभाव से ही कवि ने गांधी की रक्षा के लिये गाधी से भागने की सलाह दी और वीर पुंगव शक्ति पुरुष परशुराम का आह्वान किया। तत्कालीन जनता के मन में इन नीतियों के प्रति क्या प्रतिक्रिया उत्पन्न हुयी थी इसे भी कवि ने अभिव्यक्ति दी।

विनोबा और भू-दान

सर्वोदय और भूदान आन्दोलन—भारत में सर्वोदय का प्रचार गांधी दर्शन के समर्थक आचार्य विनोबा भावे ने किया। सर्वोदय का सिद्धान्त सामूहिक कल्याण को महत्व देने वाला है। उसमें समष्ठि की चेतना का भाव निहित है। सर्वोदय का शाब्दिक अर्थ है—'सबका उदय' अर्थात् सबको समान रूप से जीवन विकसित करने के लिये समान परिस्थितियां उपलब्ध हैं। इस प्रकार जब एक-एक व्यक्ति अपना उत्थान कर लेगा तो सम्पूर्ण समाज स्वतः ही समुन्नत हो जायगा—यही सर्वोदय का मूल सिद्धान्त है। (अपने सर्वोदय दर्शन में आचार्य विनोबा भावे ने 'जियो और जीने दो के सिद्धान्त से आगे बढ़कर एक अभिनव मान्यता का प्रतिपादन करते हुये कहा—"जियो दूसरों को जिलाने के लिये।") अपनी इस मान्यता की व्याख्या करते हुए आचार्य विनोबा ने कहा कि अगर एक माँ पुत्र को जन्म देकर उसी समय उससे मुंह मोड़ ले और 'जियो और जीने दो' कहकर वह उससे सम्बन्ध विच्छेद करले तो वह बच्चा निश्चय ही मर जायगा। मां स्वय तो जीती ही है, बच्चे को जिलाने का

प्रयास भी करती है, उसे आवश्यक पेय तथा उपचार देकर जिलाने में सहायक होती है।[७६] संक्षेप में यही विनोबा का सर्वोदय है और भूदान आन्दोलन इसका एक पक्ष मात्र है।

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहां की जनता का मुख्य उद्यम खेती है। अतः सबके पास जीवनयापन करने योग्य जमीन होनी चाहिये जिससे प्रत्येक व्यक्ति अन्न उपजाकर अपनी उदर-पूर्ति कर सके। इसी उद्देश्य से विनोबा ने अपने सर्वोदय के अन्तर्गत भूदान यज्ञ का आयोजन किया। बड़े-बड़े काश्तकारों से जमीन मांगकर उन्हें भूमिहीनों के बीच वितरित करना ही उनका लक्ष्य है। समस्त भारतवर्ष की आचार्यजी ने पद यात्रा की है और गावों-गांवों में जाकर भूदान यज्ञ को सफल बनाया है।

भूदान आन्दोलन और दिनकर की कविता—दिनकर ने 'नील कुसुम" में 'भूदान' शीर्षक कविता लिखी है।[७७] जिसमें इस आन्दोलन की चर्चा की गयी है। आलोचकों ने इसे उनके अस्थायी रूप से बदलते हुये मूल्यों का प्रभाव माना है।[७८] इस सम्बन्ध में एक तर्क उठता है कि गांधी और विनोबा जैसे शान्तिप्रिय व्यक्तित्व पर वे कैसे मुग्ध हो गये ? दिनकर के सिद्धान्त की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि चाहे गांधी हों या विनोबा जब तक उनके सिद्धान्त राष्ट्रीय धरातल पर जनजागरण के कार्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित करते हैं, तब तक दिनकर उनके प्रशंसक रहते हैं। किन्तु ऐसे सिद्धान्त या ऐसे महान व्यक्तियों की नीतियाँ जब असफल होकर राष्ट्र के लिये घातक प्रमाणित होती है, तो दिनकर उनकी आलोचना भी अवश्य करते हैं। दिनकर ने देखा कि भूदान आन्दोलन से उन कृषकों का उद्धार होने जा रहा है—"जो कलेजा फाड़कर शोणित की धारें दे रहे थे।"[७९] कवि का यह विश्वास दृढ़ हो गया कि विनोबा के भूदान से समाज का हित होगा। उनकी आध्यात्मिक शक्ति समष्टि में जाकर सर्वोदय कर सकेगी। इसीलिये कवि ने पौराणिक प्रतीक के माध्यम से विनोबा की अर्चना की।

"कृष्ण दूत बनकर आया है, सन्धि करो सम्राट
मच जायेगा प्रलय कहीं यदि वामन हो पड़ा विराट
स्वत्व छीनकर क्रान्ति छेड़ती कठिनाई से प्राण
बड़ी कृपा उसकी भारत में मांग रही वह दान।"[८०]

कवि ने भारत की जनता का आह्वान किया कि वह इस अर्द्धनग्न फकीर का स्वागत और अभिनन्दन करे। कवि ने विनोबा को गांधी से आगे का कदम माना है।[८१] विनोबा के प्रति आस्था कवि ने इसलिये व्यक्त की है कि उनकी इस विचारधारा में कवि कृषक क्रांति का सन्देश पाता है। कवि को विश्वास है कि 'भूदान' को स्वीकार न करने पर कृषक क्रांति का यह स्वरूप शिथिल हो जायगा। क्रांति के कवि दिनकर ने विनोबा के भूदान में जहां एक ओर कृषक क्रांति देखी

वहीं दूसरी ओर युग की सशक्त चेतना को भी मूर्त होते पाया। यही कारण है कि विनोबा की प्रशस्ति गाते हुये वे जनता को भूदान की ओर प्रेरित करते हैं—

"पहचानो यह कौन द्वार पर अघनंगा आया है
किस कारण अधिकार स्वयं बन भिखमंगा आया है
समझ सको यदि मर्म बुलाये बिना दौड़कर आओ
जो समझो तुम अंश अपर का स्वयं उसे तुम दे जाओ।"[८२]

निष्कर्ष यह है कि दिनकर ने भूदान आन्दोलन पर कोई वृहदाकार रचना नहीं की है। मैथिलीशरण गुप्त की तरह विनोबा और भूदान की प्रशस्ति में अनेक कवितायें भी नहीं लिखी हैं परन्तु उनकी विचारधारा से यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि वे भूदान को एक महाक्रांति के रूप में स्वीकारते हैं। दिनकर का कवि सदैव ही कृषकों की दुर्दशा और व्यथा के प्रति संवेदनशील रहा है। कृषकों के दुध विहीन बच्चों की क्षुधा-शान्ति के लिये उन्होंने स्वर्ग तक लूटने की धमकी दी है।[८३] आज उसी व्यथित और शोषित कृषक वर्ग की समस्याओं का निदान भूदान आन्दोलन में पाकर कवि उल्लास से विभोर हो उठा और उसने विनोबा के प्रति गहन आस्था जमाली। इसी कृषक क्रांति-चेतना से अभिभूत होकर कवि ने भूदान का स्वागत किया। विनोबा को गांधी की चोटी से उतरने वाली गंगा और जगत की ज्योति-किरण के रूप में स्वीकार कर उनकी अर्चना की।[८४]

अन्तर्राष्ट्रीयता—दिनकर ने अपनी विचारधारा का स्पष्टीकरण करते हुये स्वयं लिखा है—'राष्ट्रीयता मेरे व्यक्तित्व से नही जन्मी उसने बाहर से आकर मुझे आक्रान्त किया है।[८५] वस्तुस्थिति तो यह है कि राष्ट्रीयता ही नहीं वरन् दिनकर के काव्य की समस्त भावधारा ही युग प्रसूत है। राष्ट्रीय परिवर्तन ही नही अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तनों ने भी दिनकर के हृदय को द्रवित किया है। जिस बाहर से आक्रान्त करने वाले भाव की चर्चा कवि ने की है वह भाव अधिकांश रूप से राष्ट्रीय समस्याओं से प्रसूत है। यदा कदा कवि के भावों में आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के आग्रह से भी आता है। सत्य तो यह है कि ज्यो ज्यो युग ने राष्ट्रीय आवश्यकताओ की पूर्ति कर ली उसका ध्यान अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर जाने लगा। फलतः कवि की कला ने राष्ट्रीय सीमा से निकल अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर प्रयाण किया। हो सकता है कि युग की इस बदलती हुयी चेतना के साथ चलने में उन्हें कभी अपनी आत्मा की पुकार की अवहेलना करनी पड़ती हो। यह भी संभव है कि राष्ट्रीयता की सीमा को पार करते समय उन्हें पीड़ा होती हो क्योकि राष्ट्रीयता उनकी अन्तरचेतना का मूलांश है। फिर भी, उन्होने युग चेतना को स्वीकार किया है। युगबोध को अभिव्यक्ति दी है। और इसमें कोई संदेह नहीं कि युग की पुकार से ही उन्होंने राष्ट्र देवता का विसर्जन' किया है।'[८६]

अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से प्रेरित होकर ही दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' की रचना की है। 'कुरुक्षेत्र' में वर्णित युद्ध की समस्या अब राष्ट्रीय नहीं रही क्योंकि द्वितीय विश्व युद्ध में हिरोशिमा पर हुये अमानवीय कृत्य से कवि का हृदय द्रवित हो गया था। इसीलिये युद्ध का निदान खोजना उसके लिये आवश्यक था। 'कुरुक्षेत्र' में वर्णित युद्ध सम्बन्धी विचार मंथन निश्चित ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज का युद्ध के सम्बन्धी वैचारिक संघर्ष है। हिटलर के आक्रमण से पीड़ित मानवता के प्रति भी उन्होने अपनी कविता मे आंसू बहाये हैं।[८८] सन् १९३५ में रक्त पिपासु इटैलियन फासिस्टों के अबीसीनिया आक्रमण के आधार पर लिखित 'मेघरन्ध्र में बजी रागिनी' शीर्षक कविता में कवि ने अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का बड़ा हृदय ग्राही चित्र खींचा है।[८९] इसी प्रकार 'भविष्य की आहट' शीर्षक कविता में भी कवि ने अन्तर्राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर ही विराट एशिया का चित्र खींचा—

अखण्ड पाद चाप ने सचेत शैल को किया
चिंघार सिंहनी जगी जगा विराट एशिया।'[९०]

दोनों विश्व युद्धों में कवि ने संकीर्ण राष्ट्रीयता के घातक परिणामों को देखा। अतः उन्होंने कहा—

'टिकने देती भैंस नहीं बाहर वाली भैंसों को
अपने खूंटे से ढकेल कर बाहर कर देती है।'[९१]

तथा यही संकीर्णता अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है।[९२] इसीलिये १९५२ में उन्होंने 'राष्ट्र देवता का विसर्जन' कर दिया क्योंकि उनके कतिपय प्रश्नों का उत्तर राष्ट्रीयता के पास न था।[९३] किन्तु राष्ट्रीय कवि दिनकर 'परशुराम की प्रतीक्षा' तक आते आते पुनः राष्ट्रीयता के धरातल पर उतर आये।

वे मूलरूप से राष्ट्रीय चेतना के कवि हैं। राष्ट्र के अनन्य गायक हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता उनकी मूल चेतना नहीं। वे केवल युग के परिवर्तित मूल्यों के आग्रह से उस विषय पर यदा कदा विचार करते हैं। श्रीमती एस. के. पद्मावती के शब्दों में- 'दिनकर का युग चारणत्व इस एक तथ्य से प्रमाणित होता है कि वे समय की मांग के अनुसार अपने को परिवर्तित करते हैं.....एक दायित्व पूर्ण कवि के नाते उन्होंने राष्ट्रीयता को अपना लिया है। यह राष्ट्रीयता उन्होंने तब तक निभायी जब तक उसके द्वारा देश की रक्षा करनी थी। जब उनकी यह साध पूरी हुयी तब उन्होंने राष्ट्रीयता को पूर्णतः उपेक्षित तो नहीं किया, परन्तु उसमें भी उदात अन्तर्राष्ट्रीयता को महत्त्व देने लगे। उनके मत में जहां तक आन्तरिक या स्वव्यवहारों का प्रश्न है राष्ट्रीयता अपेक्षित है, पर जहां व्यापक तथा सारे विश्व से सम्बन्धित समस्याओं का प्रश्न है वहां सीमित राष्ट्रवाद का पल्ला पकड़े रहना अमानवीयता है।[९४]

निष्कर्ष—निष्कर्ष यह कि स्वाधीनता से पूर्व दिनकर अपनी काव्य-रचना में राष्ट्रीयता के समर्थक थे। यद्यपि उस समय भारत की ही भांति विदेशों में भी राजनीतिक संक्रान्ति छायी हुयी थी। अतः कभी-कभी युग कवि दिनकर ने उन

अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों पर भी सहानुभूति से विचार व्यक्त किये थे। परन्तु बाद में वे संकीर्ण राष्ट्रीयता के धरातल से ऊपर उठ गये और उन्होंने इसी 'संकीर्ण राष्ट्रीयता' का विरोध किया।[६५] दिनकर की राष्ट्रीय चेतना में शक्ति और स्वाधिकार की रक्षा का स्वर प्रमुख है। इसीलिये वे गाँधी से प्रभावित होने के बाद भी अहिंसा को उस सीमा तक स्वीकार नहीं कर पाते कि वह मानसिक दुर्बलता की परिचायक बन जाय। दिनकर की राष्ट्रीय चेतना में प्रगतिशील तत्व सन्निहित हैं और इसीलिये वे किसी भी नीति और सिद्धान्त को अंधविश्वास और अंधश्रद्धा के साथ नहीं स्वीकारते। उनकी राष्ट्रीय भावधारा में पंचशील, सहअस्तित्व क्रान्ति तथा युद्ध-विरोध आदि की सम सामयिक चेतना विद्यमान है। कवि ने अपने युग की समस्त राष्ट्रीय चेतना को साथ लेकर चलने का प्रयास किया है। यही कारण है कि उनकी कविता में युग का यथार्थ स्पष्ट रूप से व्यक्त हो उठता है।

——

संदर्भ

१. युगचारण–दिनकर–पृ. ३१
२. रेणुका : पृ. ३
३. वही पृ. ७
४. वही पृ. ३१
५. प्रो. कामेश्वर शर्मा : दिग्भ्रमित राष्ट्र कवि। पृ. १८, ३२, ४२ ६० आदि।
६. युगचारण दिनकर पृ. ७०
७. रेणुका : पृ. ३२
८. रेणुका : पृ. ७–८
९. हुंकार : पृ. ६२
१०. परशुराम की प्रतीक्षा पृ. ५८
११. इतिहास के आंसू की भूमिका पृ. १
१२. काव्य की भूमिका पृ. ४५
१३. इतिहास के आंसू पृ. ७
१४. इतिहास के आंसू की भूमिका पृ. १
१५. वही पृ. ४६
१६. "हमने देखा यही पाडु वीरों का कीर्ति प्रसार
वैभव का सुख स्वप्न कला का महा स्वप्न अभिसार
यही कहीं अपनी रानी थी तू ऐसे मत भूल
अकबर शाहजहां ने जिसका किया स्वयं शृंगार।"
—दिल्ली पृ. ३
१७. इतिहास के आंसू पृ. ३
१८. ,, पृ. १२
१९. ,, की भूमिका पृ. २
२०. कोयला और कवित्व पृ. ४२
२१. परशुराम की प्रतीक्षा पृ. १०
२२. हिमालय पृ. ७
२३. इतिहास के आंसू पृ. ६
२४. वही पृ. ७
२५. परशुराम की प्रतीक्षा पृ. ९
२६. ,, पृ. ११
२७. कोयला और कवित्व पृ. ४४
२८. कोयला और कवित्व पृ. ४४

२९. परशुराम की प्रतीक्षा पृ. २९
३०. वही :
३१. "सुख का सम्यक रूप विभाजन
जहां नीति से नय से
संभव नहीं अशान्ति दबी हो
जहां खड्ग के भय से।"
+ +
"अहंकार के साथ घृणा का
जहां द्वन्द्व हो नारी,
ऊपर ऊपर शान्ति तल तल
में, हो छिटक रही चिनगारी।—कुरुक्षेत्र पृ. २७—२८
३२. वही पृ. ३१
३३. कुरुक्षेत्र पृ. ३५
३४. "पातकी न होता है प्रबुद्ध दलितों का खड्ग
पातकी बताना उसे दर्शन की भ्रान्ति है
शोषण की शृंखला के हेतु बनतो जो शान्ति
युद्ध है, यथार्थ में व भीषण अशान्ति है,
सहना उसे हो मौनहार मनुजत्व की है
ईश की अवज्ञा घोर पौरुष की श्रान्ति है,
पातक, मनुष्य का है भरण मनुष्यता का
ऐसी शृंखला में धर्म विप्लव है क्रान्ति है।" "कुरुक्षेत्र पृ. ४०—४१
३५. वही पृ. ४१
३६. "जब होती अवतीर्ण शान्ति यह भय न शेष रह जाता
शंका-तिमिर-त्रस्त फिर कोई नहीं देश रह जाता।" वही पृ. ४५
३७. कांतिमोहन शर्मा—कुरुक्षेत्र के विचार स्रोत—दिनकर : में संकलित पृ. १४४
३८. नये सुभाषित पृ. ५२
३९. वही-वही
४०. नील कुसुम पृ. ९५
४१. सकुच गये यदि हम अहिंस
हिंसा के हाहाकार से
कौन बचा पायेगा
गांधी को पशुओं की मार से।
+ +
आज अहिंसा नहीं कसौटी पर

गांधी की आग है।" परशुराम की प्रतीक्षा पृ. ४६

४२. वही पृ. ५८
४३. परशुराम की प्रतीक्षा पृ. २८
४४. "जब शान्तिवादियों ने कपोत छोड़े थे
किसने आशा से नहीं हाथ जोड़े थे
पर हाय धर्म यह भी धोखा है छल है
उजले कबूतरों में छिपा अनल है
पंजों में इनके धार धरी होती है
कइयों में तो बारूद भरी होती है।" वही पृ. २६
४५. परशुराम की प्रतीक्षा पृ. २७
४६. वही पृ. २७
४७. नील कुसुम पृ. ९३
४८. रेणुका पृ. ३१
४९. साहित्यमुखी पृ. ९८
५०. हुंकार पृ. ७४–७५
५१. कुरुक्षेत्र पृ. २८
५२. साहित्य सुखी पृ. ११५
५३. कुरुक्षेत्र पृ. २१
५४. ,, पृ. २०
५५. वही पृ. १९
५६. रश्मिरथी पृ. १५
५७. रश्मिरथी पृ. १५
५८. कुरुक्षेत्र पृ. ३९
५९. वही पृ. ३९
६०. "कौन केवल आत्म बल से जूझकर
जीत सकता देह का संग्राम है ?
पाशविकता खड्ग जब लेती उठा
आत्म बल का एक वश चलता नहीं।" कुरुक्षेत्र पृ. २४
६१. रश्मिरथी पृ. ११२
६२. विविधता जब प्रबल होती है
लड़ाई के देवता रोते हैं
दुनियां को एक करने की सनक से
युद्ध उत्पन्न होते हैं।
—आत्मा की आंखे पृ. ४९

६३. नील कुसुम पृ. ९९

६४. गीता में जो त्रिपिटक निकाय पढ़ते हैं
तलवार गला कर जो तकली गढ़ते हैं
शीतल करते हैं अनल प्रबुद्ध प्रजा का
शेरों को सिखलाते हैं धर्म अजा का
\+ \+
हम उसी धर्म की लाश यहां ढोते हैं
शोणित से सतों का कलंक धोते हैं परशुराम की प्रतीक्षा पृ. १–२

६५. "जहां शस्त्र बल नहीं शास्त्र पछताते रोते हैं
ऋषियों को भी सिद्धि तभी तप से मिलती है
जब पहरे पर स्वयं धनुर्धर राम खड़े होते हैं। वही पृ. २५

६६. परशुराम की प्रतीक्षा पृ. ५३

६७. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध पृ. ४५

६८. फारेन ऐफिस एम्पुल १९६३, पृ. ४५–६७

६९. काव्य की भूमिका पृ. ७

७०. यह सपना साकार बनेगा पंचशील पालन से
स्वप्न सत्य होगा प्रभाव है सह-अस्तित्व हमारा
अर्पित जग के हेतु शान्ति कामी व्यक्तित्व हमारा।" मृत्ति तिलक पृ. ४

७१. "हैं दुखी मेष क्यों लहू शेर चखते हैं
नाइक इतने क्यों दांत तेज रखते है
पर शेर द्रवित हो दशनतोड़ क्यों लेंगे
मेषों के हित व्याघ्रता छोड़ क्यों देंगे
एक ही पंथ तुम भी आघात हनो रे
मेषत्व छोड़ तुम भी व्याघ्र बनो रे। परशुराम की प्रतीक्षा पृ. २६

७२. जब शान्तिवादियों ने कपोत छोड़े थे
किसने आशा से नहीं हाथ जोड़े थे
पर हाय धर्म यह भी धोखा है छल है
उजले कबूतरों में छिपा अनल है
पंजों में इनके धार धरी होती है।
कइयों में तो बारूद भरी होती है।" वही पृ २६
परशुराम की प्रतीक्षा पृ. ७८
"समर शेष है नहीं पाप का भागी केवल व्याघ्र
जो तटस्थ है, समय लिखेगा उसका भी इतिहास।"

७३. परशुराम की प्रतीक्षा पृ. ४२

७४. 'दर्शन की लहरें मत अधिक उछाल
विचारों के विवर्त में पड़ा
आदमी बहुत विवश होता है
मगरमच्छ नोचते मांस और वह
छन्दों में सोचता ऋचाओं श्लोकों में रोता है।
+ + +
पशुता के दुर्दम झकोर में हाथ उठाकर
क्या करना आधान शील का सहिष्णुता का स्नेह का
आत्मा की तलवार सर्वथा व्यर्थ वहां है
जहां अखाड़ा खुला हुआ हो देह का।" वही पृ. ५९–६०

७५. वही पृ. ७५

७६. विनोबा भावे : सर्वोदय दर्शन पृ. १०५

७७. नील कुसुम-भूदान पृ. ७९

७८. डा. सावित्री सिन्हा–युग चारण दिनकर पृ. १५४–५५

७९. हुंकार पृ. १८.

८०. नील कुसुम पृ. ७३–७४

८१. डा. शम्भूनाथ चतुर्वेदी–नया हिन्दी काव्य और विवेचना पृ. २४७

८२. नील कुसुम पृ. ७३–७४

८३. हुंकार पृ. १६

८४. नील कुसुम पृ. ७४

८५. चक्रवाल की भूमिका पृ. ३३

८६. नील कुसुम–राष्ट्र देवता का विसर्जन शीर्षक कविता पृ. ९८

८७. (क) "मेरे विचार से तो 'कुरुक्षेत्र'··· ····· .....
····· का आधार फलक सार्वभौम और विश्वजनीन है।"
डा. सावित्री सिन्हा–युग चारण–दिनकर पृ. १९२

(ख) "इस प्रकार 'कुरुक्षेत्र' एक समस्या के सर्वांगीण रूप को युगाधार पर परखने वाला विचार और विश्लेषण पर आधारित महाकाव्य है।"
डा. सत्यकाम वर्मा–जन कवि दिनकर पृ. ८९

८८. राइन तट पर खिली सभ्यता हिटलर खड़ा कौन बोले
सस्ता खून यहूदी का है नाजी निज स्वास्तिक बोले।" हुंकार पृ. २२

८९. हिलो आल्पस का मूल, हिलें राकी छोटा जापान हिले
मेघरंध्र में बजी रागिनी अब तो हिन्दुस्तान हिले
चोट पड़ी भूमध्य-सिन्ध में नील तटी में शोर हुआ
मर्कट चढ़े कोट पर देखो उठो, सिलासा भोर हुआ। हुंकार पृ. २२

९०. हुंकार पृ. २२
९१. कोयला और कवित्व पृ. ७७
९२. और आपको विदित नहीं क्या राष्ट्रवाद यह कैसा,
विश्व मनुज को जन्म ग्रहण करने से रोक रहा है
कारण ? राष्ट्रवाद उपयोगी भाव, निरी पशुता है
विश्व पुरुष पाशविक धरातल पर कैसे जनमेगा ।
कोयला और कवित्व पृ. ७
९३. शंका की यह आज नहीं क्या बुझ पायेगी ।
देशों की दीवार तोड़ तुम जी न सकोगे ?
फैल रहा है जहर तुम्हारा जो धरती पर
राष्ट्र देवता उसे पुनः तुम पी न सकोगे । नील कुसुम पृ. १००
९४. कवि दिनकर-व्यक्तित्व और कृतित्व पृ. १७
९५. राष्ट्र देवता का विसर्जन—नील कुसुम पृ. १००

———

काव्य और दर्शन का संबंध

भारतीय वाङ्मय में दर्शन शास्त्र अलौकिक सत्ता सम्बन्धी चिंतन मनन का विषय है। इसमें मुख्यतः अज्ञात सत्ता के सम्बन्ध में आश्चर्य और जिज्ञासा की भावना की पूर्ति के लिये तर्कों का सहारा लेकर उस अज्ञात एवं अनंत सत्ता के अस्तित्व के भाव या अभाव पक्ष को प्रमाणित करने का प्रयास किया जाता है। भारत भूमि कि एक विशेषता है कि यहाँ के कवि चिंतक भी होते रहे हैं। चिरंतन शक्ति के प्रति जिज्ञासा काव्य एवं दर्शन दोनों का मूलाधार है। भारतीय कवि एवं दार्शनिक दोनों ही अपने-अपने ढंग से इसी सत्य के रहस्य का उद्घाटन करते हैं। कवि परम सत्ता की आराधना परम सुन्दर के रूप में और दार्शनिक परम सत्य के रूप में करता है।'[1] वस्तुतः दर्शन सत्य का मन्दिर है और काव्य सौंदर्य का। दोनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है।

कविता का सम्बन्ध हृदय से होता है, और दर्शन का बुद्धि से। यह भारत भूमि की विशेषता है कि यहाँ के कवि दार्शनिक और दार्शनिक कवि होते रहे हैं। कवि शब्द का अर्थ भी बहुत व्यापक होता है। वह काव्य प्रणेता, तत्वदर्शी एवं सिद्ध पुरुष एक साथ ही होता है।[2] कवि और दार्शनिक दोनों ही मंगलमयी भावना से अनुप्राणित होकर जीवन की समीक्षा का चित्र प्रस्तुत करते हैं। काव्य में ईश्वर के विश्व जनीन ललित रूप को तथा दर्शन में उसके सत्य स्वरूप की अभिव्यंजना होती है। काव्य जीवन की व्याख्या होता है, आलोचना होता है, तो दर्शन सहज ज्ञान की। दोनों की अव्यवस्थित तथ्यों को व्यवस्थित करते हैं। डा. उदयभानसिंह के शब्दों में– "दर्शन तथ्यों की सूची न प्रस्तुत करके उनका विहित और नियमित रूप में तर्क संगत उपस्थापन करता है उसी प्रकार काव्य अस्त-व्यस्त वैविध्य पूर्ण जीवन के तथ्यों का अनुकरण न करके उनकी व्यवस्थित एवं रमणीय अभिव्यंजना करता है।'[3] तात्पर्य यह कि काव्य भाव प्रधान और दर्शन विचार प्रधान होकर भी दोनों ही सम्पूर्ण विश्व के साथ हमारे सम्बन्ध की अभिव्यक्ति करते हैं। दोनों ही जीवन के आभ्यांतरिक पक्ष के दर्पण हैं।

लक्ष्य की दृष्टि से भी दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों एक ही सत्य के उद्घाटक है। डा. राधाकृष्णन के शब्दों में दर्शन और काव्य दोनों का लक्ष्य एक ही है। किन्तु उनके प्रेरणा-स्रोत भिन्न-भिन्न है। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से वे

सत्य तक पहुँचते हैं।"[4] वस्तुतः दर्शन बुद्धि द्वारा विश्व के वैमनस्य में सामंजस्य स्थापित कर सत्य तक पहुँचने का प्रयास करता है। इसी प्रकार काव्य अन्तर्दृष्टि द्वारा विश्व के नाना रूपों में परम सुंदर की खोज करता है। काव्य और दर्शन दोनों सृष्टि का रहस्य समझने के लिए सतत प्रयत्नशील बने रहते हैं। दोनों का लक्ष्य मोक्ष ही है। काव्य ही क्यों—सभी कलायें मन की मुक्ति के द्वारा भावक को यथार्थ का आस्वाद कराती हैं।[5] इसीलिये जहाँ दोनों का समन्वय होता है, वह रचना श्रेष्ठ होती है। श्रेष्ठ काव्य में आदर्श कल्पना अथवा सच्चे दर्शन का समावेश अनिवार्य है। ऐसी दार्शनिक कल्पना के अभाव में किसी महत काव्य की सत्ता असम्भव है।[6] महान जीवन दर्शन से रहित काव्य, काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। यद्यपि काव्य का प्रयोजन दार्शनिक सिद्धान्त का शास्त्रीय प्रतिपादन करना नहीं है तथापि किसी अन्तर्-दर्शन के समावेश के अभाव में उसके उद्देश्य की पूर्ति असम्भव है। डा. उदयभानु सिंह के विचार में—"व्यापक जीवन दर्शन की अखंडता ही काव्य की महत्ता की आवश्यक कसौटी है।"[7] भारतीय चिन्तकों के अनुसार जब दार्शनिक का विवेक अन्तर्दर्शन के रूप में प्रकाशित होता है तब प्रकृतितः काव्य उसकी सीमा के अन्तर्गत आ जाता है।[8] ठीक उसी प्रकार काव्य आनन्द की सृष्टि में सफल नहीं हो सकता यदि वह अपने स्वरूप द्वारा दर्शन की अभिव्यक्ति नहीं करता। अरस्तू का कथन है कि "काव्य समस्त विषयों में सबसे अधिक दार्शनिकता के लिए हुये है क्योंकि उसका उद्देश्य सत्य को पालना है।"[9] निष्कर्ष यह कि काव्य और दर्शन किसी भी रूप में एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। मूलतः दोनों एक ही समस्या के समाधान में पृथक-पृथक मार्ग से अग्रसर होते हैं। फलतः दोनों का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है।

(२) **आधुनिक दर्शनः**—दर्शन का विशाल क्षेत्र मानव जीवन की समस्त विविधताओं को अपने अन्दर संजोये है। भारतीय प्राचीन दर्शन में जीवन और जगत के सम्बन्ध में बड़े उपयोगी सिद्धान्त सन्निहित हैं। भारतीय दर्शन ने समय-समय पर अपने रूप को बाह्य प्रभावों के उपयोगी उपकरणों से भी सजाया है। यही कारण है कि अठारहवीं शताब्दी तक आते-आते भारतीय चिंतन प्राचीन दार्शनिको के चिंतन से बहुत भिन्न हो गया। इस्लाम और इसाई धर्म के प्रभावों ने तो भारतीय दर्शन के रूप को बहुत अधिक प्रभावित किया। जीजस के उपदेश पौर्वात्य दर्शन की महत्वपूर्ण बातों से कुछ अधिक सामजंस्य रखते थे। अतः आधुनिक चिन्तकों पर इनका प्रभाव पड़ा। बीसवीं शताब्दी में विज्ञान का आश्चर्य जनक उत्थान सबसे महत्वपूर्ण घटना है। अतः वैज्ञानिक उन्नति ने आस्तिकता जैसे जीवन मूल्यों और धर्म व्यवस्था को एक प्रकार से धराशायी कर दिया है। प्रकृति के व्यापारों की धार्मिक व्याख्यायें और उनके प्रति मनुष्य का आध्यात्मिक दृष्टिकोण समाप्त हो चले हैं। जब प्रकृति के समस्त रहस्यों को जानने के लिये विज्ञान कृत संकल्प हो गया है तब प्रकृति को

संचालित करने वाली किसी रहस्यात्मक शक्ति में विश्वास जमना अत्यन्त कठिन हो जाता है।[१०] इसीलिये आधुनिक चिन्तको में विज्ञान के प्रति आकर्षण का भाव आया। डा० विश्वनाथ नरवणों ने इसका विवरण देते हुये लिखा है – "राम मोहन राय ने तो वैज्ञानिक पुस्तको तथा यन्त्रो को उपलब्ध करने तथा प्रयोग शालायें स्थापित करने के लिये आग्रह किया था। केशवचन्द सेन ने लिखा – "विज्ञान ही आपका धर्म होगा वेदों से भी ऊपर बाइबिल से भी ऊपर। खगोल, भू विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, रसायन शरीर और कायिक उसी प्रकार प्रकृति के, ईश्वर के सजीव धर्म ग्रन्थ हैं, जैसे– दर्शन, तर्क शास्त्र और नीति शास्त्र आत्मा के, ईश्वर के धर्म ग्रन्थ हैं···· बाद में विवेकानन्द ने भी यही बात कही और अपने दार्शनिक विचारों को वैज्ञानिक रूपकों के द्वारा समझाने का अवसर कभी हाथ से नहीं जाने दिया। तिलक को सदा गणित और खगोल की नवीनतम प्रगति में गहरी रुचि रही दयानन्द सरस्वती यह दिखाने को उत्सुक थे कि वेदों मे वैज्ञानिक सत्य मौजूद है। टैगोर ने शान्ति निकेतन के छात्रों के लिये भौतिक और रसायन की पाठ्य पुस्तकें लिखी। कुमार स्वामी जो विभिन्न केन्द्री पाश्चात्य सभ्यता के कठोर आलोचक थे अपनी जीवन-यात्रा प्रशिक्षित भू वैज्ञानिक के रूप मे लिखी। और अरविद ने अपने भावी आध्यात्मिक समाज की कल्पना में विकास के प्राणि वैज्ञानिक सिद्धान्त और सापेक्ष्यता की भौतिकी के लिये स्थान रखने का प्रयास किया।"[११]

भौतिकवादी जीवन के प्रति भारतीय चिन्तकों का दृष्टिकोण सदैव विरोध पूर्ण ही रहा। जीवन में भौतिक सुखो का खुला उपभोग उन्हें कभी मान्य न हुआ। नये मूल्यों और सिद्धान्तो को स्वीकारने के बाद भी भारतीय चिन्तकों ने अपना दृष्टि-कोण नहीं बदला, धर्म का भाव न हटाया। डा० नरवणों के शब्दों में– "राम मोहन से राधा कृष्णन तक यही प्रकल्पना रही की भारतीय चिन्तन का कोई भी पुनरुत्थापन जो धर्म से हटने का प्रयास करेगा बहुत दूर तक नहीं जा सकेगा।"[१२]

("भारत में जिसे धर्म कहा जाता है उसे योरोपीय शब्दावली में विश्व दृष्टि कहना शायद अधिक उपयोगी होगा।"[१३] प्रो. हुमायु कबीर के इस कथन में आधुनिक दर्शन का सम्पूर्ण स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। आधुनिक युग के चिंतन की विशेषता है विश्व को देखने, समझने और उसके व्यावहारिक पक्ष को युगानुकूल नई दिशा देने की। इसीलिये आधुनिक दर्शन में धर्म के साथ सामाजिक नियम, राजनीतिक सिद्धान्त और आर्थिक समस्यायें भी समाहित हो गई हैं। बीसवी सदी के उत्तरार्ध के दार्शनिक वैराग्य और एकान्त सेवन के पक्षधर नही हैं। वे जीवन संघर्ष के बीच से निकल कर अपने सिद्धान्त बनाते हैं।)

दिनकर के काव्य की दार्शनिक मान्यतायें— डा. सत्यकाम वर्मा ने दिनकर की कविता का दार्शनिक रूप उद्घाटित करते हुये कहा है–"दिनकर का काव्य देश के स्वतंत्रता-संग्राम और इसकी आर्थिक स्थिति से इतना मिलकर चला

है कि उसमें किसी प्रकार की दार्शनिक पृष्ठभूमि को खोज निकालना महत्वहीन दिखायी देता है। वह स्वयं भी अपने काव्य में किसी प्रकार के दर्शन या दार्शनिक पहलू को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है।"[१४] विद्वान लेखक के इस कथन की पृष्ठभूमि में कवि दिनकर की कविता को परखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका काव्य किसी भी दार्शनिक की विचारधारा का अनुकरण नहीं है। अपनी काव्य-रचना के प्रारंभिक दिनों से ही कवि युग-चेतना का संवाहक रहा है। अतः उसने किसी धारा विशेष का आदि से अन्त तक समर्थन नहीं किया है। कवि ने समय समय पर अपने युग में प्रचलित समस्त विचारधाराओं से प्रभाव ग्रहण कर काव्य रचना की है। दिनकर की काव्य-प्रेरणा भारत के प्राचीन धर्म, दर्शन और संस्कृति सबसे अपना रूप सवारती है। यही कारण है कि दिनकरजी का दार्शनिक क्षेत्र बड़ा विस्तृत हो जाता है। इसमें कहीं भी रूढिवादिता और कट्टरता नही है। नवीनता के प्रति प्रेम और समसामयिकता की मांग पर कवि किसी भी दार्शनिक की विचारधारा से प्रभावित होकर काव्य-रचना कर देता है। दिनकर की कवितायें धर्म, दर्शन, निवृत्ति. प्रवृत्ति युद्ध, शान्ति, हिंसा, अहिंसा आदि न जाने कितनी मान्यताओं का विपुल कोश है। वे एक ओर प्राचीन धर्म के समर्थक हैं और दूसरी ओर उसी धर्म की निवृत्तिवादी प्रवृत्ति के कटु आलोचक। इसीलिये उन्होंने अपनी कविता का सृजन किसी दर्शन की व्याख्या के लिये नहीं किया। जागरुक और उत्तरदायी कवि की भांति उन्होंने समसामयिक और पूर्ववर्ती विचारधाराओं को परखा है, पचाया है। इसके बाद उनमें अपनी मान्यता का पुट देकर समाज के समक्ष एक स्वस्थ जीवन दर्शन को प्रकट करने का प्रयास किया है।

(क) दिनकर की धर्म सम्बन्धी मान्यतायें—चक्रवाल की भूमिका में दिनकर ने धर्म के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए लिखा है–'धर्म का जन्म आत्मा के धरातल पर होता है। किन्तु, उसकी सार्थकता इस बात में है कि वह आत्मा के स्तर से उतर कर जीवधारी धरातल की प्रवृत्तियों को प्रभावित करे।'[१५] प्रारंभ से आज तक कवि धर्म के सम्बन्ध में अपनी इसी मान्यता का कायल है। दिनकर ने धर्म को व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया है। भारतीय धर्म के उस पक्ष से उन्हे बड़ी चिढ़ है जो अति मानवीय बन कर जीवन से बहुत ऊंचा चला जाता है। इसका यह अर्थ भी नहीं कि वे धर्म के प्रति आस्थावान नही हैं या उनमें अनंत सत्ता के प्रति विश्वास का भाव नहीं है। ईश्वर के प्रति उन्हें जिज्ञासा है—

'सोचता हूं जब कभी संसार यह आया कहां से
चकित मेरी बुद्धि कुछ भी कह न पाती है
और तब कहता हृदय अनुमान तो होता है
घट अगर है कहीं तो घटकार भी होगा।"[१६]

धार्मिक अन्धविश्वास का खंडन :— दर्शन और धर्म जीवन के आवश्यक पहलू हैं। किन्तु केवल सैद्धान्तिक महत्व के कारण कवि किसी भी धर्म को महत्व नहीं देता। वह सदैव किसी ऐसे धर्म के समर्थक हैं जो वर्तमान जीवन स्तर को उठा सके। इसलिये उन्होंने कहा है —

"दर्शन मात्र विचार, धर्म ही है जीवन,
धर्म देखता ऊपर नभ की ओर
ध्येय दर्शन का मन
हमें चाहिये जीवन और विचार भी
अबर का सपना भी यह ससार भी "[१७]

दिनकर के संस्कार तुलसी और कबीर की सहज गम्भीरता से बने हैं।[१८] धर्म, अधर्म की विचिकित्सा उनके अन्दर नही है। धर्म के अन्दर व्याप्त अन्ध भक्ति और अन्ध श्रद्धा के वे कटु आलोचक है। दिनकर किसी भी सिद्धान्त या विचार को तर्क संगत होने पर ही स्वीकारते हैं। तर्क के अभाव में आंख मूंद कर विश्वास कर लेने की प्रवृति उन्हें रुचिकर नही —

"बहुत पूछा मगर उत्तर न पाया
अधिक कुछ पूछने में और डरते है
असंभव है जहा कुछ सिद्ध करना
नयन को मूंद कर हम विश्वास करते हैं।"[१९]

धर्म और विज्ञान का समन्वय — दिनकर की धर्म सम्बन्धी मान्यता में जो सबसे महत्वपूर्ण बात है वह यह है कि वे विज्ञान को धर्म का पूरक बनाकर चलाने के पक्ष में हैं। उनके मत से न अकेला विज्ञान मानवता का सहायक हो सकता और न धर्म। अतः दोनों के सामंजस्य से मानवता की सेवा होनी चाहिए। 'कोयला और कवित्व' संग्रह की 'विज्ञान' शीर्षक कविता में उन्होंने कहा है कि वैज्ञानिक उपलब्धियों के अतिरिक्त एक अ-परोक्ष सत्ता है जिसकी प्राप्ति आवश्यक है। अकेला विज्ञान अपने लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकता, वह उत्पति के मूल तक नहीं जा सकता।'[२०] आगे 'भविष्य' शीर्षक कविता में उन्होंने पुनः कहा कि मनुष्य विवेकहीन होकर चन्द्रलोक के अन्वेषण में लीन है, परन्तु आत्म शोध की उसे तनिक चिन्ता नहीं है। बुद्धि और हृदय को मिलाकर चलने से ही मानवता का कल्याण हो सकता है। निराबुद्धि वादी मानव हृदय विहीन हो जाता है। अतः उसे दोनों का संतुलित प्रयोग करना चाहिये।[२१]

आध्यात्मिकता और भौतिकता का समन्वय :— दिनकर की धर्म सम्बन्धी मान्यता ही उनका 'आपद्धर्म' बनी। सामने आयी हुयी परिस्थिति का उनके अनुकूल समाधान करना ही आपद्धर्म है। यह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आ सकता है। धर्म के प्राचीन नियम आवश्यक रूप से, आज के जीवन के लिये उपयोगी नहीं हो

सकते। साधु सन्तों ने जो सिद्धान्त अपनी मोक्ष-प्राप्ति के लिये बनाये थे वे आज के मनुष्य को जीवन संग्राम में जूझने की शक्ति नहीं दे सकते। अपने इस आशय को व्यक्त करते हुये उन्होंने लिखा —

"धर्मराज किसको न ज्ञात यह कि अनित्य जगत है
जन्मा कौन काल का जो नर हुआ नहीं अनुगत है
किंतु रहे पल पल अनित्यता ही जिस नर पर छायी
नश्वरता को छोड़ पड़े कुछ और नहीं दिखलाई
द्विधा मूढ़ वह कर्म योग से कैसे कर सकता है
कैसे हो सन्नद्ध जगत के रण में लड़ सकता है
तिरस्कार कर वर्तमान जीवन के उद्वेलन का
करता रहता ध्यान अहर्निश जो विद्रूप मरण का
अकर्मण्य वह पुरुष काम किसके कब आ सकते हैं?
मिट्टी पर वह कोई कैसे कुसुम खिला सकता है।"[२२] 31

कवि ने आध्यात्मिकता के साथ भौतिकता का सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक समझा है। उनके मत से—

"जहा भुजा का एक पथ हो अन्य पथ चिन्तन का
सम्यक रूप नहीं खुलता उस द्वन्द्व ग्रस्त जीवन का।"[२३] 132

"कुरुक्षेत्र' में कवि ने भीष्म के माध्यम से इसी धर्म का प्रतिपादन करवाया है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में भी इसी का समर्थन है। भले ही युद्ध की बात क्यों न हो अगर शत्रु द्वार पर आकर ललकारता है तो हमें धर्म का नाम लेकर पीछे नहीं हटना चाहिये। अगर शत्रु हमारे धर्म पूर्ण आचरणों को हमारी कमजोरी समझता है तो हमें युद्ध का जवाब युद्ध से देना चाहिए अन्यथा हमें पराजय मिलेगी।

"उपशम को जो जाती कर्म कहती है
शम शम विराग को श्रेष्ठ कर्म कहती है
धृति को प्रहार शान्ति को मर्म कहती है
अक्रोध विनय को विजय धर्म कहती है
अपमान कौन वह जिसको नहीं सहेगी
सबको असीम सबकी बन दास रहेगी"[२४]

इस प्रकार धर्म सम्बन्धी मान्यता में भी कवि ने युगानुकूल धर्म को ही स्वीकारा है। धर्म की रूढ़ी इन्हें स्वीकार नहीं। उन्होंने धर्म के व्यावहारिक पक्ष पर ही बल दिया है, उसे युग-चेतना के अनुरूप बनाने का प्रयास किया है।

(ख) कर्मठतावादी दर्शन—अपनी काव्य-रचना के आरम्भ से ही कवि पौरुष का गायक रहा है। प्रारम्भ से ही कवि एक ओर तो राष्ट्रीय क्रान्तिकारी युवकों के कर्मठ जीवन से प्रभावित रहा और दूसरी ओर तिलक की उग्र राष्ट्रीयता से, इसलिए उनके काव्य में सर्वत्र कर्मठ जीवन के प्रति आग्रहभाव विद्यमान है। ऐतिहासिक

प्रतीकों में भी कवि को उन्हीं पात्रों का जीवन दर्शन प्रभावित करता हैं जिनमें कर्मठता का समावेश है। सन्यास के प्रतीक युधिष्ठिर के स्वर्ग जाने से कवि थोड़ा भी दुखी नहीं है, उसे तो कर्मठता का प्रतीक गदाधारी भीम और गांडीवधारी अर्जुन चाहिये।[२५] जीवन के गायक कवि दिनकर जीवन में प्रवेश कर उसकी उलझनों से जूझकर जीवन जीना चाहते हैं। इसी लिए वे सन्यास को कायरता कहते हैं और मनुष्य जीवन की ग्रान्थियों को सुलझाने में आनन्द अनुभव करते हैं।

"धर्मराज सन्यास खोजना कायरता है मन की।
है सच्चा मनुजत्व ग्रन्थियां सुलझाना जीवन की।"[२६]

इस जग जीवन को छोड़ कर वैयक्तिक मौक्ष की प्राप्ति करने के उद्देश्य को दिनकर मान्यता नही देते। कर्म मय जीवन से मुख मोड़कर संन्यासी का जीवन बिताने वाले दिनकर के श्रद्धा पात्र नही बन सके है। उन्होने ऐसी निवृत्ति को 'ग्लानि' कहा है और ऐसे 'पलायन को 'कुत्सा।'

"जनाकीर्ण जग से व्याकुल हो निकल भागना बन में
धर्मराज है घोर पराजय नर की जीवन रण में
यह निवृत्ति है ग्लानि पलायन का कुत्सित क्रम है
निःश्रेयस यह श्रमित पराजित, विजित बुद्धि का भ्रम है।"[२७]

अपने कर्मवाद के समर्थन में तर्क उपस्थित करते हुए कवि ने निष्कर्ष दिया है कि कर्म को छोड़कर मनुष्य सुखी नही हो सकता चाहे वह जहा कही भी भाग जाये। कर्म सदैव उसके साथ रहेगा। कर्म के अनुसार ही उसे फल मिलेगा। कर्म के विस्तृत क्षेत्र पृथ्वी पर जन्म लेकर कर्म से पलायन करना कर्मशील मनुष्य को शोभा नही देता। 'कुरूक्षेत्र के भीष्म की वाणी में कवि का यही कर्म सन्देश गूंज रहा है।[२८]

'रश्मिरथी' में भी कर्ण के माध्यम से कवि ने अपने कर्मठता वादी दर्शन का ही प्रतिपादन किया है। जीवन गत यश, मान, सम्मान और प्रतिष्ठा वही पाते है जिनका जीवन कर्ममय होता है, जिन्हें अपनी भुजाओं पर भरोसा होता है। जीवन से डरने वाले कभी भी विजयी नही होते।

"जीवन उनका नहीं युधिष्ठिर जो डरते हैं
वह उनका जो चरण रोप निर्भय होकर चलते हैं।"[३०]

जीवन संग्राम का यह प्रवृत्ति मूलक दर्शन दिनकर ने चीन-युद्ध के सम्बन्ध में बड़ी उग्रता से व्यक्त किया है। आलोचकों की दृष्टि में उसे कवि की वैचारिक उग्रता भले ही कहा जाय किन्तु यह दिनकर का जीवन दर्शन है। उनके काव्य का मूल प्रतिपाद्य है। इसका चित्रण कवि ने सदैव किया है। सदैव उनका यही मत रहा कि—

"चढ़ तुंग शैल शिखरों पर सोम पियो रे
योगियों नहीं विजयी के सदृश्य जियो रे।"[३१]

दिनकर के कर्मठतावादी दर्शन पर जहां तक प्रभाव की बात है इसे तिलक का प्रभाव कहा जा सकता है। गीता के कर्मवाद से प्रत्यक्ष प्रभावित न होकर कवि ने तिलक के व्यक्तित्व से प्रभाव ग्रहण किया है। तिलक के प्रति दिनकर के मन में बड़ी गहरी आस्था है। वे तिलक के कर्मयोग के सच्चे समर्थक हैं।[३२] "कुरुक्षेत्र" के राष्ट्रीय तत्व तथा दार्शनिक तत्व पर तिलक की राजनीतिक दार्शनिक विचारधारा का गम्भीर प्रभाव है। दिनकर ने कुरुक्षेत्र के सप्तम सर्ग में निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग का वर्णन करते हुये तिलक की ही भांति निवृत्ति का खंडन और प्रवृति का प्रतिपादन किया है—

"एक पंथ है छोड़ जगत को अपने मे रमजाओ
खोजो अपनी मुक्ति और निज को ही सुखी बनाओ
अपर पथ है औरों को भी निज विवेक बल देकर
पहुचो स्वर्ग लोक में जग से साथ बहुत को लेकर।"[३३]

निवृत्ति के ब्याज से सन्यास पर दिनकर ने जो करारी चोट की है वह भी तिलक का ही प्रभाव है।[३४]

तिलक के अनुसार कर्म अपने आप मे न पाप है न पुण्य है। शुभ बुद्धि से किया गया कर्म चाहे वह युद्ध ही क्यो न हो शुभ है।[३५] दिनकर ने अपने कुरुक्षेत्र में युधिष्ठर की युद्ध विषयक जिज्ञासा के समाधानार्थ भीष्म के मुख से ठीक ऐसी ही बातें कहलाई हैं।[३६]

गीता कर्म को त्याज्य नही मानती क्योकि वह अनिवार्य है। इसके अनुसार कर्म का सम्पादन बुद्धि से होना चाहिये। लोक संग्रह की भावना भी कर्म योगी के के लिए अभिनंदनीय है।[३७] "कुरुक्षेत्र" में भीष्म ने जिस युधिष्ठर को कर्म योग का संदेश दिया उसमें लोक सग्रह के महत्त्व को भी स्वीकार किया गया है।[३८]

प्रवृत्ति दर्शन का एक स्वरूप उर्वशी में भी मिलता है। भोग को अन्तिम सीमा तक भोग कर ही मनुष्य योग संधान कर सकता है। यह दिनकर की भौतिक मान्यता है—

"किसने कहा तुम्हे जो नारी नर को जान चुकी है
उसके लिए अलभ्य ज्ञान हो गया परम सत्ता का
और पुरुष जो बाँध चुका रमणी को
देश काल को भेद गगन में उठने योग्य नही है।"[३९]

यहां भी परोक्ष रूप से यही सकेत है कि एक सीमा तक जीवन में कर्ममय रहकर ऐहिक सुखों को भोग कर अन्त में अध्यात्म की ओर उठा जा सकता है।

निष्कर्ष यह कि सम्पूर्ण 'कुरुक्षेत्र' के कर्मवादी दर्शन पर तिलक का प्रत्यक्ष प्रभाव है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में अकर्मण्य भारतीयो को कर्म की ओर ले जाने के लिये जो उग्र स्वर सुनाई पड़ता हैं उसके मूल में भी तिलक का कर्मवाद ही है। वस्तु स्थिति तो यह है कि तिलक का कर्मवादी दर्शन युग-धर्म बन गया था। रप तत्र

भारत ने स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये तिलक दर्शन को संबल बना लिया था। युग की इसी सशक्त-चेतना को कवि ने अपने काव्य में स्वर दिया है।)

ग—मानवतावादी दर्शन—भारत में मानवतावादी दर्शन आधुनिक युग में विवेकानंद व श्री अरविंद के प्रभाव से आया तथा पाश्चात्य चिंतकों में मार्क्स, लेनिन और बट्रेण्ड रसेल ने भी मानवतावादी दर्शन का प्रतिपादन किया। विश्व मानवतावाद के मूल में मानव जीवन की मूलवृत्ति प्रेम है (आधुनिक काल में हिन्दी कवियों ने जिस मानवतावाद को अपने काव्य में प्रश्रय दिया है उसके दो स्वरूप हैं—पहला प्रगतिवादी कवियों का मानवतावाद जिसकी पृष्ठभूमि में पाश्चात्य चिन्तकों का प्रभाव है, दूसरा छायावादी मानवतावाद जिसकी जड़े भारतीय चिंतन शक्ति की मिट्टी में फैली हुई हैं। यों मानवतावाद का विकास जैन और बुद्धकाल से ही होने लग गया था। इसी काल में मानव की सर्वतोमुखी प्रगति की कल्पना की गयी थी, किन्तु आधुनिक मानवतावाद पर प्राचीन मानवतावाद का प्रभाव परोक्ष रूप से ही पड़ा है।)

स्वामी विवेकानंद ने प्रेम को ही परमेश्वर कहा है।[४०] उनके विचार से प्रेम सौदा करना नहीं जानता। वह तो सदा देता ही है।[४१] दिनकर भी विवेकानंद के इस प्रेम सिद्धान्त से प्रभावित हुए। अपनी प्रथम रचना 'रेणुका' की 'प्रेम का सौदा' शीर्षक कविता मे इन्होने प्रेम के महत्व का गान किया।[४२] जिस प्रकार स्वामी विवेकानंद का प्रेम विश्व कल्याण और लोक मंगल की भावना से समन्वित है, ठीक उसी प्रकार दिनकर की कविता का प्रेम भाव भी विश्व का परिचायक हो गया है।

सुख-दुख का दार्शनिक स्वरूप:—मानवतावाद की प्रतिष्ठा करते हुये स्वामी विवेकानन्द ने सुख और दुःख दोनो को आध्यात्मिक स्तर पर अपनाया है। उन्होने कहा कि जीवन और मृत्यु मे, सुख और दुःख में ईश्वर समान रूप से विद्यमान है।[४३] दुःखी ही ईश्वर का रूप है।[४४] जो गरीबों, निर्बलो और पीडितों में शिव को देखता है वही वास्तव में शिव का उपासक है।[४५] "विवेकानन्द के दुख विषयक इस दार्शनिक स्वरूप का दिनकर पर पूर्ण प्रभाव है। छायावादी युग के समर्थ कवि निराला की "भिक्षुक" विधवा आदि कवितायें भी स्वामी विवेकानंद के इसी दर्शन से प्रभावित है। दिनकर की "हाहाकार" शीर्षक कविता में "दीनों, दलितों अनाथ बच्चों एवं लज्जा वसन" से विहिन अबलाओं के प्रति जो करुणा भाव व्यक्त हुआ है।[४६] वह भी विवेकानन्द का प्रभाव है। छायावादी काव्य के दुखवाद में अभिव्यक्त मानव-करुणा की भावना दिनकर की भी कुछेक कविताओं मे है। बंगाल और बिहार के अकाल के समय दुखी और त्रस्त मानवता के लिये दिनकर ने जो करुणा भाव व्यक्त किया है, उसे छायावादी मानवतावाद का उदाहरण कह सकते हैं।[४७] 'कुरुक्षेत्र' तक पहुँचते-पहुँचते दिनकर का मानवतावाद चरम सीमा पर पहुँच गया। उनकी दृष्टि

विश्व के हितों पर भी जाने लगी। द्वितीय विश्व युद्ध से प्रभावित होकर समस्त विश्व यह जान गया था कि अब कोई भी युद्ध केवल देशीय नही हो सकता। फलतः भावनात्मक रूप से मनुष्य ने राष्ट्रीयता की सीमा को तोड़ने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया था। यही कारण है कि दिनकर के समयुगीन चिन्तको ने भी विश्व मानवतावाद पर बल दिया। समसामयिक इस युगचेतना मे दिनकर भी प्रभावित हुये और कुरुक्षेत्र में उन्होंने विश्व मानवतावाद की मनोहारी कल्पना की—

"व्योम से पाताल तक सब कुछ उमे है ज्ञेय
पर यह न परिचय मनुज का यह न इसका श्रेय
श्रेय उसका बुद्धि पर चैतन्य उसकी जीत
श्रेय मानव की असीमित मानवों से प्रीति (४५)

कवि के मानवतावाद की यह कल्पना उत्तरोत्तर दृढ़ होती रही। कवि असीमित मानवों के लिए प्रीति की माग कर रहा था किन्तु अब वह असीमित मानवों के लिए विश्वास की कामना करने लगा। दिनकर ने कहा कि पारस्परिक विश्वास के आधार पर ही समग्र विश्व में एक नये इतिहास का निर्माण हो सकेगा और यह नव निर्मित विश्व, सृष्टि का आदर्श होगा—

"श्रेय होगा मनुज का समता विधायक ज्ञान
स्नेह सिंचित न्याय पर नव विश्व का निर्माण
एक नर में अन्य का निःशंक दृढ़ विश्वास
धर्म दीप्त मनुष्य का उज्जवल नया इतिहास।" (४६)

राष्ट्र कल्याण और मानवतावाद—पाश्चात्य चिन्तक रसेल से प्रभावित होकर दिनकर ने विज्ञान के विध्वंसक और संहारक रूप की भर्त्सना की। वे विज्ञान को समस्त विश्व के लिये उपयोगी बनाने के पक्षपाती हैं। दिनकर का मानवतावाद समस्त विश्व के मानवो के लिए सुख-शान्ति का कामी है। उनके काव्य में मानवतावाद का एक विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। उनका यह युग प्रसूत मानवतावाद छायावादी और प्रगतिवादी कवियों के समन्वित मानवतावाद के रूप का प्रतिफलन है। दिनकर ने अपने मानवतावाद में केवल 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' की ही कामना नही की हैं, अपितु 'मानवों के हेतु अर्पित मानवो की आयु' की मान्यता स्थापित की है। इस प्रसग में एक तथ्य का स्पष्टीकरण आवश्यक है कि प्रबल रूप से राष्ट्रीय कवि होने के कारण दिनकर की यह विश्व मानवतावादी प्रवृत्ति उनके हृदय की सहज भावना नहीं है। केवल युग की चेतना से प्रभावित होकर कवि ने विश्व मानवतावाद के चित्र प्रस्तुत किए हैं। यही कारण है कि समय आने पर वे इसका त्याग करने में संकोच नही करते। राष्ट्रवाद के सदर्भ में अपनी इसी मान्यता का स्पष्टीकरण करते हुये उनके "युद्ध देवता" ने घोषणा की है—

"है कहाँ विश्व मानव जो हैं केवल स्वदेश के प्राणी हैं
मानवता नहीं मातृ भू की महिमा के सब अभिमानी हैं
जब तक झंडे फहर रहे अभिमान नहीं यह सोता है
देखे तो तब तक विश्व मनुज का जन्म कहाँ से होता है।"[५०]

प्रस्तुत पक्तियों में यद्यपि कवि की कल्पना का आदर्श 'विश्व मानव' है परन्तु राष्ट्रीय हितो की सीमा उसके विकास की सबसे बड़ी बाधा है। अतः जब राष्ट्र के अन्दर की मानवता समृद्ध नही हो जाती विश्व मानवता का स्वप्न नहीं पूरा हो सकता। यही कारण है दिनकर का कवि जिसने विश्ववाद के लिए 'राष्ट्र देवता' का विसर्जन[५१] किया था, विश्व कल्याण की भावना अभिव्यक्त की थी, वही कवि राष्ट्रीय सकट की स्थिति में विश्व मानवतावाद के आदर्शों को, कल्पनाओ को चकनाचूर कर देता है और पुनः राष्ट्रवाद के उसी धरातल पर उतर आता है, जहाँ से उसने केवल भारतीय मानवता की रक्षा के लिए, उसके अधिकारों की प्राप्ति के लिए 'हुंकार' किया था। सक्षेप मे दिनकर जी का मानवतावाद पहले राष्ट्र की जनता का उद्धार चाहता है इसके बाद विश्व मानवता का। वे राष्ट्रीय कवि पहले और विश्व कवि बाद में हैं। उनके काव्य में मानवतावादी दृष्टिकोण बड़ा व्यापक है परन्तु पहले वे भारत के गरीब किसानों, भूखे बच्चों और दलित जनता का उद्धार चाहते है। जब उनकी इन समस्याओं का निदान हो जायगा तब वे विश्व से दुख दैन्य और वैषम्य को हटाने का प्रयास करेंगे।

६. **भाग्यवादी दर्शन**—भारतीय सस्कारो के अनुसार पूर्व जन्म के कर्मों के आधार पर मनुष्य को वर्तमान में जो सुख दुख मिलते है वही मनुष्य का भाग्य है। भाग्यवाद में पूर्व जन्म के कर्मों का महत्व स्वीकार किया जाता है। भाग्यवादी दर्शन के अनुसार वर्तमान मे मनुष्य जो कुछ करता है, कर्म भी उसके आगामी जीवन के भाग्य-निर्माण की पीठिका बनाते है। इस भाग्यवादी दर्शन में ही निर्वेद और पलायन के भाव अपरोक्ष रूप से मिल जाते है, जिनम वर्तमान के प्रति अनास्था होती है।

छायावादी कवियो ने अपनी वर्तमान कुंठा को 'नियति' के नाम से अभिहित किया था। वास्तव में उनका यह 'नियतिवाद' भाग्यवादी दर्शन ही था। दिनकर जी पौरुष के कवि है। कर्मवाद उनका जीवन दर्शन है। उनका समस्त काव्य साहित्य कर्मवाद की गरिमा से आलोकित है। भाग्यवाद उनके काव्य की प्रवृत्ति नहीं है। फिर भी भारतीय संस्कार वश और छायावादी प्रभाव के कारण यत्र-तत्र उनकी कविता में भाग्यवाद की एक क्षीण रेखा देखने को मिलती है।

'रेणुका' के कतिपय गीतों में कवि की निवृत्ति मूलक भावना चित्रित है।[५२] दिनकर की इस विचारधारा को डा. सावित्री सिन्हा ने अस्वस्थ, असंतुलित और रुग्ण जीवन दृष्टि कहा है।[५३] छायावाद से प्रभावित कवि ने रोमाण्टिक दुखद भावों से अपने को आवेष्टित किया है, विश्व को नश्वर और क्षण भंगुर माना है।[५४]

उर्वशी की देह और उसके प्रेम मे डूबकर योग का संधान करने वाला कवि कभी अपनी प्रियतमा को केवल इसलिए प्यार नही कर पाता था कि यह रूप राशि काल के वशीभूत है, जरा-मरण से इसका नाश हो जायगा—

"और गालों के फूलो पर क्यो तू फूली अलबेली ?
बिना बुलाये ही आती होगी मौत सहेली।
दो दिन प्रिय की मधुर सेज पर कर लो प्रणय बिहार सखी
चखना होगा तुम्हे एक दिन महा प्रलय का प्यार सखी।"[५५]

'रश्मि-रथी' में दिनकर ने भाग्य और कर्म का स्पष्ट द्वन्द्व चित्रित किया है। 'रश्मि-रथी' का नायक कर्ण दिनकर की कर्मवादी चेतना का सबसे सशक्त प्रतीक पात्र है। उसका सारा जीवन भाग्य के छल और कर्म के प्रभाव से भरा हुआ है। उसने जो कुछ भी जीवन में प्राप्त किया है कर्म के बल से और जो कुछ भी खोया भाग्य के छल से। अतः कर्ण अर्जुन के भाग्य से ईर्ष्या करता है क्यों कि उसे सब कुछ भाग्य के प्रभाव से प्राप्त हो जाता है—

"उस पार्थ भाग्य शाली का क्या कहना ?
ले गये पिता माग कवच कुण्डल को
जननी आयी है करने कुंठित रिपु बल को।"[५६]

यद्यपि कर्ण भाग्य को मान्यता नही देता लेकिन उसका कर्म जहा कहीं भी छला गया भाग्य के कारण ही। अतः उसके प्रति कर्ण के मन में वितृष्णा का भाव है।

'उर्वशी' मे भी दिनकर का भाग्यवादी दृष्टिकोण यत्र तत्र स्पष्ट हुआ है। उर्वशी के प्रणय पाश मे पुरुखा के बध जाने पर महारानी औशीनरी अपने भाग्य के इस परिहास पर आठ आठ आसू बहाती है।[५७]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाग्यवादी दर्शन के प्रति कवि में एक क्षीण विश्वास तो अवश्य है परन्तु यह उनकी मूल प्रवृति नही है। केवल छायावादी प्रभाव और जन्म से मिली एक सरकार गत आस्था के कारण कवि ने भाग्य का अस्तित्व स्वीकार किया है। जहा तक युग चेतना के साथ इस दर्शन का सम्बन्ध है दिनकर के युग में भाग्य का सहारा लेकर वर्तमान को झुठलाया नही गया।

(ङ) **युद्ध दर्शन**—"दिनकर हिन्दी के पहले कवि है जिन्होने युद्ध को अपनी कविता का प्रतिपाद्य बनाया, उसके मूल कारणो की ओर इंगित किया है।"[५८] उपरोक्त कथन मे दिनकर युद्ध के विचारक के रूप में समक्ष आते हैं। कवि की काव्य रचना का प्रारम्भ से आज तक जो विकास हुआ है वह युद्ध और संघर्ष की पृष्ठभूमि से ही प्रसूत है। प्रथम और द्वितीय महायुद्ध की भीषण विभीषिकायें, भारत का स्वतन्त्रता संग्राम, सत्य और अहिसा के प्रयोग तथा मैत्री के पहलू में छिपा चीन का आक्रमण—ये सब कुछ ऐसी संघर्ष पूर्ण स्थितियां हैं जिन्होंने

दिनकर जी को युद्ध की समस्या पर चिन्तक की भांति विचार करने के लिये विवश कर दिया। फलतः कवि ने युद्ध के सम्बन्ध में अपना एक दर्शन बनाया है। कवि युद्ध का संस्कारगत आकांक्षी नहीं है। वह शान्ति पूर्वक ढंग से 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त का समर्थक है। परन्तु जब दुश्मन द्वार पर आ जाय तो वह वीरता से युद्ध को तत्पर है। इसलिये वह राष्ट्र को सब तरह से शक्ति शाली बनाये रखना चाहता है।

दिनकर जी के युद्ध दर्शन के निर्माण में तीन बातें प्रमुख हैं–(१) संस्कारों से प्राप्त धर्म युद्ध का प्रभाव, (२) भारतीय और पाश्चात्य विचारको का प्रभाव और (३) तत्कालीन स्थिति के प्रभाव से बनी हुयी प्रतिक्रियायें। 'सामधेनी' नामक काव्य संग्रह में 'कलिंग विजय' शीर्षक कविता में सबसे पहले कवि ने 'युद्ध' की समस्या पर चिंतक की भांति विचार किया है[५९] उसके परिणाम पर दृष्टिपात किया है।[६०] महाराज अशोक के माध्यम से कवि ने जिस अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण किया है वह बड़ा ही तार्किक और मनोवैज्ञानिक है। युद्ध की भयकर विभीषिका को देखने के बाद कवि ने निर्वेद का भाव व्यक्त किया है। अशोक को स्वय के किये हुये भयकर कृत्य पर क्षोभ है।[६१] फलतः उसने स्पष्ट कहा—

"हाय रे गर्हित विजय मद ऊन
क्या किया मैने बहाया आदमी का खून।"[६२]

दिनकर जी के क्रान्ति और ओज पूर्ण व्यक्तित्व ने सर्व प्रथम बौद्ध दर्शन के प्रभाव से युद्ध के सम्बन्ध में करुणा का समावेश किया है।[६३]

'कलिंग विजय' की इसी अन्तर्द्वन्द्व पूर्ण स्थिति का दार्शनिक विवेचन 'कुरुक्षेत्र' के रूप में प्रकट हुआ। तब तक कवि के विचारो में और अधिक व्यापकता आचुकी थी। तिलक के गीता-दर्शन और पाश्चात्य विचारक बर्ट्रण्ड रसेल से प्रभावित दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' में आकर युद्ध की परिणति को 'करुणा' भाव में न दिखा कर एक नया रूप दिया। युधिष्ठिर में भी अशोक की भांति ही निर्वेद जगा लेकिन भीष्म ने युद्ध को कतिपय कारणों से अवश्ययम्भावी बताया तथा युद्ध को वीरता पूर्वक लड़ने का उपदेश दिया।[६४] सम्पूर्ण कुरुक्षेत्र में कलिंग विजय के अन्तर्मन्थन को कवि ने नहीं छोड़ा। वहा आत्म द्वन्द्व था यहा निर्वेद और प्रवृति का दो पात्रो के माध्यम से द्वन्द्व है। रसेल ने युद्ध को आवश्यक माना है।[६५] दिनकर ने भी कहा—

"युद्ध को तुम निंद्य कहते हो मगर जब तलक उठ रहीं चिनगारियां
भिन्न स्वार्थों के कुलिश सघर्ष की युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।"

कुरुक्षेत्र की रचना प्रक्रिया पर कार्ल मार्क्स का प्रभाव भी पड़ा है। समाज से छाये हुये वर्ग वैषम्य और शोषण को ही कवि युद्ध का कारण मानता है। कुरुक्षेत्र में युद्ध के सम्बन्ध में कवि का विकसित दृष्टिकोण सामने आया। उन्होंने परिस्थिति

के आग्रह पर लड़ने को सन्नद्ध होने का सिद्धान्त बना लिया। यद्यपि गांधी दर्शन के प्रभाव से युधिष्ठिर निरन्तर द्वन्द्व ग्रस्त हैं।

कवि की युद्ध विषयक धारणा का एक दूसरा रूप 'सामधेनी' और 'नील कुसुम' की कुछ फुटकर कविताओं में भी मिलता है। यद्यपि उनमें भी मान्यता 'कुरुक्षेत्र' की ही है। 'साथी'[६६] जवानी का झंडा[६७] 'सरहद के पार से'[६८] आदि कविताये युद्धोचित उत्साह मे पूर्ण हैं।

युद्ध दर्शन के सम्बन्ध में 'परशुराम की प्रतीक्षा' कवि का एक नया परन्तु सूत्रबद्ध रूप प्रस्तुत करता है। जनता जगी हुयी है[६९] आज कसौटी पर गांधी की आग है[७०] अहिंसावादी का युद्ध-गीत[७१] तथा आपद्धर्म[७२] में दिनकर जी का विचारक रूप जगा है। तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक स्थिति के आग्रह पर उन्होने गांधीवादी शान्तिवादी तथा उच्च मानवीय सिद्धान्तो का पूर्ण रूप से पुनर्मूल्याकन कर दिया। हिंसक के साथ अहिंसक बन कर नही रहा जा सकता क्यों कि अहिंसा के पुनीत प्रभाव से भी वह अपनी दुष्ट हिंसक प्रवृत्ति को छोड़ता नही और अवसर पाते ही आक्रमण कर बैठता है।

कवि को भावुकता की सतह मे लौटाकर वैचारिकता की ओर लाने का श्रेय इसी युद्ध दर्शन को है। दिनकर के युद्ध सम्बन्धी दृष्टिकोण का विस्तृत विवेचन तृतीय अध्याय के अन्तर्गत हो चुका है। अतः इस सम्बन्ध में यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आधुनिक युग में हिन्दी के दिनकर ही एकमात्र कवि हैं जिसने आज के विश्व की सबसे बड़ी समस्या युद्ध पर वैचारिक विवेचन प्रस्तुत किया है। युद्ध के कारणों का अन्वेषण विश्लेषण किया है। इसी प्रसग में युद्ध सम्बन्धी वैज्ञानिक भूमिका पर भी विचार किया है और अन्त में शाश्वत शान्ति-प्रप्ति के हेतु सुझाव भी दिया हैं। अस्तु, दिनकर का युद्ध-दर्शन प्रभावित चाहे जिससे भी कहा जाय किन्तु वस्तु स्थिति तो यह है कि आज के इस वैज्ञानिक युग का युद्ध सबसे बड़ा प्रश्न है जिस पर कवि ने विचार किया है।

भौतिकवाद, विज्ञानवाद और यंत्रवाद के प्रति दृष्टिकोण:—आधुनिक युग भौतिकवाद का युग है। वैज्ञानिक प्रयोगों और यात्रिक शक्तियों का नित नूतन अनुसंधान इसकी प्रमुख विशेषता है। विज्ञान की सहायता से मनुष्य ने प्रवृत्ति और जीवन के अनेक गूढतम रहस्यों का अनावरण किया है। आज का वैज्ञानिक चाँद पर यात्रा कर उस पर निवास की योजना बना रहा है। परखनली में नये मानव जीवन की उत्पति कर रहा है। ऐसी अवस्था मे उसके लिए रहस्य हो ही क्या सकता है? वह अपने अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता स्वीकार ही क्यों करेगा?

विज्ञान का आविष्कार अध्यात्म की प्रतिक्रिया से हुआ है, और भौतिकता विज्ञान से उत्पन्न हुई है। अध्यात्म का जन्म मनुष्य की आदि प्रवृत्ति से हैं। आगे चलकर मनुष्य की बुद्धि विकसित हुई, उसने केवल आस्था के द्वारा वस्तु के महत्व को

स्वीकारने से इन्कार कर दिया। फलस्वरूप विज्ञान का जन्म हुआ जिसमें वस्तु के परीक्षण-निरीक्षण के आधार पर उसका महत्व प्रतिपादित किया जाता है। विकास के इसी क्रम में विज्ञान के बाद भौतिकवाद का जन्म हुआ। वैज्ञानिकता की अति ने भौतिकता को आगे बढ़ाया। इसीलिए भौतिकवाद को वैज्ञानिक विकास क्रम की सापेक्षता में ही समझा जा सकता है।[७३] १५वी तथा १६वीं शताब्दी में हमें भौतिकवाद की दो धारायें अलग-अलग विकसित होती दिखाई पड़ती हैं। एक अंग्रेजी भौतिकवाद दूसरी फ्रान्सीसी भौतिकवाद। आगे चलकर इन दोनों के सम्मेलन से १८वी शती में भौतिकवाद का अविर्भाव हुआ जिसे यान्त्रिक भौतिकवाद कहा गया।[७४] इसके समर्थक विश्व को भारी घड़ी-यंत्र और ईश्वर को चाभी लगाने वाला मानते थे। इस यान्त्रिक ईश्वरवाद में ऐसे विचार भी शामिल थे जिनमें ईश्वर को प्रलय तक के लिये चाभी लगा कर आराम करते बताया गया था। और इसीलिए उनका कहना था कि बीच में सारी बातें प्राकृतिक नियम से चलती है।[७५] १८वी शती में एंगल्स ने भौतिकवाद की इस यांत्रिक जकड़न की आलोचना करते हुए फायर बाख सम्बन्धी अपने प्रबन्ध में लिखा "गत शताब्दी का भौतिकवाद मुख्यतः यांत्रिक था..... । देकार्त के लिए जैसे पशु था १८वी शती के भौतिकवादियों के लिये मनुष्य भी एक यंत्र ही था..... ।[७६] १९वीं शती में मार्क्स और एंगल्स ने भौतिकवाद को एक स्वरूप प्रदान किया जिसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" कहा गया।[७७]

भारतीय अध्यात्मवादी पृष्ठभूमि और भौतिकवाद:—विज्ञान और भौतिकवादी यांत्रिकता के इस संक्षिप्त विकास क्रम को देखने के बाद यह जानना आवश्यक है कि भारतीय वातावरण में इसका क्या महत्व है? भारत प्रारंभ से ही एक धर्म-प्रधान देश रहा है। इसमें दर्शन, आस्था और पारलौकिक सत्ता पर विश्वास की प्रधानता है। इस दर्शन के अनुसार ईश्वर की सत्ता में अविश्वास और मनुष्य का वह विकास जो धर्म का विरोधी हो निंदा ही नहीं, भर्त्सना की वस्तु है। भारतीय दर्शन और संस्कृति में प्रभावों को आत्मसात करने का बड़ा प्रबल गुण है। अतः आध्यात्मिक भारत में भी वैज्ञानिकता से प्रेरित आकर्षण भाव आया। भारत में भी एक ऐसे वर्ग ने जन्म लिया जो वस्तुओं के वैज्ञानिक परीक्षण के उपरान्त ही उनकी सत्ता में विश्वास करता था। अतः वैज्ञानिक आविष्कार हुये। फ्रांस और इंग्लैण्ड के प्रभाव से भौतिकवादी यान्त्रिकता भी भारत में प्रचलित हुई। परन्तु भारतीय संस्कारों की आस्थावादी प्रवृत्ति सदैव इस आधुनिक विचारधारा की आलोचना करती रही। इस द्वन्द्व को जार्ज पोल्निटजर के शब्दों में बड़ी स्पष्टता से समझा जा सकता है—ज्ञान और विज्ञान का संघर्ष तो मानवता के आदि काल से ही चलता चला रहा है। धर्म अज्ञान की छाया में पला और फूला है। वह तर्क, विज्ञान और बुद्धिवाद का नहीं श्रद्धा और विश्वास का पक्षपाती है। इसके प्रतिकूल भौतिकवादी

प्रत्येक धार्मिक विश्वास को तर्क की कसौटी पर कसना चाहता है और प्रत्येक बात का प्रमाण खोजता है। एक अज्ञान का पोषक है तो दूसरा विज्ञान का। यही दोनों के विरोध का मूल है।[७८]

भारतीय परिवेश में यांत्रिक भौतिकवाद और वैज्ञानिकता इसी विरोध मूलक स्थिति में जन्मी और आगे बढ़ी। साहित्य, धर्म, समाज तथा राजनीति सभी क्षेत्रों में इस वैज्ञानिकता के साथ अध्यात्म का सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयत्न होता रहा। अति भौतिकवादी रूप की आलोचना होती रही। साहित्य मे इसकी विवेचना आवश्यक रूप से की गयी।" विज्ञान मनुष्य के आधि भौतिक उत्थान के साधन जुटाता है और आदमी उन साधनों का उपयोग करता है। तब इस उपयोग की उसकी भावनाओं और आदतों पर प्रतिक्रिया होती है। आदमी की दृष्टि में उसके जीवन के बहुत से अर्थ बदल जाते है, बहुत सी संभावनाये बदल जाती हैं। जीवन के बहुत से मूल्य बदल जाते है। मनुष्य के जीवन में आने वाले इन विकारों का मूल्यांकन साहित्य करता है और कभी-कभी दर्शन। इसीलिए कला और दर्शन दोनों ही प्रसगानुसार विज्ञान की आलोचना करते हैं।[७९] दिनकर जी ने अपनी काव्य कृतियों में वैज्ञानिकता के प्रति इसी आलोचनात्मक दृष्टिकोण को अपनाया है। उनकी इस प्रवृत्ति के मूल में दो भावनाये सक्रिय है। प्रथम तो कवि भारतीय दर्शन, धर्म और संस्कृति से इतना अभिभूत है कि उसे उनके विरोध में उठाई गई शकायें मान्य नही होती। वे हृदय और मस्तिष्क दोनों से भारतीय है, उनके संस्कारो मे भारत की संस्कृति समाई हुई है। वे उस भौतिकता को अच्छा नही समझते जो मनुष्यता की उच्चता को नष्ट कर दे। दूसरे कवि प्रवृत्ति से साहित्यकार है। उसको समाज में प्रचलित वे सिद्धान्त भी मान्य नही हैं जो मनुष्य की भावुकता पर आघात करते हो, उसकी कोमल वृत्ति का, सौदर्य प्रवृत्ति का अपहरण करते हों। अपने कवि रूप मे दिनकर युग और जनकवि हैं। उनका कवि कर्म बड़ा उत्तरदायित्व पूर्ण है। अतः युग में मानवतावाद का शंख फूंकने वाला कवि कभी भी मानवतावाद के विनाशक उपकरणों की सराहना नहीं कर सकता। विज्ञान की अति नवीन उपलब्धियों ने अणु बम और अन्य भयानक अस्त्रो का निर्माण किया है जो किसी भी समय मानव मात्र का अस्तित्व नष्ट कर सकते हैं। अस्तु, इन्ही कारणों से दिनकर जी यान्त्रिक भौतिकता की सराहना न कर सके। यों जहाँ ये आविष्कार मानवता के सेवक सिद्ध हुए, कवि ने उनके महत्व को नकारा भी नहीं है।[८०] आधुनिक मानव ने प्रकृति पर विजय प्राप्त की है—कवि उससे प्रसन्न है। प्रकृति के देवता मनुष्य का शासन मानते हैं—यह मानव की बहुत बड़ी उपलब्धि है।[८१] विज्ञान की इन उपलब्धियों को देख उनसे मानवता को मंगलमय बनाने की आकांक्षा कवि ने व्यक्त की है। उसकी आन्तरिक इच्छा है कि विज्ञान वरदान बनकर मनुष्य की सेवा करे, जिससे जीवन में व्याप्त अन्धकारों का नाश हो।[८२]

कुरुक्षेत्र में दिनकर ने विज्ञान के कल्याणकारी रूप के प्रति विश्वास को जमाये रखने का बड़ा प्रयत्न किया है यद्यपि पुस्तक का प्रतिपाद्य हिंसा, अहिंसा तथा युद्ध और शान्ति है। मनुष्य भौतिकवादी प्रवृत्ति के कारण अपने अस्तित्व के प्रति भी शंकालु हो उठा था। इस अवस्था में वह क्या करे ? इसी भौतिकवादी पथ पर चले या पुनः उसी आध्यात्मिक पथ पर लौट जाय। ऐसी स्थिति में सामंजस्यवादी मार्ग का अनुगमन ही श्रेयस्कर था। आधुनिक युग में गांधीजी ने इस पथ का प्रदर्शन किया। उनका सिद्धान्त विज्ञान और दर्शन के समन्वय से युक्त था। दिनकर जी भी उससे बहुत प्रभवित हुये। उनके इसी रूप को प्रतिपादित करते हुये सिद्धेश्वर प्रसाद ने लिखा—

"सारे वैज्ञानिक साधनों के उपलब्ध होने पर भी आज का मनुष्य जब अपना अभिसिप्त न पा सका तो वह अपने अस्तित्व के प्रति अनास्थावान हो उठा। ऐसों को गांधीजी से एक आस्था मिली तभी युग की हार-जीत को युधिष्ठिर के शब्दों में दिनकर ने इस प्रकार तोला—

"कुरुक्षेत्र की धूलि नही इति पंथ की
मानव ऊपर और चलेगा
मनु का यह पुत्र निराश नही
नव धर्म प्रदीप अवश्य जलेगा।"[८३]

परन्तु बहुत जल्दी ही वैज्ञानिक प्रयोगों ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे मानवता के साधक कम बाधक अधिक है। अतः मनुष्य इन प्रयोगों के उपयोगों के हेतु आशंकित हो उठा। ज्यों ही आशंका उत्पन्न होने लगी कवि ने कहा—

सावधान मनुष्य यदि विज्ञान है तलवार
तो इसे दे फेंक जाकर मोह स्मृति के पार।
हो चुका है सिद्ध है तू शिशु अभी अज्ञान
खेल सकता तू नहीं ले हाथ में तलवार
काट लेगा अंग तीखी है बड़ी यह धार।[८४]

और सच ही मनुष्य के अंग क्षत विक्षत होने लगे। मानवता आक्रान्त होने लगी। विज्ञान शक्तियों का प्रयोग मनुष्य युद्ध और विनाश के लिये करने लगा। पृथ्वी विनाशकारी शस्त्रों और यन्त्रो से भर गयी। कवि वाणी फिर मौन कैसे रहती। व्यथा के शब्दों में कवि ने विस्मय प्रकट करते हुये कहा कि ये मंगलमय उपकरण संहारक कैसे हो गये विज्ञान अभिशाप में क्यों बदल गया ? इन संहारकारी शस्त्रों के मार से कवि ने धरती को चीखते देखा है, पर आज का यह सभ्य जगत तब भी शस्त्राशस्त्र निर्माण में सन्तुष्ट नहीं है।[८५] यान्त्रिक सभ्यता ने मानव के भावनात्मक रूपों को तोड़ दिया है। मानव निरा बुद्धिवादी बन गया। फलस्वरूप विवादों और तर्कों का इतना बाहुल्य हो गया कि सभ्यता और संस्कृति दोनों ही खतरे

में पड़ गयी। विज्ञान यान पर चढ़ी हुई सभ्यता डूब मरने की स्थिति में आ गयी। यांत्रिक युग के स्वार्थ-लोलुप मानवों की छीना झपटी और उन पर हुये शोषण प्रहारों से संस्कृति के शृंगार लुट गये।[८६] फिर भी मनुष्य को संतोष कहाँ ? वह तो अधिकाधिक अभिनव प्रयोगों एवं परीक्षणों द्वारा अभिनव साधनों की खोज करता है, किन्तु स्वयं उसी का दास बन जाता है। कवि का विश्वास है कि जब तक नित नवीन सुखों की प्यास से मानवता प्यासी रहेगी तब तक 'मशीन' की दासी बनी ही रहेगी। उसने उद्धार कहाँ ?[८७]

भौतिकवादी यांत्रिकता के इस आक्रमण ने भारत की आध्यात्मिक भावना तथा उसकी प्राचीन संस्कृति को आहत किया। मनुष्य से मनुष्य की भावनायें आज इतनी दूर हो गयी है कि कोई किसी पर विश्वास नहीं करता। किसी की किसी पर आस्था नहीं रह गयी है। भावना के महत्व को नष्ट करने वाली इस यांत्रिकता के प्रति कवि ने कहा है कि धारायें मानव-हृदय को उद्वेलित करती हैं, उन्हें यंत्रों से गति नहीं दी जा सकती है।[८८]

व्यक्तिगत रूप से कवि भारत के अध्यात्म से बहुत अधिक प्रभावित है। विज्ञान द्वारा होने वाले भौतिकवादी प्रयोगों को देखकर उनकी यही आस्थावादी प्रवृत्ति जागृत हो उठती है। भौतिक कविता में उनका यह भाव बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति पा सका है। अणु-परमाणु के निरंतर प्रयोगों द्वारा भी आदमी प्रकृति के कई रहस्यों को न जान सका। भौतिकवादियों के मत से संसार सत्य है। माया नाम की कोई वस्तु नहीं है। एक-एक परमाणु को सूक्ष्माति-सूक्ष्म खण्डों में विभाजित कर भी यह नहीं जाना जा सका कि सृष्टि कैसे बनी। निश्चय ही सब अदृश्य शक्ति से प्रादुर्भूत है। वैज्ञानिक शब्दावली में इसे ऊर्जा, विकरण या तरंग कुछ भी कहा जा सकता है किन्तु भारत का आध्यात्म इसे प्रकृति और ईश्वर कहता है जिसका रहस्य आज तक अक्षुण है। संभवतः सृष्टि जहा से उत्पन्न हुई है जीवन का वह मूल उत्स ठोस नहीं है। जो है वह ऊर्जा है, तरंग है, माया है, छलना है। उसे हम समझ नहीं सकते। हम अ-ठोस उत्पन्न व्यक्ति ठोस जगत का सपना देख रहे हैं। हमारे चारों ओर माया और भौतिकता का अन्धकार छाया है। हमें ससार की उत्पत्ति के बारे में रज्जु में 'अहि' का सा भ्रम होता है।[८९]

कवि ने इसी भावना को 'विज्ञान' शीर्षक कविता मे और अधिक भावनात्मक बनाया। उसने विज्ञान के अहवादी व्यक्तियों से कहा है कि वैज्ञानिक उपलब्धियों के अतिरिक्त ईश्वर की एक अपरोक्ष सत्ता है, जिसकी प्राप्ति आवश्यक है। दिनकर का अध्यात्म भाव इतना प्रबल है कि वे विज्ञान की प्रकृति पर विजय देख हृदय से प्रसन्न नहीं है। उन्होंने विज्ञान की हर खोज के बाद प्रश्न चिह्न लगाया है। विज्ञान अपनी अन्तिम परिणति पर पहुँच कर भी अन्तिम लक्ष्य पर नहीं पहुंच पाया।

जब वह उत्पत्ति का मूल न खोज सका तो उसने उसे 'नेवर' कह कर छोड़ दिया है जिसे श्रद्धालुमन परमात्मा की रहस्यमयी सत्ता मानता है।

कवि ने कहा कि जो कुछ गणित से नापा जा सकता था वह नापा जा चुका, इसके बाद की सत्ता ईश्वरीय है और उसको नापा नहीं जा सकता। जो दृश्यमान जगत हमें दिखायी पड़ रहा है वह परमात्मा का बिम्ब मात्र है। विज्ञान ने देश और काल की सभी सीमाये लांघ ली है। परन्तु सर्व व्यापक और सर्व कालिक ईश्वर का निवास कहा है, यह अभी भी रहस्यमय है। वैज्ञानिक इस रहस्य को जान गया है कि यह शक्ति उसकी पहुंच से बाहर है।[६०] कवि यंत्रो की इस सभ्यता से इतना शंकित है कि उसने 'मशीन की कामयाबी'[६१] कविता में कहा कि निकट भविष्य में वह दिन भी आयेगा जब यंत्र-यंत्र से टकरायेंगे और समस्त संसार विनष्ट हो जायेगा। इसी हेतु उसने घोषणा की कि—यंत्र चलायेंगे पर यंत्रों के दास न हम होंगे।[६२]

(अस्तु, दिनकर जी ने धर्म, विज्ञान, अध्यात्म और भौतिकता का सामंजस्यवादी दर्शन प्रस्तुत करने की चेष्टा की है जो मानवता के विकास और उत्थान के हेतु श्रेयस्कर हो जिसके सम्मिलन से विश्व की मानवता उन्नति कर सके। उनके मत से—'विज्ञान भौतिक नियमों की खोज करता है। धर्म, नीति और सौन्दर्य के मूल्यों का ध्यान करता है.....एक के पास जो चीज है, दूसरे के पास वह नहीं है।' मानवता के लिये दोनों अभिष्ट हैं।[६३])

"निरा ज्ञान हिमशिला निरी भावना वाष्प है
नर का जीवन श्रोत शुभ्र पानीय तरल है।
गलने दो हिम के कठोर पिंडों को,
और वाष्प को सलिल रूपता में ढलने दो।
तन का सौरभ व्यर्थ अगर मन के आंगन में
तुलसी का तरू नहीं, नहीं शुचि गंध अगरू की।
वायु यान पर चढ़कर तुम उड़चले कहा हो
मानव का ग्रह तो मानव से दूर नही है।"[६४]

यहाँ एक प्रश्न है कि विज्ञान और धर्म में सामजस्य पूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने के लिये साहित्यकार का क्या दायित्व होता है? साहित्यकार समाज का नेता होता है। मानव जीवन की प्रत्येक आवश्यक उपयोगी परिस्थिति को साकार करना, उसका समाधान प्रस्तुत करना कवि का कर्त्तव्य होता है। दिनकर ने अपने इस साहित्यिक कर्तव्य की पूर्ति की है। निरपेक्ष रूप से अपना दायित्व सभाला है। साहित्य के मध्यस्थ रूप का विवेचन प्रस्तुत करते हुये उन्होंने कहा—साहित्य ने यदि पक्षपात किया तो आदमी और भी अधिक हानि में पड़ जायगा। उसका धर्म है कि

विज्ञान के बीच वह सेतु बनकर पड़ा रहे जिस पर चढ़कर धर्मार्थी विज्ञान का और वैज्ञानिक अध्यात्म का स्पर्श कर सके।"[९५]

(च) **गांधी दर्शन**-महात्मा गांधी एक ऐसे युग पुरुष थे जिन्हें काल की कठोर आवश्यकताओं ने जन्म दिया था। सत्य और अहिंसा के अभिनव उद्घोषक गांधी का प्रादुर्भाव भारतीय समाज के एक ऐसे सक्रान्ति युग मे हुआ था जब यहां सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक सभी क्षेत्रो में अत्याचार, उत्पीड़न तथा दमन का अंधकार छाया हुआ था। सैकड़ो वर्षों से विदेशी शासन की कठोरता और संस्कृति की कृत्रिमता से भारतीय जन जीवन आहत था। उन्होंने भारत की सुषुप्त तेजवत आत्मा को राजनीतिक धारा पर धर्म की ओट मे उतारा। धर्म के साथ ही सांस्कृतिक उत्थान और समष्टि के नव निर्माण का उद्देश्य भी उनके समक्ष था। भारतीय जनता की संस्कारी और धार्मिक मनोवृत्ति जो बुनियादी और कृत्रिम वातावरण के कारण दूषित हो रही थी, गांधी ने उसे अपने ढग से परिमार्जित किया।

गांधी का महत्व राजनीतिक और धार्मिक दोनों दृष्टियों से है। वे अपने युग के राजनीतिज्ञ और दार्शनिक दोनों थे। असत्य का विरोध कर सत्य पर अडिग रहना उनका धर्म था। गाधी ने 'सत्य' की प्राप्ति के लिये 'सत्याग्रह' के मार्ग को अपनाये जाने पर बल दिया। इसी को उन्होंने 'आत्मबल' कहा है। उनके मत से सत्य ही विजय प्राप्त कराने का सर्वोत्तम उपाय है। सत्याग्रह युद्ध का नैतिक विकल्प है। यह संघर्ष और अन्याय का अन्त नहीं करता वरन्-क्रूर विशेषताओं से मुक्त होकर उनके साथ अहिंसात्मक युद्ध करता है।

घृणा को प्रेम, बुराई को भलाई से विजित करने का सिद्धान्त बड़ा ही प्राचीन है। भगवान बुद्ध और ईसा मसीह ने भी इसका उपदेश दिया था। टालस्टाय, रस्किन जैसे महान मनीषियों ने भी इस पर विचार किया था। गाधी की विचार धारा पर इन पूर्ववर्ती विचारको का भी प्रभाव था। परन्तु उन्होने इसका प्रयोग एक मौलिक ढंग से किया। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओ के हल के लिये उन्होने अहिंसात्मक सिद्धान्तो का अनुमोदन किया। गाधीजी के मत से- "यदि कोई व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा का पालन नही कर सका तो सरकार के साथ अपने आचरणों में अहिंसा का पालन करना एक प्रकार की कायरता ही होगी या अधिक से अधिक यह विवशता पूर्ण सदाचार के समान ही होगा।"[९६]

दिनकर की कविता और गांधीवाद:—दिनकर के कवि व्यक्तित्व का निर्माण तत्कालीन परिस्थितियो तथा विचारधाराओ के सम्मिश्रण से हुआ है। गांधी युग के सशक्त कवि होने के कारण इन्होंने गाँधी के विचारो, उनकी क्रियाओं आदि को बड़े ही निकट से परखा है। गाधी अपने युग मे महान कर्मयोगी नेता के रूप में पूजनीय हो चुके थे। उनकी विचारधारा सारे जनमानस के लिये अनुकरणीय हो गयी थी। उनके व्यक्तित्व के उस समय दो रूप थे- एक विद्रोही का जो संसार के सबसे बड़े

साम्राज्य को चुनौती दे रहा था, और दूसरा सन्त का जो इस संघर्ष में भी तलवार उठाने की निन्दा कर रहा था। गांधी के विद्रोह स्वरूप ने दिनकर को प्रभावित किया। गांधी के साहस, निर्भीकता और दलित वर्ग की ओर से शासन को ललकारने के क्रान्तिकारी भाव से कवि को लगाव था। परन्तु जबसे पहले, पेशावर में हुये गोलीकाड के प्रतिशोध में जब गांधी के प्रभाव से किसी ने हाथ तक न उठाया, तो कवि विस्मित हो उठा और उनकी श्रद्धा गांधी पर बरस पड़ी:—

"यह विस्मय बड़ा प्रबल है
बल को बलहीन रिझाते हैं
मरने वाले हंसते हैं
आंसू हैं बधिक बहाते।"[९७]

कवि ने बापू के इसी व्यक्तित्व की तुलना 'ईसा' और 'बुद्ध' से की है।[९८]

अपनी प्रसिद्ध कृति 'बापू' में भी कवि ने गांधी की पूजा अपने मौलिक उपकरणों से की। "बापू का रूप देखकर पहले कवि कुछ विस्मित होता है। उसे यह आभास मिलते देर नहीं लगती कि बापू उसके अंगारों से ऊपर है। उसके अंगार कविता के प्रारम्भ में ही लजा जाते हैं और उसके उद्वेलित ज्वलित गीत बापू की प्रशांत आकृति के सामने नहीं हो पाते।"[९९]

गांधी की मृत्यु के बाद उनके ऐतिहासिक महत्व को भी कवि ने सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। 'कोयला और कवित्व' में सग्रहीत 'गांधी' शीर्षक कविता में गांधी और मार्क्स का तुलनात्मक महत्व स्पष्ट करते हुये गांधी की गरिमा का इन्होंने सुन्दर महत्वाकंन किया है। गांधी ने धर्म और विज्ञान का समन्वय किया। मानवता की टूटी शृंखलाओ को जोड़ा तथा २०० वर्षों से अद्भुत विज्ञान तथा सहस्त्र वर्षों से अविरल बहती भावात्मकता को जोड़कर इन्होंने स्पष्ट कर दिया कि शारीरिक सौन्दर्य तभी शोभा पाता है जब मन सुन्दर और सौरभ पूर्ण हो।"[१००] नीम के पत्ते' से भी गांधी ने इसी गौरवमय ऐतिहासिक व्यक्तित्व पर कवि ने श्रद्धा के पुष्प चढ़ाये हैं।[१०१]

गांधी का संत रूप—गांधी के संत रूप को भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है–व्यष्टि संत, समष्टि संत। व्यष्टि संत से हमारा तात्पर्य उस रूप से है जिसमें धर्म और दर्शन के प्रति वैयक्तिक और उच्च गुणों को प्राप्त कर व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति करता है। इस रूप में सत्य, अहिंसा और ईश्वर पर आस्था अपने में बड़ी उच्च भावनायें हैं। कवि ने बापू के इस महान व्यक्ति रूप की प्रशंसा 'बापू' से लेकर 'परशुराम की प्रतीक्षा' तक की है। सामान्यतया देखा जाता है कि साधारण मनुष्य मानवता के इन उच्च गुणों को प्राप्त करने के लिये जीवन पर्यन्त प्रयास करता है। परन्तु गांधी में ये गुण जन्म से ही विद्यमान थे। उन्होंने अपने जीवन संग्राम का प्रारम्भ ही इन्हीं गुणों के सहारे किया था –

"श्रद्धा विश्वास क्षमा ममता
सत्यता स्नेह करुणा अघोर
सबको सहेज कर बापू ने
सागर में दी है नाव छोड़।"[१०२]

बापू के इसी रूप से प्रभावित होकर सारे विश्व ने उन्हे मानवता का पुजारी और शान्ति का दूत कहकर उनकी पूजा की—

"तू सहज शान्ति का दूत
मनुज के सहज प्रेम का अधिकारी
दृग में उड़ेल कर सहज शील
देखती तुझे दुनियाँ सारी।"[१०३]

सत्य से असत्य को जीतने वाले हिंसा को अहिंसा की पवित्र शक्ति से पराजित करने वाले बापू कितने महान हैं। इसका चित्र प्रस्तुत पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है—

"तू कालोदधि का महा स्तंभ
आत्मा के नभ का तुंग केतु
बापू तू मर्त्य, अमर्त्य
स्वर्ग पृथ्वी भू नभ का तू सेतु।"[१०४]

कवि की ऐसी शक्तियों पर विवेकानन्द का परोक्ष प्रभाव है। विवेकानंद ने भी कहा था—'ईश्वर की पूजा नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर तो सृष्टि मे सर्वत्र व्याप्त है। हम उनके मानव स्वरूप की उपासना कर सकते हैं।'[१०५] सुमित्रानन्दन पंत ने भी बापू[१०६] और अरविंद[१०७] की जो अभ्यर्थना की है। उस पर भी विवेकानन्द का ही प्रभाव है। दिनकर ने भी बापू को एक ऐसा महामानव माना है जिसमें मर्त्य, अमर्त्य स्वर्ग पृथ्वी को जोड़ने की शक्ति है।

'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर की शांति कामना भी गांधी दर्शन से ही प्रभावित है। भीष्म के मुख से कवि ने गांधीवाद के शांति, स्नेह और अहिंसा का समर्थन करवाया है—

"जिये मनुष्य किस भांति परस्पर होकर भाई-भाई,
कैसे रुके प्रवाह क्रोध का कैसे रुके लड़ाई?
पृथ्वी हो साम्राज्य प्रेम का जीवन स्निग्ध सरल हो
मनुज प्रकृति से विदा सदा को दाहक द्वेष गरल हो
बहे प्रेम की धार मनुज को वह अनवरत भिगावे
एक दूसरे के उर मे बीज प्रेम के बोये।"[१०८]

गांधी के सत्याग्रह और आत्म त्याग से प्रेरित होकर ही कवि ने युधिष्ठिर के माध्यम से कुरुक्षेत्र का युद्ध भी अहिंसा और विनय से करवाना चाहा है। इतिहास का नया पृष्ठ खोलना चाहा है।[१०९]

"परशुराम की प्रतीक्षा' दिनकर के विद्रोही व्यक्तित्व की सशक्त अभिव्यक्ति है। यद्यपि इसमें भी कवि ने गांधीवादी नीति की असफलता पर ही प्रहार किये हैं किन्तु व्यक्ति के मानवतावादी गुणों के गांधीवादी रूप को वहाँ भी सराहा है।[११०]

गांधीवादी सिद्धान्तों की सार्वजनिक और समष्टिवादी प्रतिष्ठा के प्रश्न पर दिनकर का अपना मौलिक मत है। कवि धर्म की छाया में बडी निश्चेष्ट शांति का समर्थक नहीं है अपितु उसके स्थान पर वह आपद् धर्म को ग्राह्य मानता है। इसी कारण राजनीति मे मिलाये गये धर्म को वे कभी अपना नही सके। धर्म अपने स्थान पर उनके लिये परमपूज्य है। राजनीति अपने स्थान पर विस्तृत कर्म का क्षेत्र है। उनकी विचारधारा सदैव क्रान्ति और विद्रोह का स्वर मुखर करती रही है। फलतः गांधी नीति को वे कभी भी अपनी वाणी के द्वारा समष्टि के लिये समादृत न कर सके। यद्यपि कवि अपने काव्य से और गाधी अपने दर्शन मे एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे परन्तु उनके मार्ग भिन्न-भिन्न थे। भारत में स्वतन्त्रता लाने का प्रयत्न दोनों ने अपने ढंग से किया था इसीलिये दोनों में मौलिक भेद है।

गांधी नीति और गांधी दर्शन के प्रति असन्तोष की अभिव्यक्ति सबसे पहली बार कवि ने 'हुंकार' में की थी—

"ऊब गया हूँ देख चतुर्दिक अपने
अजा धर्म का ग्लानि विहीन प्रवर्तन
युग सत्तम सबुद्ध पुनः कहता है
ताप कलुष है शिखा बुझा दो मन की
मैं मनुष्य हूं दहन धर्म है मेरा
मृत्ति साथ अग्नि स्फुलिग है मुझमे
तुम कहते हो शिखा बुझा दो मन की
आग बुझी तो क्या पौरुष शेष रहेगा।"[१११]

दिनकर ने गाधीवाद की 'द्रोह त्याग' की नीति को अस्वीकार किया और आत्मा तथा शरीर के समन्वित महत्व पर बल दिया। इतिहास की साक्षी देकर उन्होंने सिद्ध किया कि सघर्ष मे देवत्व सदैव हारता है। दनुज की हिसक वृत्तियों की अपेक्षा जीवन की क्रियात्मक शूल है।"[११२]

तृणाहार कर सिह भले ही फूले
परमोज्वल देवत्व प्राप्ति के मद में
पर सिहों के बीच भोगना होगा
नख रदके क्षयका अभिशाप उसे।"[११३]

तत्कालीन राजनीति को धर्म में मिलाकर गांधीजी ने युवा पीढ़ी के समक्ष एक उलझन पैदा कर दी थी। राजनीतिक समस्याओं के इस दार्शनिक हल को नयी और विद्रोही पीढ़ी ग्रहण न कर पाती थी।[११४] इसी तथ्य को डा सावित्री सिन्हा ने बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है—

"गांधी दर्शन उनकी दृष्टि में क्षमा और दया के सुघर बेल बूटों से क्लीव धर्म को सजाने वाला धर्म था।"[११५]

'कुरुक्षेत्र' में भी भीष्म के माध्यम से कवि ने गांधी नीति की इस अव्यावहारिकता पर आक्षेप किये हैं। उनके विचार मे मानव के महान गुण केवल वैयक्तिक होते हैं। समुदाय के लिये उनका प्रयोग अव्यावहारिक हो जाता है। अतः वहाँ उनको बदलना आवश्यक हो जाता है।[११६] सम्पूर्ण पुस्तक में युधिष्ठिर के मन का खण्डन गाधी नीति का खण्डन है। डा सत्यकाम वर्मा ने भी इस मत की पुष्टि की है—"कुरुक्षेत्र का प्रकाशन १९४६ मे हुआ था। इस काव्य मे युधिष्ठिर की जो भी आलोचना है वह वस्तुतः गाधी धर्म की आलोचना है।"[११७] 'बापू' में भी कवि अहिंसा को अपने लिये सर्वतोभावेन स्वीकार न कर सका। वह तो गाँधी की पूजा भी अंगारों से ही करना चाहता है।[११८] गाधी की अहिंसावादी नीति कवि को कभी संतुष्ट न कर सकी और वह निरन्तर अहिंसात्मक नीति के प्रति विद्रोह व्यक्त करता रहा।[११९]

'परशुराम की प्रतीक्षा' में भी कवि ने गाधी की अहिंसात्मक नीति के प्रति यही विद्रोह व्यक्त किया है। इस संग्रह की प्रथम कविता में ही भारत की पराजय का मूल कारण कवि ने अति मानवीय गुण बताये है। 'हुंकार' की सोयी हुयी प्रतिभा यहा पुनः जागृत हुयी और शान्ति तथा अहिंसावादी नीति पर कवि ने प्रहार किये। व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर कवि इस निष्कर्ष पर पहुचा कि ससार में अहिंसा के बल पर, धर्म के आधार लोग जीवित नही रहने देते। फलतः चीनी आक्रमण के लिये उन लोगों को कवि ने उत्तरदायी माना है, जिन्होंने तलवार के स्थान पर हाथ में तकली ले लेने का प्रचार किया है। "आज कसौटी पर गाधी की आग है" शीर्षक कविता में कवि ने गाँधी नीति को तत्कालीन परिस्थितियो की सापेक्षता में परखा और यह निष्कर्ष निकाला कि सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तपूर्ण रूप से अपने को भी सुरक्षित रखने में असमर्थ है।[१२०] फलतः कवि ने अहिंसावादी से युद्ध के गीत गाने की प्रार्थना की है।[१२१] गाधी की रक्षा के हेतु गाधी मे भागने की सलाह दी है।

दिनकर की कविताओं में गाधी दर्शन सम्बन्धी एक और पक्ष का चित्रण भी है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जब स्वयं अपने ही देश में गाँधी के सिद्धान्त अस्वीकृत होने लगे, लोगों ने उनके नाम पर अत्याचार प्रारम्भ किये तो गाधी के प्रति श्रद्धालु

कवि मन आहत हो उठा। कवि ने अपनी कतिपय रचनाओं में व्यंग्य के गहरे पुट देकर इन भ्रष्ट नेताओं को धिक्कारा। "नये सुभाषित', 'नीलकुसुम' और "परशुराम की प्रतीक्षा" आदि संग्रहों में कवि का यह भाव यत्र तत्र मुखर हो उठा है। कवि जानता है कि गाँधी के नाम पर जनता को लूटने वाले ये नेतागण गाधी के सपने को सच्चा नहीं बना सकेंगे।[१२२]

गांधी दर्शन और अस्पृश्यता निवारण—गाधी दर्शन के कई अन्य पक्षों को लेकर भी दिनकर ने कविता लिखी है। गांधी ने सिद्धांत और व्यवहार दोनो ही में भारत से अस्पृश्यता निवारण का प्रयास किया है। दिनकर ने भी वाणी से गाधी की इस चेतना का प्रसारण किया। छूआ-छूत के ताँडव को देखकर कवि ने गांधी क्या भगवान तथागत का भी आवाहन किया है और मानवता को छुआछूत के भेदभाव से बचाने की प्रार्थना की है।[१२३] इसी प्रकार राष्ट्र की नैतिकता को उर्ध्वगामी बनाने के लिये भी दिनकर की वाणी ने प्रयास किया है। स्वतन्त्रता से पूर्व की राष्ट्रीय नैतिकता को स्वतन्त्रता के पश्चात् गर्त की ओर जाते देखकर कवि का हृदय व्यथित हुआ और उन्होंने राष्ट्र के नैतिक स्तर को अधोगामी बनाने वाले नेताओं की खुली भर्त्सना की है।

निष्कर्ष यह कि गांधी दर्शन युगधर्म था। फलतः युग कवि दिनकर भी इससे प्रभावित हुये। सिद्धान्ततः गांधी दर्शन के विरोधी रहकर भी गाधी के व्यक्तित्व और उनके उच्च गुणों की कवि ने सराहना की है। गांधी के क्रान्तिकारी स्वरूप की अंगारों से अर्चना की है। किन्तु गाधी के प्रति आस्थावान रहते हुये भी, उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होते हुए भी दिनकर समग्रतः गांधीवाद को न स्वीकार सके। युग की समस्याओ के समाधान के लिये उन्हें गाधी का दर्शन बहुत उपयुक्त न लगा। युग-चेतना के प्रति अगर कवि आकर्षित न होता, उसे अभिव्यक्त करना वह अपना धर्म नहीं समझता तो सभव था गांधीवाद का प्रशंसक नही होता। उसके काव्य में केवल गांधीवाद के प्रति प्रतिक्रियायें ही मिलती, उसकी आलोचना ही मिलती। किन्तु अन्तःमन से गाधी की शान्ति और अहिसावादी नीति के विरोधी रहते हुये भी युग धर्म के प्रति उदासीन रहना, उसकी उपेक्षा करना उसने कवि धर्म नही समझा। फलतः गाधीवाद जो युग की सर्वाधिक सशक्त चेतना दिनकर के काव्य में भी अपने पूर्ण वैभव में प्रकट हो उठी थी।

(६) **नेहरू-दर्शन**—आधुनिक युग के विचारकों में गांधी के साथ नेहरू की चर्चा भी आवश्यक है। नेहरू गांधी के उत्तराधिकारी थे। वे आजीवन गांधी की नीति को ही व्यवहार में लाने का प्रयास करते रहे। पचशील, सह-अस्तित्व, तटस्थता आदि के सिद्धान्त जो नेहरू नीति के मूलाधार हैं उनकी पृष्ठभूमि में भी गांधी की नीतियाँ ही हैं। नेहरू की इन नीतियों का जो प्रभाव दिनकर पर पड़ा था उनकी

विवेचना तृतीय प्रकरण में की जा चुकी है। अतः यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि नेहरू नीति की अपेक्षा नेहरू के व्यक्तित्व ने कवि को अधिक प्रभावित किया था। नेहरू व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हुये उन्होंने स्वयं लिखा है—"पंडित जी क्रान्तिकारी थे जिसका विश्वास सुधार और विकास में रहता है। वे आदमी शान्ति प्रिय थे और उनमें वैराग्य की छौंक थी किन्तु सत्ता पर आरूढ़ होने के प्रति उनमें वैराग्य नहीं था। वे ऐसे राष्ट्रवादी थे जिसके भाव तन्तु अन्तर्राष्ट्रीयता में बन्धे हुये थे। वे निसंग थे, अगाध शान्ति की खोज में थे किन्तु जिन्दगी की हलचलों से खेलने में उन्हें आनन्द आता था। उनमें दृढ़ता भी थी और लचीलापन भी था। इसीलिये कोई भी झकोरा उन्हें अपने स्थान से हिला न सका।"[१२४] 'जनता और जवाहर' शीर्षक कविता में भी कवि ने नेहरू के इसी रूप का अभिनन्दन किया है।[१२५]

चीनी आक्रमण के समय कवि नेहरू और उसके विचारों के आलोचक हो गये। अपने और नेहरू के विचारों का पार्थक्य स्थापित करते हुये कवि ने कहा—"मैं जिस धर्म का प्रतिपादन कर रहा था वह आपद धर्म था। पंडितजी घोर संकट में भी परम धर्म पर आसीन थे। पंडितजी उस हारी हुई ज्योति के प्रतीक थे जो पराजित होकर भी अन्धकार को ललकार रही थी।"[१२६] नेहरू की इसी विशेषता को कविता में प्रकाशित करते हुये उन्होंने कहा कि वे एक ऐसे व्यक्ति थे जो समर भूमि में भी पशु होने से घबराते थे उन पर समर का जहर भी नही चढ़ता था, क्षणिक उन्माद का आवेग भी उन्हें प्रभावित नहीं करता था—

"अन्धकार को दबी रोशनी की धीमी ललकार
कठिन घड़ी में भी भारत के मन की धीर पुकार
सुनती हो नागिनी समझती हो इस स्वर को
देखा है क्या कही और भू पर उस नर को
जिसे न चढ़ता जहर न तो उन्माद कभी आता है
समर भूमि में भी जो पशु होने से घबराता है।"[१२७]

कवि को विश्वास है कि मानवता के उच्च सिद्धान्त और विश्व के ये महान नेता कदाचित पराजित हो गये तो भारत की प्राचीन महिमा मिट जायेगी। मानवता खतरे में पड़ जायेगी।[१२८] निष्कर्ष यह कि नेहरू के व्यक्तित्व और उसके प्रति मानवीय सिद्धान्त के प्रति कवि में आस्था उसी सीमा तक है, जब तक उस सिद्धान्त की गरिमा उर्ध्वगामी हो सके।

मार्क्सवाद और दिनकर की कविता—

मार्क्सवादी यथार्थवाद—मार्क्सवाद में आदर्श के महत्व को नकारा गया है। मानव जीवन की भौतिक आवश्यकता रोजी रोटी की समस्या को ही इसमें प्रमुख

स्थान दिया गया है। फलतः मार्क्सवादी यथार्थवाद से प्रभावित कवि भी अपनी कल्पना को आदर्शवाद के नाम से उतर कर यथार्थ की धरती पर विचरण करने की सलाह देता है।[१२९] दिनकर का कवि दैन्य ग्रस्त संघर्षमय वर्तमान युग में कल्पना लोक में बिहार नहीं करना चाहता वह जीवन के सत्य को ग्रहण करने का पक्षपाती है—

'पर नभ में न कुटी बन पाती, मैंने कितनी युक्ति लगाई
आधी मिटती कभी कल्पना, कभी उजड़ती बनी बनाई
रह रह पंख हीन खग सा मैं गिर पड़ता भू की हलचल में
झटिका एक बहा ले जाती स्वप्न राज्य आसू के जल में।"[१३०]

शोषक और शोषित का संघर्ष—१९३३ की 'दिल्ली' शीर्षक कविता में दिनकर ने 'वैभव की दीवानी दिल्ली' को कृषक मेघ की रानी कहकर सम्बोधित किया। दिल्ली का राज वैभव उन्हें किसानों और मजदूरों के रक्त से रजित दिखायी देता है।[१३१] वर्तमान के भीषण संघर्ष से आँखें फेरकर कवि उनसे तटस्थ नही रह सकता है। पृथ्वी पर हो रहा दो शक्तियों का संघर्ष कवि का दिशा निर्देशन करता है।[१३२] अतः कवि युगों से शोषित पर मौन व्यथा सहने वाले दलित वर्ग को जगाकर हुंकार करता है।

"नये प्रात के तिमिर उर में मरीचि संधान करो
युग के मूक शैल उठ जागो हुंकारो कुछ गान करो।"[१३३]

कवि कहता है कि दोनों की करुण वेदना से प्रकट होने वाली क्रान्ति की ज्वाला यदि शोषको के ऐश्वर्य संसार को भस्म कर दे तो इसमे किसका दोष है?[१३४]

(पूंजीवादी व्यवस्था के कारण ही समाज में घोर अत्याचार छाया हुआ है। इसी कारण दमन और शोषण के आधार पर स्थापित की गयी शान्ति कवि के व्यंग्य का विषय बनती है।[१३५] पूंजीवादी दमन और शोषण से संत्रस्त कृषकों की दुर्दशा से कवि मर्माहत हो उठता है—

"जेठ हो कि पूस हमारे कृषको को आराम नही।
छुटे बैल से सग हमारे जीवन मे कभी यह याम नही।
बसन कहा? सूखी रोटी भी मिलती दोनो शाम नही।
मुख मे जीभ शक्ति भुज मे जीवन में सुख का नाम नहीं।[१३६])

एक ओर धनवान अपने कुत्तों को दूध से नहलाते है और दूसरी ओर दीन कृषकों के बच्चे दूध के अभाव में तड़प-तड़प कर मर जाते है। इसी वैषम्य को मिटाने के लिये कवि ने स्वर्ग तक लूटने की धमकी दी है।[१३७]

शोषणांत के लिये क्रान्ति का आवाहन—(समाज में छाये हुये ऐसे शोषण को कवि क्रान्ति के द्वारा समाप्त करना चाहता है। वह इस सभ्यता को समूल नष्ट करके पूर्ण नवीन सृष्टि का आकाक्षी है)

"ओर छोर तक सृष्टि भस्म हो
अंचि पुंज अम्बर को घेरे
रच दो फिर से इसे विधाता
तुम शिव सत्य और सुन्दर
नाचो हे नाचो, नटवर।"[१३८]

"दिगम्बरी" कविता में कवि ने इसक्रान्ति की प्रतीक्षा की है।[१३९] शोषित युगों से मौन अत्याचार और अन्याय सह रहे हैं। अतः क्रान्ति की वेला में वे उसका प्रतिशोध लेंगे—

"युगों से हम अनय का भार ढोते आ रहे हैं
न बोली तू अगर हम रोज मिटते जा रहे हैं
पिलाने को कहाँ से रक्त लाये दानवों को
नही क्या स्वत्व है प्रतिशोध का हम मानवो को
जरा तू बोल तो सारी धरा हम फूंक देंगे
पडा जो पथ में गिरि, कर उसे हम दो टूक देंगे
कही कुछ पूछने बूढ़ा विधाता आज आया
कहेंगे हाँ तुम्हारी सृष्टि को हमने मिटाया।"[१४०]

इस क्रान्ति के स्वरूप का सम्यक रूप कवि ने 'विषपगा' में उतारा है।[१४१] कवि को विश्वास है कि क्रान्ति की यह ज्वाला ससार के नीरो और जार का भी सत्यानाश कर देगी। इसी हेतु आततायियों को सावधान करते हुए कवि ने कहा है—

"दुनियाँ के नीरों सावधान दुनियाँ के पापी जार सजग
जाने किस दिन फूंकार उठे पद दलित काल सर्पों के फन।"[१४२]

'कुरुक्षेत्र' में भी कवि ने सामाजिक शोषण का विरोध मार्क्सवादी ढंग से ही किया है। मार्क्सवादियों की तरह ही कवि ने अपना निष्कर्ष दिया है कि जब तक विश्व मे शोषण का अंत नही होगा युद्ध अनिवार्य रहेगा।[१४३] धर्मराज और भीष्म के संवाद में भी शोषितों के अधिकार का प्रश्न उठाया गया है—

"स्वत्व मागने से न मिले
सघात पाप हो जाये
बोलो धर्मराज शोषित वो
जियें या कि मर जायें।"[१४४]

कवि इस बात के प्रति आश्वस्त है कि जब तक साम्य की व्यवस्था नही हो जाती, शान्ति की स्थापना असंभव है—

"शांति नहीं तब तक जब तक सुख भाग न नर का सम हो
नहीं किसी को बहुत अधिक हो नहीं किसी को कम हो।"[१४५]

राज सत्ता और मार्क्सवाद:— दिनकर के राज्य सम्बन्धी विचार भी मार्क्सवाद से प्रभावित है। उन्होने राज सत्ता का मनुष्य की दूषित मनोवृत्ति का द्योतक और मानवता की प्रगति का बाधक कहा है—

"राजनीति द्योतक है नर की
मलिन विहीन प्रवृति का
मानवता की ग्लानि और
कुत्सित कलंक संस्कृति का।[१४६]

स्पष्ट स्वरों में मार्क्सवाद का गुण-गान कवि ने 'दिल्ली और मास्को' शीर्षक कविता में किया है।[१४७] इसी प्रकार कवि ने अपनी उत्तरार्द्ध की रचनाओं में भी पूंजीपतियों पर आक्रोश भाव व्यक्त किया। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में भी जब कवि राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा के लिये जन जागरण लाना चाहता था तब उसने पूंजीपतियों की धन संचय की प्रवृति पर तीखा प्रहार किया और धन के समान वितरण वाले सिद्धान्त पर जोर दिया।[१४८] तात्पर्य यह कि इन सभी स्थानो पर कवि मार्क्सवाद के अत्यन्त निकट जान पडता है।

अब यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि क्या दिनकर को मार्क्सवाद का प्रचारक कहा जा सकता है? क्या उनका साहित्य मार्क्सवाद का प्रचार करने वाला साहित्य है? निश्चित रूप से इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जायगा कि दिनकर मार्क्सवाद के प्रचारक कवि नहीं हैं। डा० जनेश्वर वर्मा के शब्दों में– "अपने काव्य-जीवन के प्रारम्भ से ही सुस्पष्ट विचार श्रृंखला और सुनिश्चित जीवन दर्शन के अभाव के कारण कभी वे मार्क्सवाद के समर्थक बनते हैं तो कभी गांधीवाद के और कभी दोनों के विचित्र समन्वय करने का प्रयास करते हैं।"[१४९] वे काव्याकाश में भटकने वाले एक लक्ष्यहीन ग्रह के समान है जो अनेक दिशाओं में भटकता हुआ कभी मार्क्सवाद के पास पहुंचता है तो कभी गांधीवाद के। मार्क्सवाद से प्रभावित उनकी रचनाएं कवि के अन्तःकरण से स्वतः निसृत आवेगों से प्रसूत नहीं हैं। कवि ने केवल युग भावना को अभिव्यक्त करने के हेतु ये मार्क्सवादी रचनाएं की हैं। अगर कवि वस्तुतः मार्क्सवादी कलाकार होता तो वह अपने काव्य मे मार्क्सवादी दृष्टिकोण को वहां तक ले जाता जहां धर्म, अध्यात्म, आदर्श सभी की सत्ता समाप्त हो जाती है। किन्तु, संस्कार गत अध्यात्मनिष्ठ मनोवृति के कारण मार्क्सवादी दर्शन की सभी भौतिकवादी मान्यताओं के निकट दिनकर नहीं पहुंच पाये हैं। वे युग समस्याओं और युग परिवेश के प्रति सजग रहने वाले रचनाकार हैं। युगीन प्रश्नों को सुलझाने वाली सभी विचारधाराओं का स्वर विधान करना उनका कवि धर्म है। इसी हेतु वे कभी मार्क्सवाद से

प्रभावित होते हैं तो कभी व्यक्तिवाद[१४०] का समर्थन करते हैं तो कभी समाजवाद का।[१४१]

निष्कर्ष:—सम्पूर्ण अध्याय के निष्कर्ष में यही कहा जा सकता है कि दिनकर अपनी समसामयिक उन सभी विचारधाराओं से प्रभावित हुये हैं जिन्होंने युग को प्रभावित किया है। उन्होंने अपने काव्य में जो वैचारिक मान्यताएं स्थापित की हैं, जिन मूल चेतनाओं को लेकर काव्य रचना की है उन सब पर आधुनिक युग के चिंतकों का प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में प्रभाव पड़ा है। दिनकर का 'कर्मवाद' तिलक और विवेकानन्द से प्रभावित है, 'मानवतावाद' पर विवेकानन्द का प्रभाव है और 'युद्ध दर्शन' तथा 'विज्ञान एवं यांत्रिकता के प्रति दृष्टिकोण' 'रसेल' से प्रभावित हैं। पृथ्वी का कवि ने जो स्वर्गीकरण किया है इसे अरविंद का प्रभाव कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त अपने रचना-काल की सशक्त विचारधारा में गांधीवाद एवं मार्क्सवाद पर कवि ने गंभीरतापूर्वक विचार किया है। इनके प्रति, क्रियात्मक एवं प्रतिक्रियात्मक दोनों भाव कवि ने व्यक्त किये हैं। दिनकर जी एक अंध भक्त की तरह युग की किसी भी विचारधारा पर अंधविश्वास नहीं करते हैं। जो भी विचारधारा जन जीवन के लिये उपयोगी प्रतीत होती है उसे वे सहर्ष ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु, वही विचार-धारा जब लोक कल्याणकारी नहीं रह जाती है तो वे उसके कटु आलोचक बन जाते हैं। यही कारण है कि इनके जीवन-दर्शन में आत्म खंडन की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। किन्तु यही दिनकर काव्य का सर्वाधिक मौलिक पक्ष है जो उन्हें अपने समकालीन अन्य रचनाकारों से अलग करता है। दिनकर के इसी पक्ष को डा. सावित्री सिंहा ने उनकी 'शक्ति' की संज्ञा दी है।[१४२] वस्तुतः किसी भी सिद्धान्त की व्याख्या करना उसकी काव्य रचना का ध्येय नहीं होता। विचारकों और उनके विचारों से वे वहीं तक प्रभावित होते हैं जहां तक वे युग-समस्याओं के समाधान में सहायक हो सके। कहने का आशय यह है कि वैचारिक भावभूमि में भी उनका युग चिन्तक रूप ही प्रधान है। दार्शनिक विवेचन में भी इन्होंने युग चेतना का ही स्वर विधान किया है।

———

संदर्भ

१. डा. हरनारायण सिंह–छायावाद काव्य तथा दर्शन–पृ. २१

२. "We never thought there was any anonalgy in Poet being a philosopher or a philosopher being a Poet. The word 'Kavi' has a much wider and deeper significance than the English word 'Poet'. A kavi is a Poet a Philosopher and a Prophet rolled in to one.'
—Ravindra Nath Tagore.' The Indian Philosophical Congress Silver Jubilee Commemoration, Volume: I
P.P. 30

३. तुलसी दर्शन मीमांसा–पृ. १६

४. While both Philosophy and poetry also at the same and, their starting points are different. They approach reality from different angles.
—Dr. Radha Krishnan The Philosophy of Tagore. PP. 163.

५. For to give us the task of reality through freedom of mind is the nature of all arts.
—Ravindra Nath Tagore: The Indian Philosophical Congress Silver Jubilee Commemoration Volume I, P.P. 305.

६. Dr. Radha Krishnan: The Philosophy of Tagore: P P.145.

७. तुलसी दर्शन मीमासा–पृ. २८

८. According to our people poetry naturally falls with in the scope of philosophy–er when his reason is illumind in to vison."
—Ravindra Nath Tagore: The Indian Philosophical Congress Silver Jubilee Commemoration Volume i, P.P. 301.

९. Dr. Radha Krishnan: The Philosophy of Tagore. P.P. 127.

१०. श्रीमती एस. के. पद्मावती-दिनकर व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ. ३३.

११. आधुनिक भारतीय चिन्तन, पृ. १६.

१२ आधुनिक भारतीय चिंतन, पृ. १७.

१३. डॉ. विश्वनाथ नरवणें—आधुनिक भारतीय चिन्तन की भूमिका
ले. डॉ. हुमायूँ कबीर, पृ. ७.

१४. जनकवि दिनकर, पृ. ४०.

१५. चक्रवाल की भूमिका, पृ. ६३.

१६. नये सुभाषित, पृ. १६.
१७. वही, पृ. १६.
१८. डा. सावित्री सिन्हायु—गचारण—दिनकर, पृ. ६३.
१९ नये सुभाषित, पृ. १६
२०. "तुम जिस पर लिख रहे दृश्य वह जगत बिम्ब है
परछाया जिसकी यह, वह असली दीवार कहाँ है ?
मान लिया तुम देश काल तक पहुँच गये हो
पर दोनो से परे गहनता का संसार कहाँ है ?
—कोयला और कवि तत्व, पृ. ३६.
२१. कोयला और कवित्व, पृ. ३९.
२२. कुरुक्षेत्र, पृ. ३१.
२३. कुरुक्षेत्र, पृ. १३२.
२४. परशुराम की प्रतीक्षा, पृ. खंड ५.
२५. "रे रोक युधिष्ठिर को न यहां
जाने दे उनको स्वर्ग धीर
पर फिरा हमें गांडीव गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।"
—हुंकार—हिमालय कविता से।
२६. कुरुक्षेत्र, पृ. ११८.
२७. कुरुक्षेत्र, पृ. १२४.
२८. "कर्मभूमि है निखिल मही तल जब तक नर की काया
तब तक है जीवन के अणु अणु में कर्त्तव्य समाया
क्रिया धर्म को छोड़ मनुज कैसे सुख पायेगा
कर्म रहेगा साथ भाग वह जहा कही जायेगा
धर्मराज कर्मठ मनुष्य का पथ सन्यास नही है
नर जिस पर चलता है वह मिट्टी है आकाश नही है।—वही १२७
२९. "वसुधा का नेता कौन हुआ, भूखण्ड विजेता कौन हुआ ?
अतुलित यश क्रेता कौन हुआ नव धर्म प्रणेता कौन हुआ ?
जिसने न कभी आराम किया विघ्नों मे रहकर नाम किया
जब विघ्न सामने आते हैं सोते से हमें जगाते है
मन को मरोड़ते हैं पल पल तन को झकोरते हैं पल पल
सत्पथ को ओर लगाकर हो जाते हैं हमें जगाकर ही
वाटिका और वन एक नही आराम और रण एक नहीं
वर्षा अंधड़ आतप अखंड नरता के हैं साधन प्रचंड

वन में प्रसून तो मिलते हैं बागों में शाल न मिलते हैं
कंकड़ियां जिनकी सेज सुधार छाया देता केवल अंबर
विपदाये दूध पिलाती हैं लोरी आंधियाँ सुनाती हैं
जो लक्षागृह में जलते हैं वे ही शूरमा निकलते हैं। –रश्मिरथी, पृ. १२८.

३०. कुरुक्षेत्र, पृ १५२.

३१. परशुराम की प्रतीक्षा, पृ. ९.

३२. यह कार्य (बौद्धों तथा शंकर द्वारा पहुंचाये गये निवृत्ति के विष का निवारण) विवेकानन्द और उनसे भी अधिक तिलक के लिये रुका हुआ था तथा इसमें कोई संदेह नही कि हिन्दुत्व के भीतर प्रविष्ठ जिस कालकूट को किसी भी चिंतक की दृष्टि नहीं देख सकी थी उसे तिलक की आँखों ने देख लिया। तिलक जी ने केवल उसे देखा ही नहीं प्रत्युत अपनी प्रखर बुद्धि से उसे उन्होंने दूर भी कर दिया। इसीलिये हमारा मत है कि गीता एक बार तो भगवान कृष्ण के मुख से कही गयी किन्तु दूसरी बार उसका सच्चा आख्यान लोकमान्य ने ही किया। इन दोनों के बीच की अन्य सारी टीकायें और व्याख्यायें गीता के सत्य पर बादल बन कर छाती रहेगी।"

–संस्कृति के चार अध्याय–पृ. ५१५

३३. कुरुक्षेत्र, पृ. १४८.

३४. कान्ति मोहन शर्मा–कुरुक्षेत्र के विचार स्रोत, पृ. १५४. (दिनकर सम्पादक डा. सावित्री सिन्हा)।

३५. तिलक–गीता रहस्य, पृ. ४७३–७४.

३६. "हैमृषा तेरे हृदय की जल्पना
युद्ध करना पुण्य या दुष्पाप हो
क्योंकि कोई कर्म है ऐसा नहीं
जो स्वयं ही पुण्य हो या पाप हो
सत्य ही भगवान ने उस दिन कहा
मुख्य है कर्ता हृदय की भावना
मुख्य है यह भाव जीवन युद्ध में
भिन्न हम कितना रहें निज कर्म से।" कुरुक्षेत्र–पृ. १९–२०

३७. गीता–३:२०

३८. "निज को ही न देखो युधिष्ठिर देखो निखिल भुवन को
स्वगत शांति सुख की इहां में निरंत व्यग्र जन जीवन को।" वही पृ. १४९

३९. उर्वशी, पृ. १००.

४०. प्रेम योग, पृ. ९९.

४१. वही, पृ. ८८.

४२. "प्रेम में जीवन नहीं तो क्या दिया, प्यार दिल ही से किया तो क्या किया।
चाहिये उर साथ जीवन दान भी, प्यार की टीका सरल बलिदान ही।"
—रेणुका–प्रेम का सौदा शीर्षक कविता।

४३. प्रेम योग, पृ. १२१

४४. शक्तिदायी विचार, पृ. ३५

४५. प्रेमयोग, पृ. १३

४६. हुंकार-हाहाकार कविता

४७. सामधेनी, पृ. १०

४८. कुरुक्षेत्र, पृ० ११६

४९. कुरुक्षेत्र, पृ. ११६

५०. नील कुसुम, पृ० ७९

५१. वही—पृ. ७९

५२. रेणुका, परदेशी, मनुष्य, उत्तर, जीवन संगीत तथा वैभव की समाधि पर।

५३. युगचारण दिनकर, पृ. ८०

५४. हँसते हो, हाँ हँसो अश्रुमय है जीवन का ह्रास,
यहाँ श्वास की गति से गाता झूमझूम कर नाश।
क्या है? विश्व विनश्वरता का एक चिरन्तन राग,
हँसो, हँसो जीवन की क्षण भंगुरता के इतिहास॥—रेणुका पृ. १००

५५. रेणुका, पृ. ९१

५६. रश्मिरथी, सर्ग ५

५७. "तभी भाग्य पर देवि आपके कुटिल नियति मुसकाई,
महाराज से मिलने को उर्वशी स्वर्ग से आयी।"—उर्वशी, पृ. २९

× × × ×

"पर कैसी है कृपा भाग्य की इस गणिका के ऊपर,
बरस रहा है महाराज का सारा प्रेम उमड़ कर।"—वही पृ. ३३
देखा ही नहीं कहा? क्या महिमा बरस रही है,
अन्तर के छाया निवास से बाहर कभी निकल कर।
हाय भाग्य ने मुझे खींच उस त्रपा त्रस्त छाया से,
फेंक दिया क्यों नहीं धूप में उस उन्मुक्त भुवन में।—उर्वशी, पृ. १५९

५८ दिनकर का युद्ध दर्शन, पृ. ११७

५९. "सोचते इस बन्धु वध का क्या हुआ परिणाम?
विश्व को क्या दे गया इतना बड़ा संग्राम?—सामधेनी, पृ. 41

६०. "युद्ध का परिणाम ?
युद्ध का परिणाम ह्रास त्रास,
युद्ध का परिणाम सत्यानाश ।
रुण्ड मुण्ड निहिसन मीच ,
युद्ध का परिणाम लोहित कीच ।"—सामधेनी. पृ. ४१

६१. "विश्व में पापी महीप अशोक ,
छीनता हैं आँख का आलोक ।"—कलिंग विजय–सामधेनी, पृ. ४२

६२. वही, पृ. ४८

६३. खुल गयी है शुद्ध मन की आँख
खुल गयी है चेतना की पाँख
प्राण की अन्तः शिला पर आज पहली बार
जाग कर करुणा उठी है कर मृदुल झनकार
आंसुओं में गल रहे हैं प्राण,
खिल रहा मन में कमल अम्लान, पृ. ४९

× × × ×

हो नहीं मुझमे किसी पर रोष ,
धर्म का गूंजे जगत में घोष ।
बुद्ध की जय । धर्म की जय संघ का जय गान ,
आज से मुझ में तथागत मारजित भगवान ।—वही, पृ. ५०

६४. (क) जूझना पड़ता सभी को शत्रु जब ,
आ गया हो द्वार पर ललकारता ।
(ख) सेना साज पर स्व हरने की वृत्ति ,
लोभ की लड़ाई धर्म युद्ध के विरुद्ध है ।
परन्तु—
(ग) छीनता हो स्वत्व कोई और तू त्याग तप से,
काम ले यह पाप है ।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ हैं । पृ. २१
और ऐसी स्थिति में—
(घ) पुण्य खिलता है चन्द्रह्रास की विभा में तब ,
पौरुष की जागृति कहाती धर्म युद्ध हैं ।

६५. Authority and individual p. p. 124

६६. सामधेनी, पृ. ९१

६७. वही पृ. ७१
६८. वही पृ. ६६
६९. परशुराम की प्रतीक्षा, पृ. ४१
७०. वही पृ. ४३
७१. वही पृ. ५८
७२. वही पृ. ४६
७३. Remember that materialism is a doctrine which has always been bound up with the sciences which has evolved and advanced with the science.
George Politzer—An Elementry Course in Philosophy. 79.
७४. हिन्दी कविता पर मार्क्सवाद का प्रभाव—डॉ० जनेश्वर वर्मा, पृ. ६६
७५. वैज्ञानिक भौतिकवाद— राहुल सांकृत्यायन, पृ. २७–२८
७६. एफ० एंगेल्स ल्यूडिंग फयूलेचेन्ड द आउट कम आफ क्लासिकल जर्मन फिलासफी, पृ. ३०–३१
७७. हिन्दी कविता पर मार्क्सवाद का प्रभाव—डॉ० जनेश्वर वर्मा, पृ. ७६
७८. This struggle which runs through mankinds History, is the struggle between science and ignorance. It is a battle between two trends. One draws humanity towards ignorance and keep it in that ignorance the other, on the contrary works for the U–ration of man through replacing ignorance by science.
An Elementry Course in Philosophy. 91.
७९. साहित्यमुखी—दिनकर–८
८०. यह समय विज्ञान का सब भांति पूर्ण समर्थ
खुल गये हैं गूढ़ संस्कृति के अमित गुरु अर्थ,
चीरता तम को संभाले बुद्धि की तलवार
आ गया है ज्योति की नव भूमि में संसार—कुरुक्षेत्र पृ. १०९
८१. आज की दुनियाँ विचित्र नवीन,
प्रकृति पर सर्वत्र है विजयी पुरुष आधीन,
हैं बंधे नर के करों में वारि, विद्युत भाप,
हुक्म पर चढ़ता उतरता है पवन का ताप,
है नहीं बाकी कहीं व्यवधान।

साध सकता नर सरित, गिरि सिन्धु समान।
प्रकृति के सब तत्त्व करते हैं मनुज के कार्य,
मानते हैं हुक्म मानव का महा वरुणेश।
और करती शब्द गुण अम्बर वहन संदेश।—कुरुक्षेत्र, पृ. ११०

८२. श्रेय वह विज्ञान का वरदान,
हो सुलभ सबको सहज जिसका रुचिर अवदान
श्रेय वह नर बुद्धि का शिव रूप आविष्कार
ढ़ो सके जिससे प्रकृति सब के सुखों का भार,
मनुज के श्रम के अपव्यय की प्रथा रुक जाय
सुख समृद्धि विधान में नर के प्रकृति झुक जाय।—वही, पृ. ११८

८३. छायावादोत्तर काव्य, सिद्धेश्वर प्रसाद–११८

८४. कुरुक्षेत्र–१७

८५. जो मंगल उपकरण कहाते, वे मनुजों के पाप हुये क्यों?
विस्मय है विज्ञान विचारे के वर ही अभिशाप हुये क्यों?
धरती चीख कराह रही दुर्वह शस्त्रों के मारों से
सभ्य जगत को तृप्ति नहीं अब भी युग व्यापी संहारों से।
—रेणुका—कसमैदेवाय, ३१

८६. आवर्तों का है विषम जाल,
निरुपाय बुद्धि चकराती है।
विज्ञान यान पर चढ़ी हुई,
सभ्यता डूबने जाती है।—धूप और धुआं–लोहे के पेड़ हरे होंगे–८३

× × × ×

छीना झपटी शोषण प्रहार
यंत्राकुल संस्कृति के सिंगार--मृति तिलक–तन्तुकार १२

८७. जब तक नित्य नवीन सुखों की प्यासी बनी रहेगी,
मानवता तब तक मशीन की दासी बनी रहेगी।
—कोयला और कवित्व—दिनचर्या–४५

८८. धारायें जो मानव मन को उद्वेलित करती।
यंत्रों के बल से नहीं बहाई जातीं।—धूप और धुआं, ९

८९. स्यात सत्य ही सृष्टि जहाँ से अंकुर फोड बढ़ी है।
जीवन के उस मूल उत्स पर कुछ भी ठोस नहीं है।

जो कुछ है उर्जा तरंग है माया है छलना है,
हम अठोस में ठोस जगत का सपना देख रहे हैं।
अधियाती है रात रज्जु अहि के समान लगती है।

—कोयला और कवित्व, पृ. ३६

९०. जगत वहीं तक नहीं शेष जितना तुम जान चुके हो,
अच्छा है यह भेद स्वयं तुम भी पहचान चुके हो।
जितनी खुशी मुझे मानव की अतरिक्ष की जय से,
इससे बढ़कर हर्ष भौतिकी की नम्रता विनय से।

—कोयला और कवित्व–३८

९१. आत्मा की आँखें काव्य संग्रह से संकलित।
९२. कोयला और कवित्व, पृ. ४५
९३. साहित्यमुखी २२
९४. कोयला और कवित्व, ५६
९५. दिनकर—सम्पादिका डॉ० सावित्री सिन्हा—३५, कवि की दृष्टि में उसकी सृष्टि, गोपालकृष्ण कौल।
९६. प्रो० ज्योतिप्रसाद सूद–राजनीतिक विचारों का इतिहास–भाग २–पृ. १६५
९७. पटना के साप्ताहिक 'महावीर' में सन् १६३० में प्रकाशित।
९८. पूना उपवास के समय विशाल भारत में प्रकाशित।
९९. कामेश्वर प्रसाद, दिनकर पृ. ६२
१००. "तुम आये इसलिए कि टूटी कड़ियां जोड़ो
मानवता के अमित कल्प व्यापी विकास की
तुम आये इसलिए कि भव्य अतीत मनुज का
वर्तमान अथवा भविष्य से छूट न जाये
तुम आये यह भेद मनुष्यों को समझाने
धर्म और विज्ञान परस्पर शत्रु नहीं है
और न इनमें एक सत्य है अपर मृषा है।"—कोयला और कवित्व, पृ. ५८
१०१. नीम के पत्ते, पृ. ३५–३६
१०२. बापू, पृ. ३६
१०३. वही, पृ. ६
१०४. बापू, पृ. ४३
१०५. प्रेमयोग, पृ. ५०
१०६. पल्लविनी, पृ. २३३
१०७. स्वर्ण किरण, पृ. ६०

१०८. कुरुक्षेत्र, पृ. ३३–३४

१०९. "जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का
तन तब छोड़ मैं मनोबल से लड़ता
तप से सहिष्णुता से त्याग से सुयोधन को
जीत नयी नींव इतिहास की मैं धरता
और कहीं वज्र गलता न मेरी आह से जो
मेरे तप से नहीं सुयोधन सुधरता।" —कुरुक्षेत्र, पृ. ११–१२

११०. परशुराम की प्रतीक्षा, ४४, ६०, ६८, ७४।

१११. हुंकार, पृ ५८

११२. डॉ० सावित्री सिन्हा–युग चारण–दिनकर पृ. ९६

११३. हुंकार, पृ० ६६

११४. डॉ० सावित्री सिन्हा—युग चारण दिनकर, पृ. ९६

११५. वही, पृ. ९६

११६. "व्यक्ति का है धर्म तप करुणा क्षमा
व्यक्ति की शोभा विनय भी त्याग भी
किन्तु उठता प्रश्न जब समुदाय का
भूलना पड़ता हमें तप त्याग को
जो अखिल कल्याणमय है व्यक्ति तेरे प्राण में
कौरवों के नाश पर है रो रहा केवल वही
किन्तु उसके पास ही समुदायगत जो भाव हैं
पूछ उनसे क्या महाभारत नहीं अनिवार्य था।" —कुरुक्षेत्र, पृ. ८४

११७. डॉ० सत्यकाम वर्मा—जनकवि दिनकर, पृ १६

११८. "संसार पूजता जिन्हें तिलक गोली, फूलों के हारों से
मैं उन्हें पूजता आया हूँ बापू अब तक अंगारों से।" —बापू, पृ. ३

११९. संगर की अद्भुत भूमि जहाँ पड़ने वाला प्रत्येक कदम,
है विजय पराजय भी जिसकी होती न प्रार्थनाओं से कम,
संगर की अद्भुत भूमि नहीं, कुछ दाह न कोई कोलाहल
चल रहा समर सबसे महान, पर नहीं कहीं कुछ भी हलचल।"
— बापू, पृ. ८–९

१२०. किसे लीलने आयी यह लाल लपट है,
गांधी पर यदि नहीं किस पर और संकट है?
सकुच गये यदि हम अहिंसा-हिंसा के हाहाकारों से

कौन बचा पायेगा गांधी को पशुओं की मारों से
समय पूछता है ज्वाला कहाँ अभय की
कहाँ सत्य का बज्र लौह भय रीढ विनय की
कहाँ सिन्धु का अनत अधर पर जिसके इतना भाग है।"

—परशुराम की प्रतीक्षा, पृ. ४३

१२१ गिराओ बम गोली दागो रे
गाँधी की रक्षा करने को गाँधी से भागो। —वही पृ. ४४

१२२. नये सुभाषित–पृ. ५५, नील कुसुम–पृ, ६७, परशुराम की प्रतीक्षा–सम्पूर्ण कविता–पृ. १–१४

१२३. "अनाचार की तीव्र आँच में अपमानित अकुलाते हैं,
जागो बोधिसत्व भारत के हरिजन तुम्हें बुलाते हैं।"

× × × ×

"घन पिशाच की विजय धर्म की पावन ज्योति अदृश्य हुयी,
दौड़ो बोधिसत्व भारत में मानवता अस्पृश्य हुयी।"

× × × ×

"जागो मैत्री निर्घोष आज व्यापक युगधर्म पुकारों से।"

—आधुनिक कवि दिनकर में संग्रहीत–पृ. ५३, ५४, ५५

१२४. लोक देव नेहरू, पृ. १९६

१२५. धूप और धुआं, पृ. ६५, ६६, ६७

१२६. लोक देव नेहरू, पृ. १३

१२७. परशुराम की प्रतीक्षा, पृ. ४३

१२८. उन्हें पुकारो जो गांधी के सखा शिष्य सहचर है,
कहां आज पावक में उनका पड़ा हुआ कंचन है,
प्रभापूर्ण होकर निकला यह तो पूजा जायेगा,
मलिन हुआ तो भारत की साधना बिखर जायेगी। —वही, पृ. ७२

१२९. Lelin–Marx Engles : Marxism p. p. 19.

१३०. Marxism is a highly unified and integreated out look upon the world, it is a seamless coat, which cannot be cut up without spoil-ings still purely for the purpose of prelimirey exposition it is possible to differentiate there particular aspects of the science.

—John sterachey : The theory and practice of Socialism, p. p. 356–357.

१३१. डॉ० जनेश्वर वर्मा—मार्क्सवाद के सिद्धान्त, पृ. ४३

(क) "फूल से सज्जित तुम्हारे अंग हैं,
और हीरक ओस का शृंगार है,
धूल में तरुणी तरुण हम रो रहे,
वेदना का शीश पर गुरु भार है।"

× × × ×

(ख) व्योम कुंज की परी अयि कल्पने,
रूप धर विचरो जरा वन फूल में,
रेणुके! हँसने लगे जुगनू चलो,
आज इक खंडहरों की धूल में। —रेणुका, पृ. ११

१३२. हुंकार, पृ. २०

१३३. "आहें उठी दीन कृषकों की
मजदूरों की तड़प पुकारें
अरी गरीबों के लोहू पर
खड़ी हुई तेरी दीवारें
अंकित हैं कृषकों के दृग में
तेरी निठुर निशानी
दुखियों के कुटियों से
रो, रो कहती तेरी मनमानी
और तेरा दृग मद यह क्या है
क्या खून बेकस का
बोल बोल क्या लजा रही
क्यों कृषक मेघ की रानी दिल्ली।" —हुंकार, पृ. ४७

१३४. वही, पृ. १

१३५. हुंकार, पृ. २

१३६. "वंशी पर मैं फूकता हृदय की करुण हूक,
धरती से तेरा स्वर्गवास है बहुत दूर,
जाने क्यों शब्दों से उठती है लपट लूक,
जल जाये अगर तो इसमें क्या मेरा कसूर।" —हुंकार, पृ. १३

१३७. रणित विषम रागिनी मरण की आज विकट हिंसा उत्सव में,
दबे हुये अभिशाप मनुज के लगे उदित होने फिर भव में।

× × × ×

शोणित से रंग रही शुभ्रपट संस्कृति निठुर लिये कर वाले,
जला रही निज सिंह पौर पर दलित दीन की अस्थि मशालें।—वही पृ. २१

१३८. "घूम रही सभ्यता दानवी शान्ति शान्ति करती भूतल में,
पूछे कोई भिगो रही वह क्यों अपने विषदन्त गरत में।
× × × ×
टांक रही हो सुई चर्म पर शान्त रहे हम तनिक न डोले,
यही शान्ति गरदन कटती हो पर हम अपनी जीभ न खोले।
हवशी पढ़े पाठ संस्कृति के खड़े गोलियों की छाया में,
यही शान्ति वे मौन रहे जब आग लगे उनके मन में।" —वही, पृ. २२

१३९. हुंकार, पृ. २६

१४०. "वे भी यहीं जो दूध से श्वानों को नहलाते हैं,
ये बच्चे भी यहीं कब से दूध दूध जो चिल्लाते हैं।
हटो व्योम के मेघ पंथ से स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
दूध दूध ओ वत्स तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।" —वही पृ. २३

१४१. हुंकार, पृ. ७

१४२. "तिमिर पर भाल के चढ़ कर विभा के बाण वाले,
खड़े हैं मुन्तिजर कब से नये अभियान वाले।
प्रतीक्षा है सुने कब ब्यालिनी फुंकार तेरा,
विदारित कब करेगा व्योम को हुंकार तेरा।
दिशा के बन्ध से झंझा विकल है फूटने को,
धरा के वक्ष से आकुल हलाहल छूटने को॥" —हुंकार, पृ. २४

१४३. वही, पृ. २६

१४४. वही, पृ. ७२–७३

१४५. हुंकार, पृ. ७५

१४६. युद्ध को तुम निंध कहते हो, मगर,
जब तलक है उठ रहीं चिनगारियाँ।
विभिन्न स्वार्थों के कुलिष संघर्ष की,
युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।" —कुरुक्षेत्र, पृ. २१

१४७. वही, पृ. ३३

१४८. वही, पृ. २१

१४९. कुरुक्षेत्र, पृ. ४

१५०. सामधेनी, पृ. ६६–६७

१५१. परशुराम की प्रतीक्षा, पृ. ५

१५२. आधुनिक हिन्दी काव्य पर मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव, पृ. ४२४

१५३. अर्द्धनारीश्वर—दिनकर, पृ. ११४

१५४. वही, पृ. ११३

१५५. साहित्यकार दार्शनिक की भाँति संसार, जीव, ब्रह्म और जीवन के सम्बन्ध में अन्तिम सत्य का निर्णय नहीं दे सकता। उसके दो रूप हो सकते हैं—या तो वह दर्शन की अधीत अनुभूति को अपने काव्य में उतारे अथवा जीवन को भोगकर, झेलकर अपने अनुभवों के आधार पर शास्त्र सम्मत दार्शनिक मान्यताओं के सत्यासत्य का निर्णय करे। इस दृष्टि से दिनकर दूसरे वर्ग में आते हैं। प्रथम वर्ग का साहित्यकार दर्शन की केवल बौद्धिक अनुभूति कर सकता है और बौद्धिक अनुभूति सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके काव्य में इन तत्त्वों को गौणत था बौद्धिक विश्वास को प्रमुख कर देती है। लौकिक जीवन से ऊपर उठकर आध्यात्मिकता में रस ले सकने वाले व्यक्ति ही उसका आनन्द ले सकते हैं। द्वितीय वर्ग के साहित्यकार की प्रयोगशाला जीवन और उसके अनुभव होते हैं। प्रयोगों के अन्तिम निष्कर्ष तक पहुँचने के पहले उसे अनेक विरोधी स्थितियों का सामना करना पड़ता है। कभी उसे राग, कर्म और ईश्वर सत्य जान पड़ते हैं और कभी सब कुछ झूठप्रपंच मिथ्या और निस्सार दिखायी पड़ता है। दिनकर की दार्शनिक प्रतिक्रियायें भी बौद्धिक न होकर भावात्मक हैं। उनके दर्शन में विरोधी तत्वों के सह-अस्तित्व का मूल कारण यही है और यह दोष नहीं उनकी शक्ति है।

डॉ० सावित्री सिंहा–युग चारण दिनकर, पृ. १०२

दिनकर के काव्य में युगीन मनोवैज्ञानिक चेतना

१—काव्य और मनोविज्ञान का सम्बन्ध—

कविता मानव मनोभावों और मनोवेगों की समष्टि अभिव्यक्ति है। तत्व की दृष्टि से भी कविता की स्थिति भावात्मक होती है। सुख और दुःख शाश्वत मनोभाव हैं। रति, ह्रास, विस्मय, उत्साह, शोक, घृणा, भय, क्रोध आदि मनोवेग हैं। इनमें से कुछ सुखात्मक और कुछ दुखात्मक हैं।[1] इसी कारण काव्य की अन्तिम परिणति भी सुखात्मक या दुखात्मक ही होती है। मनुष्य में भाव, विचार और कल्पनायें बड़ा उद्वेलन उत्पन्न करती हैं। इसीलिये कविता में भाव सर्वोपरि है। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने मानव की इन्हीं कल्पनाओं, भावों तथा विचारों के व्यक्त स्वरूप को काव्य की संज्ञा दी है।[2] आधुनिक मनोविज्ञान इन्हीं भावों और मनोवेगों का विवेचन प्रस्तुत करता है। इनकी वैज्ञानिक व्याख्या करता है। दोनों का सम्बन्ध जीवन से है। मनुष्य के मनोविकार दोनों के प्रतिपाद्य हैं। मनोविज्ञान और काव्य के सम्बन्ध को स्थापित करते हुये डॉ० गुलाबराय ने कहा—"जीवन की मूल प्रेरणायें ही साहित्य की मूल प्रेरक शक्तियां हैं। जो वृत्तियां जीवन की और सब क्रियाओं की मूल स्रोत हैं वे ही साहित्य को भी जन्म देती हैं। जीवन की मूल प्रेरणाओं के सम्बन्ध में विचार उपनिषद काल से चला आ रहा है। वृहदारण्यक उपदिषद में पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा अर्थात पुत्र की चाह, धन की चाह और लोक (यश) की चाह मानी गयी है। यूरोप का मनोविश्लेषण शास्त्र (साइकोलाजी) का भी उदय इन्हीं प्रेरणाओं के अध्ययन के लिये हुआ है।"[3] फ्रायड, एडलर, युग आदि प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिकों ने क्रम से इसी पुत्रैषणा को (सेक्स इन्सटिंक्ट) वित्तैषणा को स्वत्व (इगो इन्सटिंक्ट) और लोकैषणा को समाज भावना कहा है। कविता और मनोविज्ञान मानव जीवन के दो विवेचक हैं, जो अपनी अपनी पद्धति से उसका अध्ययन करते हैं। इसलिये काव्य मनोविज्ञान से प्रभावित होता है और मनोविज्ञान काव्य से। डॉ० गणेशदत्त गौड़ ने साहित्य और मनोविज्ञान का सादृश्य परिभाषा, मूल प्रेरणा, उद्देश्य और उदात्त भावना को आधार मानकर प्रस्तुत किया है।[4]

(अ) कविता जीवन की सवाक अभिव्यक्ति है। वह हृदयस्थ भावों तथा मनोवेग का प्रतिनिधित्व करती है। मनोविज्ञान मानव जीवन का पर्यवेक्षण करता है। भाव मनोवेग और वृत्तियों का मूल खोजता है।

(ब) कविता के अन्तःकरण की सौन्दर्यवादी चेतना जब भावुकता के आवेश को संभाल नहीं पाती तब कविता के रूप में प्रस्फुठित होती है। कवि अपने भावों को प्रकट करने के लिये विह्वल हो उठता है। वह युग की मांग के अनुसार आत्माभिव्यक्त करता है, जिसका परवर्ती कवि-पीढ़ी अनुकरण करती है। मनोविज्ञान के अनुसार भी अतृप्त दमित वासनायें ही मनुष्य को परिचालित करती हैं। आत्म-प्रदर्शन में एडलरीय आत्म स्थापना है। और, अनुकरण में फ्रायडियन अनुवंशिक पूर्व प्रवृत्ति।

(स) मनोविज्ञान मानव की मानसिक वृत्तियों–इदं (इड) अहं, (इगो) नैतिकाहं (सुपर इगो) में साम्य स्थापित कर मानसिक सन्तुलन बनाता है। वह मानव की अतृप्ति, कुण्ठा और दमित इच्छाओं के विश्लेषण, प्रकटीकरण और परिष्करणों का विज्ञान है। साहित्य में भी काव्य के माध्यम से इन्हीं मानवीय व्यापारों की अभिव्यक्ति होती है।

(द) साहित्य और मनोविज्ञान दोनों ही अपने मार्गों से मनुष्य के उदात्त रूप को प्राप्त करना चाहते हैं। वे जीवन की अभिव्यक्ति के साथ ही साथ उसे उर्ध्वगामी भी करते है।[५]

कविता और मनोविज्ञान दोनों का जीवन से घना सम्बन्ध होने के कारण ये क्रिया प्रतिक्रिया रूप में जीवन के ही पूरक होते है। डॉ० देवराज उपाध्याय ने मनोविज्ञान को जीवन शब्द का पर्यायवाची माना है क्योकि जिसे हम जीवन कहते हैं वह अधिकांश रूप से हमारे मनोजगत की सूक्ष्मता की वस्तु है।[६]

मनोविज्ञान के कार्य क्षेत्र और अध्यमन की सारी सामग्री कविता में प्राप्त की जा सकती है क्योंकि मानवीय व्यापार मनोवेग, मानसिक क्रियायें अनुभूतियां आदि सभी कविता की पृष्ठभूमि के आधार हैं। प्रसिद्ध मनः शास्त्री आर० ग्रूब्ज और फिलिप बैल्वर्ड के मत से भी कविता के द्वारा हम अपनी दमित इच्छाओं की पहेली बुझाते हैं।[७] वांछित, अवाछित भावनाओं की तृप्ति करते है।

दिनकर की कविता और मनोविज्ञान—

(क) दिनकर की कविता में काम-चेतना—

कविता और मनोविज्ञान का सम्बन्ध अटूट है। यही कारण है कि दोनों एक दूसरे से आवश्यक रूप से प्रभावित होते हैं। युग-चेतना का सवाहक अपने काव्य के समस्त उपादानों को युग से ही प्राप्त करता है। समय की मांग और वातावरण का प्रभाव उस पर आवश्यक रूप से पड़ता है। आधुनिक युग काम और अर्थ के व्यापक

द्वन्द्व का युग है। साहित्य की कोई भी धारा इस प्रभाव से बच नहीं पा रही है। काम की इसी व्यापक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए अज्ञेय जी ने तार सप्तक की भूमिका में कहा है—"आधुनिक युग का साधारण मनुष्य यौन वर्जनाओं का पुंज है। उसके जीवन का एक पक्ष है उसकी सामाजिक रूढ़ि की लम्बी परम्परा जो परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ विकसित नहीं हुयी और दूसरा पक्ष है स्थिति परिवर्तन की असाधारण तीव्रगति जिसके साथ रूढ़ि का विकास असम्भव है। इस विपर्यास का परिणाम है कि आज के मानव का मन, यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनायें दमित-कुण्ठित है। उसकी सौन्दर्य चेतना भी इससे आक्रान्त है। इस आन्तरिक संघर्ष के ऊपर जैसे काठी कसकर एक वाह्य संघर्ष बैठा है, जो व्यक्ति या व्यक्ति का नहीं व्यक्ति समूह और व्यक्ति समूह का, वर्ग और वर्ग समूह का संघर्ष है। व्यक्तिगत चेतना के ऊपर वर्गगत चेतना भी लदी हुयी है।[८]

आधुनिक युग का यह काम दर्शन आर्थिक विकास और नव समाज-निर्माण की पृष्ठभूमि से उत्पन्न हुआ है। नैतिक मूल्यों का विघटन मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति ने कर दिया है। कुण्ठा और दमन की नयी समस्यायें उठ खड़ी हुयी हैं। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुये श्रीमती एस० के० पद्मावती ने भी कहा है—"संसार के साहित्यकार मनोविश्लेषण और यौन सम्बन्धों की विकृतियों को ग्रहण करने लगे। फ्रायड ने कला और साहित्य की व्याख्या ही कलाकार के मूल में स्थितदमित एवं कुण्ठित काम प्रवृत्तियों के आधार पर की है। सर्वत्रदमित वासनाओं की वैयक्तिक प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्ति दिखायी देने लगी है। साहित्यकार मर्यादाहीन, अनैतिक और विषाक्त-भावनाओं को काम क्षेत्र की क्रान्ति की शक्तियों के रूप में ग्रहण करने लगे।[९] स्वयं दिनकर ने भी इस काम-युग की महत्ता को स्वीकार करते हुये लिखा है—

"भूतल पर डाले स्वर्ण जाल है बीत रहा यह काम जाल।
जो प्रणय लिप्त आहत वृत्ति है यह उसी काम युग की कृति है॥"[१०]

'उर्वशी' दिनकर के स्फुट राग सूत्रों का आधुनिक मनोविज्ञान की छाया में सजाया हुआ वह विश्लेषण है जिसमें नारी प्रेम, सौन्दर्य तथा काम की समस्या पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जा सकता है।[११] दिनकर के व्यक्तित्व में प्रभाव ग्रहण की अदभुत क्षमता है। वे अपने आस-पास की परिस्थितियों को बारीकी से देखते और उनको ग्रहण करते हैं। यही कारण है कि 'उर्वशी' का कथानक पौराणिक समस्याएँ शाश्वत और पात्र प्रतीक होते हुये भी समसामयिकता से प्रभावित हैं। उन पर आधुनिक युग के फ्रायड-मनोविज्ञान का प्रभाव स्पस्ट परिलक्षित होता है। सम्भवतः आज के जीवन का जो रूप हम देख रहे हैं उसकी जड़ें मार्क्स के बाद फ्रायड के ही सिद्धान्तों पर आधारित हैं।

'उर्वशी' के प्रथम अंक में ही अप्सरायें स्वर्ग के काल्पनिक वायवी सुख से सन्तुष्ट नहीं दिखायी देती हैं। मैनका ने स्पष्ट कहा है कि, पृथ्वी को जो सुख उपलब्ध है वह स्वर्ग को नहीं मिल सकता। रूप, रस और गन्ध के भाव मात्र से हमें संतुष्टि करनी पड़ती है जबकि पृथ्वी का प्राणी इसका उपभोग करता है।[१२] अप्सरायें स्वर्ग की शान्ति से भी क्लान्त हैं। उन्हें जीवन की उस अग्नि की आकांक्षा है जो भूतल का प्राणी भोगता है।[१३] स्वर्ग की अनेक अप्सराओं के मन के इसी प्रशंसा भाव ने उन्हें पृथ्वी पर आने के लिये विवश कर दिया है। उर्वशी भी पृथ्वी की ओर आकर्षित हुयी—पुरुरवा के रूप सौन्दर्य और पौरुष को देखकर। चित्रलेखा द्वारा उर्वशी की जो स्थिति कवि ने स्पष्ट की है उसमें उर्वशी ने स्पष्ट कहा है—

"स्वर्ग स्वर्ग मत कहो स्वर्ग में सब सौभाग्य भरा है,
पर इस महास्वर्ग में मेरे हित क्या आज धरा है?
स्वर्ग स्वप्न का जाल सत्य का स्पर्श खोजती हूँ मैं,
नहीं कल्पना का सुख जीवित हर्ष खोजती हूँ मैं।"[१३]

उर्वशी का पृथ्वी-प्रेम और पुरुरवा के प्रति आसक्ति-भावना ही उसे पृथ्वी पर लाते हैं। उसका भूतल पर आना सांयोगिक और आकस्मिक घटना मात्र नहीं है वरन वह एक अतीव आकर्षण भाव से प्रेरित है। 'उर्वशी' की कोई घटना कारण रहित नहीं है। प्रत्येक घटना की उत्पत्ति में मन का प्रबल आवेग है, उद्देश्य प्राप्ति की बलवती इच्छा है। मनोविज्ञान के अनुसार मानव की यही जिजीविषात्मक प्रवृत्तियां उसे जीवन में प्रविष्ट कराती हैं।

फ्रायड ने काम वासना (लिविडो) को ही सभी कार्यों का कारण माना है। उर्वशी की सभी अप्सरायें इस धरती पर इसी काम-सुख की प्राप्ति के लिये ही आयी हैं। 'उर्वशी' की भूमिका में ही कवि ने काम-प्रवृत्ति की व्यापकता को प्रदर्शित करते हुये कहा है कि—"जीवन में सूक्ष्म आनन्द और निरुद्देश्य सुख के जितने भी सोते हैं वे कहीं न कहीं काम के पर्वत से फूटते हैं। जिसका काम कुण्ठित उपेक्षित अथवा अवरुद्ध है वह आनन्द के अनेक सूक्ष्म रूपों से वंचित रह जाता है।[१४] इसी 'लिविडो' से प्रेरित होकर मनुष्य प्रजा-सृष्टि मे प्रवृत्त होता है। यही काम-वासना मनुष्य की प्रेरणा है। मनोविज्ञान के अनुसार इसी के दमन से मनोग्रन्थियां बन जाती हैं जो आगे चलकर मानसिक विकारों का रूप धारण कर लेती है। उद्देश्य की दृष्टि से सम्पूर्ण उर्वशी का प्रतिपाद्य ही काम-वासना है। सम्पूर्ण कथानक कामानुभूतियों पर ही आधृत है। फलागम की दृष्टि से भी काम का उद्दातीकरण ही इस काव्य-ग्रन्थ का उद्देश्य है। इसकी सारी घटनाओं का संयोजन भी काम-प्रेरणा को लेकर ही किया गया है।

तादात्म्यीकरण--

'काम' का मूलाधार सौन्दर्य और साहचर्य जनित प्रेम होता है। इसी प्रेम की, लौकिक स्तर पर पराकाष्ठा 'काम में बदल जाती है। प्रेम का अतिरेक ही तादात्म्यीकरण की भूमिका है। प्रेमातिरेक का ही दूसरा स्वरूप काम' भी है और तादात्म्यीकरण भी। किन्तु, तादात्म्यीकरण में अपेक्षाकृत सन्तुष्टि का भाव अधिक होता है। इसमें उर्ध्वगामी वृत्तियों का विशेष महत्त्व होता है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन में तादात्म्यीकरण का स्थान बहुत ऊँचा है। अपने आराध्य में लय हो जाना ही तादात्म्यीकरण की स्थिति है। साधक के जीवन की यह महान उपलब्धि है। पुरुरवा अपनी प्रेयसी को प्राप्त करके उससे तादात्म्य स्थापित कर लेता है। उसका व्यक्तित्व उर्वशी में एकलय हो जाता है।[१५] उर्वशी भी इसी भाव में मग्न है।[१६] यद्यपि पुरुरवा का चेतन मन उसे योग की ओर प्रेरित करता है परन्तु वह प्रस्तुत भोग से अलग हो नहीं पाता। 'उर्वशी' काव्य में अन्य पात्र भी अपने अभीष्ट के साथ इसी तरह तादात्म्य स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील हैं।[१७] चित्रलेखा ने जिन सुन्दर शब्दों में तन और मन के तादात्म्यीकरण पर प्रकाश डाला है वह भी अवलोकनीय है--

"तन-मन का यह भेद सुकन्ये। मुझे नहीं रुचता है,
बलिहारी उस पूर्ण प्रेम की जिसकी क्षीप्र लहर में,
केवल मन ही नहीं अंग संज्ञा भी खो जाती है।"[१८]

उदात्तीकरण--

तादात्म्य की स्थिति का उर्ध्वगमन ही उदात्तीकरण है। यह स्थिति बड़ी साधना के बाद प्राप्त होती है। रागों और मनोभावों का उदात्तीकरण मानव के जीवन को उर्ध्व सोपानों की ओर ले जाता है। 'उर्वशी' में कवि ने इस भावना को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उदात्तीकरण के महत्व को स्वीकार करते हुये स्वयं कवि ने कहा है--"संन्यास में समाकर प्रेम से और प्रेम में समाकर संन्यास से बचना जितना कठिन है संन्यास और प्रेम के बीच सन्तुलन बिठाना कदाचित उससे भी कठिन कार्य है। मनोविज्ञान जिस साधना का संकेत देने लगा है वह वैराग्य नहीं रागों से मैत्री का संकेत है। वह निषेध नहीं, स्वीकृति और समन्वय का सकेत है। वह संघर्ष नहीं सहज, स्वच्छ प्राकृतिक जीवन की साधना है।[१९] कवि ने 'उर्वशी' में इसी काम-भावना के उदासीकरण और योग-भोग के समन्वय का प्रयत्न किया है। योग और भोग का संघर्ष सदैव चलता है। महर्षि च्यवन ने आत्म-संयम द्वारा योग और भोग के सन्तुलन का मार्ग अपनाया है।[२०] पुरुरवा जो भौतिक जगत के प्राणी होने के नाते शारीरिक सुखों का उन्मुक्त भोगी है, वह भी 'प्रेम' के अन्दर अलौकिकता का सूत्र खोज लेता है।[२१] अन्यत्र भी उसने कहा है कि शरीर के प्रेम से भी ऊँचा उठा जा सकता है--

"पहले प्रेम स्पर्श होता है तदन्तर चिन्तन भी।
प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर है तब वायव्य गगन भी।"

× × × ×

"देह प्रेम की जन्मभूमि है पर उसके विचरण की,
सारी लीलाभूमि नहीं सीमित है रुधिर त्वचा तक।
यह सीमा प्रसरित है मन के गहन गुह्य लोकों में,
जहाँ रूप की लिपि अरूप की छवि आंका करती है।"[२२]

पुरुरवा ने प्रेम की उदात्तता का निर्वाह सर्वत्र किया है। वह उर्वशी को बाँह में लेकर भी प्रेम की उदात्तता को भूलता नही है। 'उर्वशी' की भूमिका में कवि ने कहा है—"नारी नर को छूकर तृप्त नहीं होती न नर नारी के आलिंगन में सन्तोष मानता है। कोई शक्ति है जो नारी से नर को तथा नर से नारी को अलग नहीं रहने देती और जब वे मिल जाते हैं तब उनके भीतर किसी ऐसी तृषा का संचार करती है जिसकी तृप्ति शरीर के धरातल पर अनुपलब्ध है। नारी के भीतर एक और नारी है जो अगोचर और इन्द्रियातीत है। इस नारी का संधान पुरुष तब कर पाता है जब शरीर की धारा उछालते-उछालते उसे मन के समुद्र में फेंक देती है, जब दैहिक चेतना से परे वह प्रेम की दुर्गम समाधि में पहुँचकर निस्पन्द हो जाता है। पुरुष के भीतर एक और पुरुष है जो शरीर के धरातल पर नहीं रहता। जिससे मिलने की आकुलता में नारी अंग-संज्ञा को पार करना चाहती है।"[२३]

दिनकर की 'उर्वशी' ने इसी 'काम' को 'कामाध्यात्मतक' पहुँचाया। 'उर्वशी' का कामाध्यात्म आधुनिक युग की बहुत बड़ी समस्या का निदान है। 'काम' के सोपान से अध्यात्म की प्राप्ति यह दिनकर की मौलिकता है।[२४] काम की विभिन्न समस्याओं को चित्रित करने के बाद कवि ने उसके उदात्त रूप की प्रतिष्ठा की है—यही 'उर्वशी' का उद्देश्य है। यद्यपि इसका स्पष्ट उल्लेख कवि ने अपने ग्रन्थ में नहीं किया है परन्तु काव्य-ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ने के बाद समष्टि रूप से जो प्रभाव हृदय पर पड़ता है उससे यही निष्कर्ष निकलता है। 'उर्वशी' के इसी महत्त्व को प्रतिपादित करते हुये डॉ० सावित्री सिन्हा ने भी कहा है—"प्रेम का आदर्श रूप वह है जिसे मनोवैज्ञानिक शब्दावली में उदात्तीकृत स्थिति का नाम दिया जा सकता है जिसमें पहुँचकर व्यक्ति इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श करता है। पुरुरवा और उर्वशी का आख्यान भावना, हृदय, कला और निरुद्देश्य आनन्द की महिमा का आख्यान है। वह पुरुषार्थ के काम-पक्ष का महत्त्व बताता है। कायिक अनुभवों द्वारा व्यंजित काम-जन्य प्रेरणाओं की निराकार झंकृतियाँ उदात्तीकरण की सूक्ष्म सोपान मात्र हैं। वे अपूर्ण और अधूरी हैं। पूर्ण है वह स्थिति जब अरूप में

डूबकर मनुष्य भूनरोत्तर सौन्दर्य की अनुभूति करता है, जब वह सौन्दर्य की समाधि में पहुँच जाता है। काम का यही रूप स्वस्थ है। यही उसकी आध्यात्मिक महत्ता है।[२५] स्वयं कवि ने भी काम के इसी आध्यात्मिक रूप के सम्बन्ध में कहा है—

"प्रकृति नित्य आनन्दमयी है, जब भी भूल स्वयं को,
हम निसर्ग के किसी रूप (नारी, नर या फूलों) से।
एक तान होकर खो जाते हैं समाधि निस्तल में,
खुल जाता है कमल, धार मधु की बहने लगती है।
दैनिक जग को छोड़ कहीं हम और पहुँच जाते है,
मानो मायावरण एक क्षण मन से उतर गया हो।"[२६]

अस्तु, 'उर्वशी' का मूल सन्देश यही कामाध्यात्म है।

मनोग्रस्तता, विफलता और प्रतिगमन—

'उर्वशी' में औशीनरी ही एक ऐसा पात्र है जो मनोग्रस्तता, विफलता और प्रतिगमन की मनोग्रन्थियों से पीड़ित है। उसका व्यक्तित्व अनचाही परिस्थितियों से आक्रान्त है। राज महिषी होकर भी उसे अपने महाराजा व पति से वह नारी सुलभ प्यार भी नहीं प्राप्त हो रहा है जिसकी आकांक्षा हर औरत करती है।[२७] वह पति की कल्याण-कामना में सदैव रत रहती है। यद्यपि उसे ज्ञात है कि पति की कठोरता का यह हलाहल उसे जीवन-पर्यन्त पीना है।

"हाय मरण तक जीकर भी मुझको हालाहल पीना है।"[२८]

अपने अधिकारों को प्राप्त कर भी, पति के जीवन में अनचाही वस्तु बनकर भी उसने पत्नी की मर्यादा का निर्वाह किया है, नारी के महान् कर्तव्य को निभाया है। वह अपने कर्तव्य-पथ पर जीवन के सारे सुखों को न्योछावर कर चुकी है और इसी स्थिति में रहकर जीवन के शेष दिन वह बितायेगी।

"पगली ! कौन व्यथा है जिसको नारी नहीं सहेगी।"[२९]

औशीनरी पति पर पूर्ण समर्पिता है। सारे प्रयत्नों द्वारा वह पति का स्नेह प्राप्त करना चाहती है।[३०] परन्तु, बदले में उसे विमुखता और विरह का शाप ही मिलता है। प्राप्त होकर भी सुख उसके लिये सुखद नहीं हो पाते। केवल आँसू ही उसके हिस्से में पड़ते हैं।[३१] इच्छाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति न होने पर उसके व्यक्तित्व में विफलता, प्रतिगमन तथा मनोग्रस्तता की मनोग्रन्थियाँ प्रादुर्भूत हो गई हैं।

पलायन—

अनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति के मार्ग में आई हुई बाधाओं को हटाने के लिये आक्रमण या पलायन का सहारा लेता है। पुरुरवा उर्वशी के अन्तर्ध्यान हो

जाने पर आक्रमण की वृत्ति से ग्रस्त होता है। वह स्वर्ग से भी युद्ध करने को तत्पर हो जाता है।[३२]

मनुष्य का चेतन मन अपनी दुर्बलताओं और असमर्थताओं को सहज स्वीकार नहीं करता। दूसरों के समक्ष वह अपने अहं को गौरवशाली रखने का आकांक्षी होता है। फलतः वह अपनी कमजोरियों को स्वीकार न कर उनके लिये परिस्थितियों और अन्यान्य व्यक्तियों को उत्तरदायी ठहराता है। इस प्रकार वस्तु स्थिति से पलायन करु अपने को सुरक्षित रखने का प्रयास करता है। उर्वशी पुरुरवा के प्रेम में व्याकुल होकर स्वर्ग त्याग कर पृथ्वी पर आई। उसने भारतीय ललना की मर्यादा को भंग किया।[३३] उर्वशी के इस उपालंभ को सुनकर पुरुरवा के पुरुष–अहं को चोट लगती है। वह अपने पौरुष का यह अपमान सह नहीं पाता। अतः अपनी सुरक्षा के लिये तर्क प्रस्तुत करता है। उर्वशी के समक्ष समथ सफाई देता है—

"कई बार चाहा सुरपति से जाकर स्वयं कहूँ मैं,
अब उर्वशी बिना यह जीवन भार हुआ जाता है।
बड़ी कृपा हो उसे आप यदि भूतल पर जाने दें,
पर, मन ने टोका" क्षत्री भी भीख माँगते हैं क्या?
और, प्रेम क्या कभी प्राप्त होता है भिक्षाटन से?
मिल भी गई उर्वशी यदि तुझको इन्द्र की कृपा से।
उसका हृदय-कपाट कौन तेरे निमित्त खोलेगा?
× × × ×
"और यह भी सोचा जिस सुगंध से छक कर,
विकल वायु बह रही है मत होकर त्रिकाल त्रिभुवन की।
उस दिगन्त व्यापिनी गंध अव्यय अमर शिखा को,
मर्त्य प्राण की किसी निकुञ्ज वीथी में बांध धरेगा।"[३४]

दिनकर के काव्य में पलायन वृत्ति का उदाहरण बहुत कम प्राप्त होता है। पौरुष और कर्म के कवि होने के कारण उनके काव्य का कोई भी पात्र इस मनोग्रन्थि से पीड़ित नहीं है। जो एकाध उदाहरण यदा–कदा उपलब्ध हो जाते हैं उस आधार पर हम इसे कवि प्रवृत्ति नहीं मान सकते।

स्वप्न—

'स्वप्न' मनुष्य के अवचेतन में दमित एवं कुण्ठित भावनाओं का छद्मवेशी रूप है। मनुष्य स्वप्न में जो कुछ करता या सोचता है उसका सम्बन्ध उसकी जागृत जीवन की उन भावनाओं से होता है जिनकी पूर्ति करने में वह असमर्थ रहता है। इसके अतिरिक्त दैनिक जीवन में किये हुये कार्यों तथा मन में उठी हुई भावनाओं की पुनरावृत्ति भी वह स्वप्न में करता है। इस प्रकार स्वप्न प्रत्यक्ष जीवन के भावों या

अभावों की कल्पनात्मक मूर्ति की क्षणिक झांकी है।[३५] मनुष्य जागृत अवस्थाओं के अभावों को सुप्तावस्था में स्वप्न के माध्यम से किस प्रकार पूर्ण करने का प्रयास करता है इसका उदाहरण पुरुरवा का स्वप्न है। 'उर्वशी' का नायक पुरुरवा पुरुषोचित गरिमा से युक्त ऐश्वर्य विलास से युक्त, राजा है परन्तु अपने सारे वैभवपूर्ण जीवन में उसे पुत्र का अभाव सदा खटकता रहता है। वह सदैव अपने उत्तराधिकारी के अभाव के प्रति चिन्तित है। उसकी अशान्ति का कारण भी यही है। जागृत जीवन की इस अभावात्मक स्थिति को पुरुरवा ने स्वप्न के द्वारा पूरा कर लिया।" नव्य वट पादप', उसके मूल अभाव सन्तान प्राप्ति का प्रतीक है तथा 'पादप' के आंगन में आरोपण की क्रिया सन्तानोत्पत्ति के अवसर पर किये गये समारोह की प्रतीक है। पुत्र-प्राप्ति के बाद राजा (पिता) अपने ही नगर और गृह में उपेक्षित हो जाते हैं जिसका संकेतात्मक अर्थ है—नये राजा के राज्याभिषेक के बाद पुराने का महत्व समाप्त हो जाना। अतः राजा राज-सुख को त्याग कर प्रवज्या के हेतु वन में चले जाते हैं जहाँ उन्हें शान्ति और मोक्ष का प्रतीक महर्षि च्यवन का आश्रम मिलता है। यहाँ अचेतन मन की कुण्ठायें स्वप्न में और स्पष्ट होने लगती है। अभावात्मक प्रतीक हट जाता है। प्रत्यक्ष रूप से पुरुरवा का अभीष्ट पुत्र-प्राप्ति' स्वप्न में स्पष्ट हो जाता है। वह स्पष्ट रूप से च्यवन आश्रम में एक बालक को देखते है जो उनके कुल गौरव की मर्यादा के अनुकूल 'सुभव्य' और 'वीर कर शोभी' था।[३६] पुरुरवा के इस स्वप्न में भविष्य में होने वाली घटना का भी संकेत है। यद्यपि पात्रक्रम उलटा है। भरत-शाप के कारण उर्वशी पति और पुत्र दोनो को एक साथ नहीं देख सकती थी।[३७] अतः भविष्य में राजा को उर्वशी का वियोग सहना था। इसी घटना के संकेतार्थ जब उन्होंने बालक को हृदय से लगाने की चेष्टा की तो वह अदृश्य हो गया और स्थान-स्थान पर उर्वशी का मुख मण्डल उन्हें दृष्टिगोचर होने लगा।[३८]

भारतीय दर्शन की मान्यतानुसार भावी की सूचना स्वप्न से भी आंकी जाती है। पुरुरवा के राज-ज्योतिषी ने भी ग्रहों की गणना से इस स्वप्न पर विचार करके जो निष्कर्ष दिया है उसमें भी राजा को पुत्र-प्राप्ति तथा प्रवज्या ग्रहण का योग है।[३९]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक दोनों दृष्टियों से पुरुरवा का यह स्वप्न उसके अतृप्त हृदयस्थ भावनाओं का ही प्रतीक है।[४०]

(२) दिनकर की कविता में अहं का स्वरूप—

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होता है। उसके जीवन के साथ समाज का अटूट सम्बन्ध है। अतः जीवन के समस्त कार्य-कलाप समाज की सापेक्षता में होते हैं। मनुष्य समाज का निर्माता है और समाज मनुष्य का। समाज और मनुष्य के इसी सम्बन्ध के कारण भारतीय दर्शन और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों व्यक्ति का

महत्व समाज के परिप्रेक्ष्य से ही आंकते हैं। मानव अपने शाश्वत मनोविकारों और मूल प्रवृत्तियों के साथ समाज में उत्पन्न होता है। इन मनोविकारों की सामाजिक उपादेयता पर मनुष्य को सदैव ध्यान रखना पड़ता है। उन पर सामाजिक औचित्य और उपयोगिता की मुहर लगाना उसके लिये आवश्यक है। मनुष्य की इन्हीं जन्म-जात मूल प्रवृत्तियों को मनोविज्ञान ने 'इड्' का नाम दिया है जिसमें आनुवंशिक रूप से पायी हुई प्रवृत्तियाँ बिना किसी अवरोध से प्रकट होना चाहती हैं। इनका निवास मनुष्य के मन में होता है। प्रकट न होने पर ये अचेतन मन को जन्म देती है।[४१] मानसिक विकास क्रम में जब मनुष्य बाह्य जगत से सम्पर्क स्थापित करता है तो इसके 'इद्म' से एक भाग अलग होने लगता है। वह प्रवृत्तियों और भावनाओं को परिष्कृत करता है। यही 'अहं' है। 'अहं' सामाजिक आग्रह से 'इदम' को अपना मूल रूप छोड़ने और सभ्यता का वेश धारण करने के लिये प्रेरित करता है। फलतः 'इद्' और 'अहं' के बीच द्वन्द्व होता है। मनोवैज्ञानिकों ने इस द्वन्द्व को बड़ा महत्व दिया है क्योंकि यथार्थ और आदर्श, अज्ञान और विवेक का यही द्वन्द्व ही अहं' को निखारता है। यथार्थ में जब मूल प्रवृत्ति की आलोचना और उसका परिष्कार हो जाता है तब वह समाज के समक्ष अपने स्वस्थ्य रूप में प्रकट होती है और यहीं 'अहं' का जन्म होता है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से अहं के निर्माण में 'इदम्' अचेतन मन और द्वन्द्व की स्थिति आवश्यक है। अपने उदात्त रूप में 'अहंम' ही 'नैतिकाहं' बनकर उदासीकरण की ओर उन्मुख होता है। 'अहम' कार्य-व्यवहार की सफलता एवं असफलता के आग्रह से और अधिक विकसित होकर 'नैतिकाह' की सृष्टि करता है। 'चेतन मन' भावनाओं और इच्छाओं के परिष्कृत रूप को उर्ध्वमुखी बनाकर शनैः-शनैः उदात्तीकरण की ओर ले जाता है।

दिनकर के काव्य में इदम् और अहंम् का द्वन्द्व—

'उर्वशी' दिनकर की प्रतिनिधि रचना है जिसमें मनोवैज्ञानिकता का आधार कवि ने विशेषरूपेण ग्रहण किया है। 'उर्वशी' में जो 'इद्द और अहंम्' का द्वन्द्व है उसके कई स्वरूप हैं। इसमें समस्याओं का द्वन्द्व भी है और पात्रों का भी। काम और अध्यात्म या भोग और योग का द्वन्द्व आज की मूलभूत समस्या है। 'उर्वशी' में इस द्वन्द्व को दिखाने के लिये कवि ने उर्वशी और पुरुरवा-दो चरित्र नायकों को लिया है। फलतः इन दोनों पात्रों के चरित्र भी द्वन्द्वग्रस्त हो गये हैं। 'उर्वशी' की भूमिका में ही कवि ने पुरुरवा को 'इद्म' और 'अहम्' की द्वन्द्वग्रस्त मनः स्थिति का प्रतीक माना है।[४२] डॉ० सावित्री सिन्हा ने भी लिखा है—"पुरुरवा का द्वन्द्व एक सांसारिक व्यक्ति का द्वन्द्व है जो आदर्शों की मर्यादा का उलघंन करके सहज प्रवृत्तियों से अनुप्रेरित उद्वेलन द्वारा आलोड़ित होता है। + + + पुरुरवा का द्वन्द्व किसी आदर्शवादी गृहस्थ निर्बन्ध भोगवादी अथवा आध्यात्म की ओर झुकते हुये व्यक्ति

का द्वन्द्व नहीं है। वह तो उस युग के व्यक्ति का द्वन्द्व है जिसके सामने मर्यादा की रक्षा और प्रमृत्तियों की अभिव्यक्ति के प्रलोभन में सतत् रूप से संघर्ष चलता रहता है।[४३] पुरुरवा के व्यक्तित्व का यह द्वन्द्व मनोवैज्ञानिक शब्दावली में 'इद्म' और 'अहम्' के बीच चलने वाला द्वन्द्व है।

'काम' की भावना अपने मूलरूप से मानव मन की 'इदम्' प्रवृत्ति है। मनुष्य अपने सम्पूर्ण जीवन में इस मूल प्रवृत्ति का उपभोग 'अहंम्' की सापेक्ष्यता मे ही करता है। सामाजिक औचित्य और कल्याणकारी सृष्टि के उत्पादन के हेतु प्रयुक्त न होने वाला 'काम' निन्दा का विषय बनता। काम का सार्वजनिक और उन्मुक्त उपभोग विश्व की किसी सभ्यता और संस्कृति के अन्तर्गत मान्य नही है। यदि मनुष्य अपने विवेक और 'अहम्' के आग्रह से इस मूल प्रवृत्ति पर अकुश न रखे तो वह पशु हो जायगा। पुरुरवा भारतीय संकारो की आध्यात्मिक छ या मे पला हुआ मानव है। अतः वह भोग के सेवन की सदैव बर्जना करता है। उसमें भोग और योग का भाव एक साथ विद्यमान है।[४४] उर्वशी के सम्पूर्ण तृतीय सर्ग में पुरुरवा ने भोग और योग यानी इद्म और अहम् के इसी द्वन्द्व को प्रकट किया है। पुरुरवा 'भोग में लिप्त होकर भी योग के प्रच्छन्न अकुश से सदैव डरता रहता है. उसका 'अहम' उसे 'इदम' का उन्मुक्त उपभोग नहीं करने देता। उसके इसी रूप से उर्वशी भयभीत है—

"अनाशक्ति तुम कहो किन्तु इस द्विधा ग्रस्त मानव की,
झांकी तुममें देख मुझे, जाने क्यो, भय लगता है।
तन से मुझे कसे हुये दृढ़ आलिंगन में,
मन से, किन्तु विषण्ण दूर तुम कहाँ चले जाते हो।"[४५]

अपनी मूलवृत्ति 'इदम्' से प्रभावित होकर पुरुरवा योग सम्बन्धों और शारीरिक सुखों का उन्मुक्त उपभोग करना चाहता है।[४६] मूलवृत्ति की पूर्ति के इसी आग्रहभाव से पुरुरवा अपनी त्यागमयी एकनिष्ठ रानी औशीनरी की अवहेलना कर उर्वशी की प्राप्ति हेतु व्याकुल है।[४७] उर्वशी की प्राप्ति पर वह अपने राजकीय सम्मान और वैभव विलास को छोड़कर गंधमादन पर्वत पर एकाकी उन्मुक्त उपभोग के हेतु प्रयाण करता है।[४८]

जब पुरुरवा के 'इद्म' से 'अहंम' अलग होने लगता है तब वह विचार करता है कि मेरा सारा तेजोबल कहाँ चला गया? मैं निरुपाय होकर इच्छाओं और कामनाओं के वशीभूत क्यों हो रहा हूँ?[४९] फलतः भावनाओं और औचित्य (इद्म और अहम्) के बीच द्वन्द्व प्रारम्भ हो जाता है। पुरुरवा इस द्वन्द्व से आद्योपान्त पीड़ित है। उसके मन में मानवीय भोग और देवी प्रेम के प्रति द्विधा विद्यमान है। उर्वशी को प्राप्त करेके भी वह निश्चय नहीं कर पाता था कि उसका उपभोग किस भाँति करे।[५०] 'इद्म' और 'अहंम्' का यह द्वन्द्व पुरुरवा की सबसे बड़ी समस्या है।[५१]

पुरुरवा के अतिरिक्त 'उर्वशी' के नारी पात्रों में भी इद्म और अहं का द्वन्द्व विद्यमान है। औशीनरी इसी भावना की प्रतीक है। वह उन्मुक्त रूप से अपने प्रेम का प्रकाशन पति के समक्ष नहीं कर पाती है उसका अहं उसकी मूल प्रवृत्ति पर पत्नीत्व का औचित्य बनाये रखता है। यद्यपि इसी मर्यादा के कारण उसका पति उससे वियुक्त हो जाता है। औशीनरी भी अहं के इस औचित्य के आग्रह से ही दुखी है, उसे इसके लिये पश्चाताप भी है।[५२] परन्तु, वह इस औचित्य को सदैव बनाये रखती है।

इद्म और अहं के द्वन्द्व का एक रूप उर्वशी के चरित्र में भी है। उर्वशी काम के उन्मुक्त भोग की आकांक्षिणी है। उसके मत से अहं के आग्रह से इद्म का परिष्कार या त्याग, विवेक नहीं है वरन उसका उपभोग ही जीवन की पूर्णता है। उर्वशी इद्म की प्रतीक है। उसने अपना परिचय देते हुए भी कहा है—

"मैं मनोदेश की वायु व्यग्र व्याकुल चंचल,
अवचेतन प्राण की प्रभा चेतना के जल में।
मैं रूप रंग रस गन्ध पूर्ण साकार कमल,
× × × ×
विश्व नर के अतृप्त इच्छा सागर से सभुद भूत।"[५३]

उर्वशी के मत से काम वासना मनुष्य की स्वाभाविक क्षुधा है। रक्त की उष्णता जीवनी शक्ति है। देवताओं का भावात्मक लोक उसे इसीलिये त्यागना पड़ा कि वहाँ भौतिक सुख न थे शरीर का उपभोग न था।[५४] उर्वशी के 'द्वन्द्व' में इद्म का महत्व प्रतिपादित होता है। जीवन की उद्दाम काम वासना को उन्मुक्त भोगने से जीवन में शान्ति प्राप्त होती हैं। व्यक्ति का अह तुष्ट होता है, और तभी वह नैतिकाह की ओर जा सकता है। उर्वशी के माध्यम से दिनकर ने अपनी इसी मान्यता का प्रतिपादन करते हुये कहा है—"इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है।[५५]

× × × ×
"किसने कहा तुम्हे जो नारी नर को जान चुकी है,
उसके लिये अलभ्य ज्ञान हो गया परम सत्ता का।
और पुरुष जो आलिगन में बाँध चुका रमणी को,
देश काल को भेद गगन में उठने योग्य नहीं।"[५६]

'उर्वशी' की भाँति ही 'कुरुक्षेत्र' में भी हिंसा और अहिंसा, युद्ध और शान्ति की समस्या का जो द्वन्द्वपूर्ण विचारात्मक रूप प्रस्तुत किया गया है वह भी अहं और इद्म के द्वन्द्व का परिचायक है। युधिष्ठिर और भीष्म कवि के मानसिक द्वन्द्व के दो पक्ष हैं।[५७] स्वयं कवि ने भी स्वीकार किया है कि यह तो अन्ततः एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोल रहा

है।[५८] दोनों ही काव्य ग्रन्थों में कवि ने द्वन्द्वात्मक मनः स्थिति के द्वारा मानव की मूल प्रवृत्तियों का समाधान दर्शन और मनोविज्ञान से पुष्ट करके प्रकट किया है। डॉ० सावित्री सिहा ने तो स्पष्ट कहा है—"मेरे विचार से तो 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' एक ही प्रतिपाद्य के अलग-अलग 'एंगिल' से लिये गये दो चित्र हैं। दोनों ही चित्रों का आधार फलक सार्वभौम और विश्व जनीन है।"[५९] 'कुरुक्षेत्र' की समाप्ति पर कवि ने जो निष्कर्ष दिया है, उसमें भी जीवन के उदात्त सोपान की प्राप्ति का सदेश है।[६०]

दिनकर के काव्य में अहं का स्वरूप—

मनोविज्ञान के अनुसार 'अहं' औचित्य की सीमा निर्धारण करता है। भारतीय दर्शन में इसे ही विवेक कहते हैं। यह विवेक मानव मात्र मे होता है। भारतीय काव्य शास्त्र में धीरोदात्त नायक के जो लक्षण गिनाये गये है उनमे अहं और विवेक यानी मनोविज्ञान और दर्शन दोनो के तत्त्व निहित है। लोक जीवन मे भी जो नेता-अभ्यर्थना पाते हैं उनका व्यक्तित्व भी इन्ही तत्त्वों से समन्वित होता है। सस्कारों से दिनकर जी भारत की प्राचीन संस्कृति के प्रबल समर्थक है परन्तु युग के साथ चलना उनका धर्म है। अतः उनके काव्य में इन दोनों का समन्वय मिलता है।

'उर्वशी' काव्य में अहं का रूप कई पात्रों द्वारा कई स्थितियो मे चित्रित हुआ है। पुरुरवा अपने समय का महान् बलशाली और ऐश्वर्यशाली राजा था।[६१] उसे अपनी इस शक्ति का पूर्ण ज्ञान है। वह अपने अहं के द्वारा ही इस उच्चता को प्राप्त कर सका है। अतः वह कहता है—

'मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं,
उर्वशी! अपने समय का सूर्य हूँ मै।
बध तम के भाल पर पावक जलाता हूँ,
बादलो के शीश पर स्यंन्दन चलाता हूँ।'[६२]

पुरुरवा अपने अहं की पुकार सदैव स्वीकार करता है। जीवन की सर्वाधिक अतृप्त वासना 'काम' की पूर्ति में भी वह अहं की अवहेलना नहीं करता। अहं की अदृश्य शक्ति उसे उन्मुक्त भोग के समय भी याद रहती है।[६३] पुरुरवा विचारवान पुरुष है। वह विवेक रहित होकर काम के जैव धरातल पर ऐन्द्रिय सुख को ही जीवन की सिद्धि मानकर नहीं जी सकता। "उसका जागरूक 'अहं' और विवेक उसे पूर्ण रूप से शृंगार की मादकता में तल्लीन नही होने देता।"[६४] यद्यपि पुरुरवा का अहं अधोपान्त द्वन्द्व ग्रस्त है। परन्तु उसमे औचित्य और विवेक की अवहेलना कहीं भी नहीं की गयी है।[६५] पुरुरवा का अहं सदैव उसे योग की ओर प्रेरित करता है। वह योग और भोग के बीच सन्तुलन स्थापित नहीं कर पाता।

दूसरी ओर उर्वशी का अहं भोग को ही सब कुछ समझता है। उर्वशी योग और भोग को मिलाने की चेष्टा करती है। उसके मत से—

"मूढ़ मनुज। यह भी न जानता तू ही स्वयं प्रकृति है,
फिर अपने से आप भागकर कहाँ त्राण पायेगा।"[६६]

अतः—

"द्वन्द्व रंच भर भी नहीं कहीं भी प्रकृति और ईश्वर में,
द्वन्द्वदों का आभास द्वैतमय मानस की रचना।"[६७]

उर्वशी का अहं जीवन के उन्मुक्त भोग का समर्थक है। उर्वशी के जीवन का सबसे बड़ा सुख, सबसे बड़ी, उपलब्धि है—काम भावना की तृप्ति। उसने स्पष्ट कहा है—

"वक्ष स्थल पर इसी भाँति मेरा कपोल रहने दो,
कसे रहो बस इसी भाँति उर पीड़क आलिंगन में,
और जलाते रहो अधर पुट को कठोर चुम्बन से।"[६८]

काम को अध्यात्मक तक पहुँचाने का कार्य कवि ने उर्वशी के अहं से प्रभावित होकर ही किया है। उसके मत से—

"देह प्रेम की जन्म भूमि है पर उसके विचरण की,
सारी लीला भूमि नहीं सीमित है रुधिर त्वचा तक।
यह सीमा प्रक्षरित है मन के गहन गुह्य लोको में,
जहाँ रूप की लिपि अरूप की छवि आंका करती है।
और पुरुष प्रत्यक्ष विभासित नारी मुख मंगल में,
किसी दिव्य अव्यक्त कमल को नमस्कार करता है।"[६९]

× × × ×

"दाह मात्र ही नहीं प्रेम होता है अमृत शिखा भी।"[७०]

नैतिकाहं—

कवि समाज का प्रष्टा और स्रष्टा दोनों होता है। उसे अहं के ऊपर उठकर नैतिकाहं के रूप का स्पष्टीकरण करना होता है। घटनाओं और पात्रों के माध्यम से कवि अह को नैतिकाहं की ओर प्रेरित करता है। 'उर्वशी' की मूल समस्या 'काम' को कामाध्यात्म बनाकर कवि दिनकर ने मानव मन की नैतिकाहं वृत्ति का उदात्त रूप दिखाया है। काव्य ग्रन्थ का नायक पुरुरवा जो अधोपांत 'काम' की स्थिति में द्वन्द्व ग्रस्त रहता है वह भी अन्त में भौतिक सुखों को त्याग कर ऊपर की ओर उठने लगता है। उसने अनुभव किया कि—

मृषा बन्ध विक्रम विलास का मृषा मोह माया का,
इन दैहिक सिद्धियों कीर्तियों के कंचनावरण में।
भीतर, भीतर विषण्ण मैं कितना रिक्त रहा हूँ,
अन्तरतम के रुदन अभावों की अव्यक्त गिरा को।
कितनी बार श्रवण करके भी मैंने नहीं सुना है।"[७१]

इसी कारण लोकहित की मर्यादा का पालन करते हुये वह आयु का राज्याभिषेक करता है और स्वय संन्यास ग्रहण—

"लो पूरा हो गया राज्याभिषेक, कृपा पूषण की,
ऐलवंश अवतंश नये सम्राट आयु की जय हो।
महाराज! मैं भार मुक्त अब कानन को जाता हूँ।"[७२]

नैतिकाहं का सबसे अच्छा रूप महर्षि च्यवन और देवी सुकन्या के चरित्रों में मिलता है। काम की सहज प्रेरणावश उन्होंने तपोलल से यौवन धारण किया। काम का उपभोग किया और लोकहित कल्याणकारी भावना से उस काम मे संयम और अध्यात्म का समावेश किया। इसीलिये उनका भोग भी योग में बाधक नहीं बना। उनमें इद्म और अह का द्वन्द्व समाप्त हो गया है। अह के आग्रह से उन्होने जीवन का स्वस्थ और उज्ज्वल रूप भोगा हैं। अतः उनका अहं कतिपय सोपानों को पार करता हुआ नैतिकाहं की ओर उन्मुख है। भूमिका में ही कवि ने कहा है—"प्रवृत्ति और परमेश्वर की एकता की एक अनुभूति सन्यास और प्रेम के बीच सन्तुलन की एक झाकी महर्षि च्यवन के चरित्र में झलक मारती है। जो नदी पुरुरवा के भीतर बैचेन होकर गरज रही है वही च्यवन में आकर स्वच्छ, सुस्थिर, शीतल और मौन है।" डॉ० विमलकुमार जैन ने इस स्थिति को उर्ध्व गमन कहा है जो नैतिकाहं की ओर विकसित है। उनके ही शब्दों में—मनोविज्ञान भी अब इस बात को पुष्ट करता है कि जिसे हम वैराग्य कहते हैं वह वास्तव में रागों से मैत्री है—राग हीनता नहीं वरन् विशेष राग है। संसार के प्रति निषेधात्मक मन की स्थिति नहीं है अपितु विधि और निषेध का समन्वय है, निम्न स्थल से उर्ध्व गमन के निमित्त संघर्ष नहीं वरन् एक उज्ज्वल नैसर्गिक जीवन की साधना है।"[७३]

दिनकर की कविता में मनोविज्ञान को उपरोक्त प्रवृत्तियों के अतिरिक्त कुछ और भी मनोवैज्ञानिक मनः स्थितियाँ उपलब्ध हो जाती है जिनके उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं। उर्वशी, डॉ० सूरती ने भी दिनकर की कविता में इन मनः स्थितियों की चर्चा की है।[७४]

भाव प्रकाशन का मनोवैज्ञानिक रहस्य : आत्म प्रदर्शन—

कवि अपनी वाणी द्वारा संसार को प्रकाश देना चाहता है—

"इच्छा है, मैं बार-बार कवि का जीवन लेकर आऊँ।
अपनी प्रतिभा के प्रदीप से जग की आभा मिटा जाऊँ।'[७५]

अतृप्ति और इच्छा—

व्यक्ति अपने आन्तरिक भावों को प्रकट करने के लिये इच्छुक रहता है। उसकी यही इच्छा पूर्ण न होने पर मन में अतृप्ति का भाव उत्पन्न होता है। यही प्रबल इच्छा कवि और भाव प्रकाशन के मनोवैज्ञानिक साधन हैं —

"पहली पंक्ति लिखी विधि ने जिस दिन कविता की,
उस दिन पहला वृक्ष स्वयं उत्पन्न हो गया।
प्रथम काव्य है वृक्ष विश्व के पहले कवि का।"[७६]

स्मृति, कल्पना और स्वप्न—

स्मृति के द्वारा वर्तमान जीवन की कटुता को भूलकर अतीत में विचरण करने की प्रवृत्ति भी मनुष्य में होती है। कवि दिनकर का अतीत प्रेम इसी स्मृति भाव से व्यंजित हुआ है—

"जय हो खोलो अजिर द्वार,
मेरे अतीत ओ अभिमानी।
बाहर खड़ी किये नीराजन,
कब से भावों की रानी ·· ···,
दो विषाद, निर्लज्ज मनुज यह।
ग्लानि भग्न होना सीखें।
× × × ×
वर्तमान की चित्रपटी पर,
भूतकाल संभाव्य बने।"[७७]

इसी प्रकार दिनकर ने पाटलिपुत्र की गंगा से मिथिला, 'वैशाली, बोधिसत्व', कलिंग विजय आदि रचनाओं में भी अतीत का स्मरण किया है।[७८] स्मृति के द्वारा ही शब्द और अर्थ संयुक्त होकर सफल रचना की अभिव्यक्ति कर पाते हैं—

"शब्द साथ ले गये अर्थ जिनके लिपटे थे,
छोड़ गये हो छन्द गूँजता है वह ऐसे।
मानो कोई वायुकुंज में तड़प-तड़प कर,
बहती हो, पर नहीं पुष्प को छू पाती हो।"[७९]

कल्पना के द्वारा भी मनुष्य अपनी अचेतन आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। कल्पना में वह शक्ति है कि वह पत्थरों में भी प्राण फूंकता है—

"आदमी की उँगलियों में जब कल्पना दौड़ती है,
पत्थरों में जान पड़ जाती।
मूर्तियाँ संप्राण होकर जगमगाती हैं।"[८०]

कल्पना हृदय को मुक्त-आनन्द देती है--

"आत्मा की आँख, बुद्धि की पाँख है,
मानस की चांदनी विमल है कल्पना।
सेतु मैंने रच दिये सर्वत्र है,
कल्पने ! चाहो जहाँ भी नाच सकती हो।"[८१]

दिनकर जी के अनुसार कल्पना जीवन के यथार्थ के साथ सामंजस्य स्थापित करके ही पूर्ण हो सकती है—

"व्योम कुंज की परी अथि कल्पने,
भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं।
उड़ न सकते हम घुमैले स्वप्न तक,
शक्ति हो तो आ असा अलका यही।"[८२]

गगन में घूमने वालों ! जिसे तुम खोजते फिरते,
नहीं वह पूर्णता है शून्य का कीटाणु बनने में।
बढ़ाओ कल्पना का जाल तब भी व्योम बाकी है,
लगाओ तर्क के सोपान, तब भी प्रश्न रहते है।"[८३]

चिंता—

महत्वाकांक्षा से चिंता उत्पन्न होती है। मनुष्य के जीवन में चिंता उसके दुःख का कारण होती है मनुष्य इनसे पलायन करके भी छुटकारा नहीं पाता है—

" ..... चिनाये बहुत है इस जगत में,
इसलिये ऊपर गरुड़ के साथ अम्बर में उड़े।
और जा बैठों सितारों की सभा में,
लोग तो उड़ु की दिशा में खूब उड़ने लगे हैं।
किन्तु क्या चिंता व्यथा वे भूल पाते हैं।"[८४]

दिनकर जी ने चिंता से मुक्त होने का साधन बताया है—

"सोचना है भूल सारी वेदना का,
छोड़ दो चिंता बड़े सुख से जिओगे।
शांति का उत्संग तब होगा सुलभ जब,
मानसिक निस्तब्धता का रस पियोगे।"[८५]

वेदना—

वेदना मानसिक पीडा का प्रतीक है। मनुष्य को यह पीड़ा चाहे अनचाहे सदैव मिलती रहती है। कभी-कभी वह इसी वेदना में सुख अनुभव करने लगता है—

"दर्द मीठा प्रेम का है,
किस लिये इसको मिटाऊँ ?

और—

"जगेगी वेदना करुणा नहीं अज्ञात होगी,
प्रणय का देवता मन में करेगा बास जिस दिन।"[८६]

दिनकर जी के मत से अपने पापों के प्रायश्चित में उत्पन्न मानसिक वेदना हृदय को स्तब्ध कर देती है—

"अश्रु में घुल वह गया कुत्सित निहीन, विवर्ण,
रह गया है शेष केवल तात निर्मल स्वर्ण।
खुल गयी है शुद्ध मन की आँख,
खुल गयी है चेतना की पाँख।
प्राण की अन्तः शिला पर आज पहली बार,
जाग कर करुणा उठी है कर मृदुल झंकार।"[८७]

इस प्रकार हम देखते है कि दिनकर जी की कविता में मानव मन की विभिन्न स्थितियों का सफल चित्रण हुआ है—

दिनकर की मनोवैज्ञानिक प्रतीकात्मकता—

दिनकर जी मनोवैज्ञानिक प्रतिभा का सर्वाधिक विकास उनकी 'उर्वशी' कृति में हुआ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मनोवैज्ञानिक प्रतीकात्मकता से पूर्ण है। घटना, पात्र सब की योजना कवि ने प्रतीक रूप मे की है। नर-नारी का सम्बन्ध और काम की समस्या आधुनिक युग का महत्वपूर्ण विषय है। कवि ने उसे पुराण और निरुक्त के पुट से कविता के सहारे व्यक्त किया है। प्रस्तुत अध्ययन में हम उनके इसी प्रतीकत्मक रूप का संक्षिप्त अध्ययन करेगे। कवि ने नारी और पुरुष पात्रों और समस्याओं के माध्यम से अपनी मनोवैज्ञानिक प्रतीकात्मकता का निर्वाह बड़ी कुशलतापूर्वक किया है। इस समस्या के प्रति कवि में आकर्षण का भाव 'रसवन्ती' से ही विद्यमान है, क्योंकि रसवन्ती' वाली भावना ही आज तक कवि में विकास पा रही है,

समस्या प्रतीक—

उर्वशी की भूमिका में ही कवि ने कहा है—"कहते है निरुक्त के अनुसार आयु का अर्थ भी मनुष्य होता है। इस दृष्टि से मनु और इडा तथा पुरुरवा और उर्वशी ये दोनों ही कथाएँ एक ही विषय को व्यंजित करती है। सृष्टि विकास की जिस प्रक्रिया के कर्तव्य पक्ष का प्रतीक मनु और इडा का आख्यान है उसी प्रक्रिया का भावना पक्ष पुरुरवा और उर्वशी की कथा में कहा गया है। संन्यास और भोग में किसको जीवन में प्रयुक्त कर मनुष्य मोक्ष पा सकता है यही मुख्य प्रश्न है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काम-प्रवृत्ति मनुष्य की मूल पारिचालिका प्रवृत्ति है। कवि के अनुसार भी—मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व सारे जीवन का आधार उसकी जैव भावनाओं का धरातल है।[८८] इसके अतिरिक्त-जीवन में सूक्ष्म आनन्द और निरुद्देश्य सुख के जितने भी सोते हैं, वे कहीं न कहीं काम के पर्वत से फूटते हैं। जिसका काम कुण्ठित, उपेक्षित अथवा अवरुद्ध है वह आनन्द के अनेक सूक्ष्म रूपों से वंचित रह जाता है।[८९] अतः काम की सृष्टि विकास की भावना मनुष्य में आदिम स्थिति से विद्यमान है। काम की प्रवृत्ति मनुष्य में पशु के समान ही शाश्वत है परन्तु वह अपने विवेक और सुरुचि से उसे महानन्द से सुख में परिणत कर लेता है। सुख का यह अवर्णनीय सागर उसे भोग की ओर इतना अधिक प्रेरित करता है कि वह जीवन की उर्ध्वमुखी गति को ही भूल जाता है। इसीलिये काम-भोग जीवन के महान् लक्ष्यों की प्राप्ति में सबसे बडा बाधक है।

दिनकर जी ने 'उर्वशी' में इसी बाधा, भोग तथा त्याग का एक अनूठा समाधान प्रस्तुत किया है। उनके मत से, भोग और काम त्याज्य व निंदनीय कर्म नहीं है। जीवन की पूर्णता प्राप्त करने के लिये मनुष्य को जीवन का भोग करके ही तृप्ति मिल सकती है। मनुष्य देवत्व को तभी प्राप्त कर सकता है जब वह मनुष्यत्व की पूर्णता तक पहुँचा ले। कवि के मत से यह मान्यता बिल्कुल गलत है कि नारी का उपभोग करने वाला नर मोक्ष को प्राप्त नही कर सकता।[९०] उन्होंने शारीरिक सुख का त्याग करने वाले व्यक्ति को देवता नहीं माना है।[९१] योग और भोग का सन्तुलित रूप महर्षि च्यवन की घटना से दिखाया गया है। आजीवन योग का संधान करने वाला ऋषि जब भोग के लिये यौवन धारण करता है तब मानव की काम वृत्ति का पृष्ठ खुलता है। परन्तु कवि ने इस समस्या का समाधान भी देवी सुकन्या के द्वारा करवाया है। वह महर्षि के प्रणय से पूर्ण सन्तुष्ट हैं। कवि के शब्दों में—"संन्यास में समा कर प्रेम से समा कर प्रेम से और प्रेम में समाकर संन्यास से बचना जितना कठिन है संन्यास और प्रेम के बीच सन्तुलन बिठाना कदाचित उससे भी कठिन कार्य है।[९२] भारत के दार्शनिक सिद्धान्तों में भी इसी मत का विवेचन हुआ है। परन्तु, आधुनिक मनोविज्ञान ने इसका सम्यक समाधान प्रस्तुत किया। जब यह प्रमाणित हो चुका है कि मनुष्य अपनी मूल काम वृत्ति के वशीभूत है तब उसकी वर्जना किसी भी भाँति उसके लिये श्रेयस्कर नही। अतः दिनकर जी ने भी इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर कहा—"मनोविज्ञान जिस साधना का संकेत देने लगा है वह वैराग्य नहीं रागों से मैत्री का संकेत है, वह निषेध नही स्वीकृति और समन्वय का संकेत है, वह संघर्ष नहीं सहज स्वच्छ प्राकृतिक जीवन की सहज साधना है।"[९३] इसी मान्यता का पालन करते हुये कवि ने काम को ही अध्यात्म बनाया है। दिनकर की उर्वशी इसी कामाध्यात्म की अभिव्यक्ति है। योग और भोग

क्षुधा और तृप्ति का समन्वय है। 'उर्वशी' के इसी महत्व को प्रकाशित करते हुये 'उर्वशी' उपलब्धि और सीमा नामक ग्रन्थ में कहा गया है—"उर्वशी में जो देह की क्षुधा भी है और मन का संन्यास भी वह दिनकर काव्य का अत्यन्त स्वाभाविक विकास है। दिनकर ने भोग को त्याज्य नहीं बतलाया है किन्तु भोग को उन्होंने चरम लक्ष्य भी स्वीकार नहीं किया है।"[९४]

अतएव, हम कह सकते हैं कि 'उर्वशी' द्वारा कवि ने मनोवैज्ञानिक ढंग से काम की मूल समस्या का समाधान खोजा है। उर्वशी काम-समस्या का प्रतीक काव्य है। उसमें शरीर और आत्मा, योग और भोग के पारस्परिक द्वन्द्व के चित्रण द्वारा उनके सन्तुलन और समन्वय का मार्ग खोजा गया है।

पुरुष प्रतीक—

'उर्वशी' का नायक पुरुरवा ही काव्य ग्रन्थ का प्रमुख पात्र है। यद्यपि महर्षि च्यवन, आयु और कतिपय छोटी भूमिका वाले पुरुष पात्रों की योजना भी कवि ने की है। परन्तु भूमिका में भी कवि ने पुरुरवा को प्रमुख पात्र कहा है तथा च्यवन और आयु का ही जिक्र किया है। अतः हम इन्हीं तीनों पुरुष पात्रों की प्रतीकात्मकता का यहाँ अध्ययन करेंगे।

पुरुरवा—

भूमिका में ही कवि ने पुरुरवा की मनोवैज्ञानिक प्रतीकात्मकता को स्पष्ट करते हुये कहा—"मेरी दृष्टि में पुरुरवा सनातन नर का प्रतीक है।"[९५] सम्पूर्ण ग्रन्थ में पुरुरवा मानव की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है। मनुष्य में देवत्व-प्राप्ति के लिये सतत द्वन्द्व होता है।[९६] वह पृथ्वी के उपलब्ध सुखों में भी सूना-सूना रहकर उसी देवत्व को प्राप्त करने का प्रयास करता है। सारी मानव जाति का इतिहास इसी मानवोचित वेदना से भरा होता है। पुरुरवा इसी का प्रतिनिधित्व करता है।[९७] पृथ्वी के सुखों को त्याग कर भी सन्यास को धारण कर भी उसकी यह वेदना शांत नहीं होती।[९८] कवि ने चूँकी पुरुरवा के नर का द्वन्द्व ग्रस्त प्रतीक माना है इसलिये उसके माध्यम से यह द्वन्द्व बड़े सुन्दर रूप में मुखर हो उठा है। साधारण मानव की भाँति उसमें भोग के प्रति परम आकर्षण है। उसके लिये वह उर्वशी को प्राप्त करना चाहता है। वह प्रेमिका की प्राप्ति, सहवास और भोग के लिये व्याकुल है। पुरुष की नित नूतन उपभोग प्रवृत्ति से परिचालित होकर ही वह अपनी त्यागमयी रानी औशीनरी का त्याग कर उर्वशी के परिरंम्भपाश में बंध जाता है। परन्तु गंध मादन पर्वत के एकान्त बिहार में भी उसे यही द्वन्द्व सताता है कि वह भोग को कैसे भोगे। योग की साधना और भोग की वर्जना का द्वन्द्व उसमें यहाँ भी विद्यमान है।[९९] पुरुरवा का चरित्र द्वन्द्व से ग्रसित मनुष्य का चरित्र है। वह

सुख चाहता है और उसे भोगता भी है। वह नारी से प्रेम करता है और नारी के अतिक्रमण की अभिलाषा भी।[१००] मनोवैज्ञानिक शब्दावली में पुरुरवा काम की वृत्ति से प्रभावित व्यक्ति का प्रतीक है। उसमें साधारण मनुष्य की भाँति प्यास है, तृप्ति की चाह है और अमृत पीने की लालसा भी। वह सुख के दैहिक भोग का कामी है। उसके लिये वह व्याकुल होकर प्रयत्न करता है, तथा द्वन्द्वात्मक स्थिति में ही उसको उपभोग करता है। तीसरे अंक में कवि ने पुरुरवा को अपनी काम सम्बन्धी भावनाओं का प्रतीक बना लिया है। वह स्पष्ट रूप से उर्वशी को मानवोचित द्वन्द्व और कर्तव्य का उपदेश देता है। यद्यपि अभी हाल में कवि ने स्वयं को ही पुरुरवा कहा है।[१०१] वस्तुतः मैं कवि की इस स्वीकारोक्ति से सहमत और प्रसन्न हूँ क्योंकि कवि जहाँ एक ओर साधारण मानव होता है, वहीं दूसरी ओर स्वयं बड़ा भावुक और मनुष्यों की भावनाओं का अभिव्यक्तिकर्त्ता भी। दिनकर जी ने अपने इस कवि-कर्तव्य को बड़ी ईमानदारी और सुन्दरता के साथ निबाहा है। पुरुरवा के प्रतीक द्वारा कवि ने सम्पूर्ण पुरुष-वर्ग की द्वन्द्वात्मक मनःस्थिति का संकेत किया है।

महर्षिच्यवन—

महर्षिच्यवन का चरित्र 'उर्वशी' में एक आदर्श पात्र के रूप में चित्रित है। उन्होंने बड़ी कठिन और दीर्घ तपस्या के बाद ईश्वर का सबसे सुन्दर वरदान मानकर अप्सरा सुकन्या से विवाह किया। उसके लिये अपने जरा जर्जर शरीर को त्याग कर पुनः यौवन धारण किया, परन्तु इसके बाद भी वे ऋषि धर्म का पालन करते रहे। प्रतीकात्मक रूप में जीवन को मूल वृत्ति काम को त्याग कर मनुष्य शान्ति नहीं पाता। उसका संन्यास पूरा नही होता। अतः उसका समन्वित और सन्तुलित भोग ही जीवन में देवत्व की प्राप्ति कराता है। मनुष्य को पूर्ण बनाता है। कवि ने च्यवन को काम भावना के सन्तुलित प्रतीक के रूप मे चित्रित किया है। भूमिका में उन्होंने कहा है—"प्रकृति और परमेश्वर की एकता की एक अनुभूति संन्यास और प्रेम के बीच सन्तुलन की एक झांकी महर्षिच्यवन के चरित्र में झलक मारती है। जो नदी पुरुरवा के भीतर बेचैन होकर गरज रही है वही च्यवन में आकर स्वच्छ, सुस्थिर, शीतल और मौन है।'[१०२] कवि के द्वारा प्रस्तुत किये गये इस तुलनात्मक कथन से स्पष्ट है कि च्यवन पुरुरवा की द्वन्द्व स्थिति से विकसित नर का प्रतीक है। उनमें पुरुरवा वाली भावना समाधान प्राप्त कर चुकी है।

इस दृष्टि से च्यवन का चरित्र, 'पुरुरवा' की उपलब्धि है। पुरुरवा द्वन्द्व के द्वारा जिस समाधान का आकांक्षी है च्यवन उसका मूर्तिमत रूप।

आयु—

नर-नारी सम्बन्ध को सन्तुलन में रखने के लिये कवि ने आयु की योजना

द्वारा एक समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पुरुष सदैव नारी के त्याग को महत्व नहीं देता। वह अपनी इच्छा पूर्ति के लिये उसे प्रताड़ित करता है और यह सब होता इसलिये है कि विधाता ने उसे शक्ति सम्पन्न बनाया है।[१०३] अतः पुरुषों की रचना में नारी का योगदान होना चाहिये। तभी वह नारी के हितों का ख्याल रखेगा।[१०४] 'उर्वशी' में आयु एक ऐसा ही पात्र है जिसका निर्माण स्त्रियों ने किया है। डॉ० सत्यकाम वर्मा ने उसे – 'पुरुष का आदर्श चित्र कहा है।[१०५] स्वयं आयु का यह दावा है कि मैं ही तो वह पुरुष हूँ जिसका निर्माण नारियों ने किया।"[१०६] परन्तु समस्या का समाधान कहीं भी नहीं होता क्योंकि वेदों में उल्लेख है कि युवक राजा सुश्रुवा ने आयु को जीत कर उसे अपने आधीन बना लिया था।[१०७] अतः पुरुष की रचना यदि पुरुष करे तो वह त्रासक होता है, और पुरुष की रचना यदि नारी करे तो वह लड़ाई में हार जाता है।"[१०८]

इस प्रकार आयु यदि नर-नारी सम्बन्धों में सुधार ला भी सकता है तो उसका शौर्य पक्ष दब जाता है। और इस तहर एक समस्या का समाधान होने पर दूसरी उठ खड़ी होती है। यहाँ आयु केवल कवि की उस भावना का प्रतीक है जो योग और भोग दोनों से परे होकर कर्तव्यरत होती है।

नारी प्रतीक—

'उर्वशी' के नारी पात्रो में स्वयं उर्वशी नायिका, तथा सुकन्या औशीनरी और अन्य अप्सरायें सभी मानव मन की विभिन्न प्रवृत्तियों की द्योतक हैं। यों स्थूल विभाजन के रूप में इन्हें मानवीय और दैवी दो भागों में इन नारियों को बाँटा जा सकता है।

उर्वशी—

'उर्वशी' की प्रतीकात्मकता को कवि ने भूमिका मे ही स्पष्ट किया है। उसके आधार पर उर्वशी के चार रूप सामने आते हैं। कवि के ही शब्दों में —

(क) 'उर्वशी' शब्द का कोषगत अर्थ होगा उत्कट अभिलाषा, अपरिमित वासना इच्छा अथवा कामना · उर्वशी चक्षु रसना प्राणत्व तथा श्रोत्र की कामनाओं का प्रतीक है ·।[१०९] इस दृष्टि से उर्वशी मानव मन की कामनाओं और उद्दाम इच्छाओं का प्रतीक है।

(ख) 'मेरी दृष्टि में पुरुरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी का।"[११०] इस दूसरे प्रतीक में उर्वशी केवल भारतीय नारी नही वरन् विश्व नारी की प्रतीक है।

(ग) उर्वशी द्वन्द्वों से सर्वथा मुक्त है। देवियों में द्वन्द्व नहीं होता। वे त्रिकाल अनुद्विग्न निर्मल और निष्पाप होती है। यहाँ उर्वशी कामना और सनातन नारी के अतिरिक्त देवी रूप में सामने आती है।

(घ) "द्वन्द्व की कुछ थोड़ी अनुभूति उसे तब होती है जब वह माता अथवा पूर्ण मानवी बन जाती है।" जब मिट्टी का रस उसे पूर्ण रूप से अभिसिक्त कर देता है। 'उर्वशी के प्रतीक के सम्बन्ध में कवि ने जब उसे मानवी बनाया तब भी कवि को सन्तोष न हुआ और १९६१ में प्रकाशित उर्वशी के सम्बन्ध में १९७० में कवि ने स्पष्ट कहा—उर्वशी ···· शी इज दी टाइप ऑफ मार्डन गर्ल ·।[१११] और इस प्रकार कवि के उपरोक्त तीन प्रतीक क्षीण पड़ गये। परन्तु मेरे मत से उर्वशी अपने सभी प्रतीकों में ही पूर्ण बनती है और उसका मानवी और माडर्न गर्ल वाला रूप ही महत्वपूर्ण है। देवी उर्वशी का द्वन्द्व रहित रूप उसे देवी नहीं बनाता। प्रस्तुत अध्ययन में हम उसके उन्हीं रूपों का अध्ययन करेंगे।

उर्वशी : कामना-प्रतीक—

कामना प्रतीक के रूप में 'उर्वशी' नारी की उद्दाम काम वासना का प्रतीक है, जो बाधा रहित होकर अपने प्रेमी के साथ उन्मुक्त-भोग और विहार की आकांक्षिणी है। इसके लिये वह स्वर्ग का सुख, वैभव छोड़कर पृथ्वी पर आयी है।[११२] वह उन्मुक्त भोग चाहती है, शारीरिक सहवास और रक्त की उष्णता ही उसकी मूल-वृत्ति है।

'उर्वशी' देवी प्रतीक—

उर्वशी का देवी रूप कवि ने सिर्फ इसलिये माना है कि उसमें योग भोग का द्वन्द्व नही है। वह उन्मुक्त भोगवादिनी है। किन्तु भारतीय मान्यता और मनोविज्ञान दोनों के अनुसार द्वन्द्व से रहित होकर शारीरिक सुख को महत्व देने वाले न देवत्व की कोटि में आते हैं न उच्च मानवीय कोटि में अतः द्वन्द्व विमुक्त होना ही देवी होने के लिये पर्याप्त नहीं। उर्वशी देवी है—इसके लिये केवल एक तथ्य मान्य हो सकता है कि वह देव कुल की है, अप्सरा है।

उर्वशी मानवी-प्रतीक—

अपने मानवी प्रतीक में उर्वशी क्रमशः अधिक सफल है। सर्वप्रथम वह पृथ्वी की ओर आकर्षित होती है। स्वर्ग का सुख छोड़कर मिट्टी पर आती है।[११३] आने पर भी वह पुरुरवा से उलाहना देती है कि वह मानवी की भाँति हरण करके आने या परिणीता बननें में ही गौरव समझती है।[११४] इसके बाद वह पृथ्वी का सबसे गौरवमय मातृत्व पद ग्रहण करती है और पुत्र को सुकन्या के पास छोड़ते समय वह दुःखी होकर अपने मातृपद की रक्षा न कर सकने के लिये ग्लानि व्यक्त करती है।[११५] भरत शाप की कठोरता उसके पति पुत्र दोनों के मिलन में बाधक है।[११६]

अतः वह पुत्र की सुरक्षा का प्रबन्ध कर पति की प्रसन्नता को बनाये रखने के लिये पुनः पुरुरवा के पास जाती है। अन्त में जब आयु और पुरुरवा का साक्षात्कार होता है तो सच्ची भारतीय त्यागमयीं नारी की भाँति उर्वशी पुनः स्वर्ग की ओर प्रस्थान करती है।[११७]

यहीं उर्वशी के सम्बन्ध में माडर्न गर्ल वाला प्रतीक भी स्पष्ट हो जाना चाहिये। कवि के अन्तः मन में आधुनिका के चित्र बहुत पहले से बसे हुये हैं। उन्हीं को उसने उर्वशी के चरित्र में उतारा है। दो तीन उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

आधुनिक नारियों के मातृत्व पद पर आक्षेप करते हुये कवि ने कहा था—

"काश ! समझती जन्म निरोधातुर कृतिम बन्ध्यायें,
पुत्र–कामना इच्छा है अपने को ही पाने को।"[११८]

उर्वशी में भी वही भाव है—

"गर्भ मार उर्वशी मानवी के समान ढोयेगी ?
यह शोभा यह गठन देह की यह प्रकान्ति खोयेगी ?"

× × × ×

"किरण मयी यह परी करेगी यह विरूपता धारण।"[११९]

आधुनिक नारी के सम्बन्ध में उनकी धारणा थी—

"अपना चित्र विविध रंगों में आप सृजन करती हो,
और जांचती हो फिर स्वयं पुरुष के दृग से।
दर्पण, मैं रंगों मैं नर की प्रमित लुब्ध आँखों में,
देख रहीं सब में अपने को क्रम से बिठा–बिठा कर।"[१२०]

अब 'उर्वशी को "अप्सरा' भी देखिये—

"हम तो हैं अप्सरा पवन में मुक्त बिहरने वाली,
गीत नाद सौरभ सुवास से सबको भरने वाली।
अपना है, आवास न जाने कितनों की चाहों में,
कैसे हम बंध रहे किसी भी नर की दो बहों में।"[१२१]

इसी प्रकार आधुनिक नारी की उद्दाम कामना के प्रति उन्होंने रसवन्ती में कहा था—

"जनाकीर्ण संसार बीच कितनों का मन बाँधोगी ?
निरुद्देश्य बेधोगी चलते राह हृदय किस-किस का ?"[१२२]

प्रकारान्तर से रम्भा ने भी कहा है—

"सृष्टि हमारी नहीं संकुचित किसी एक आनन में,
किसी एक के लिये सुरभि हम नहीं, संजोती मन में।"[१२३]

इसी प्रकार हम देखते हैं कि 'रसवन्ती' की आधुनिका ही विकसित रूप में उर्वशी बनकर प्रकट हुई है। वही आधुनिका कवि की 'मार्डन गर्ल' है। क्योंकि आधुनिका रसवन्ती काल से ही उनकी दृष्टि में थी।

कवि ने 'उर्वशी' को सनातन नारी का प्रतीक माना है। परन्तु मेरे मत से यदि 'उर्वशी' काव्य के समस्त नारी पात्रों यथा सुकन्या, औशीनरी और उर्वशी को मिलाया जाय तब जो नारी तैय्यार होगी वह सनातन और देवी नारी का प्रतीक बन सकती है। उर्वशी द्वन्द्व रहित उद्दाम वासना का भोग करने वाली वह आधुनिक नारी है, जिसके अन्तःकरण में नारीत्व के गुण सोये पड़े हैं। और वे परिस्थितिवश ही जागृत होते हैं। यद्यपि आधुनिक सभ्यता यांत्रिकता तथा बढ़ते हुये 'सेक्स' युग के परिवेश में भी उर्वशी सनातन नारी का प्रतीक तो नहीं हाँ आधुनिक नारी का प्रतीक अवश्य बन सकती है। देवी का आदर्श उसमें कहीं नहीं है। वह केवल जाति से अप्सरा है, देवों के कुल की है।

निष्कर्ष रूप में उर्वशी की प्रतीकात्मकता का निर्वाह कवि ने कई रूपों में किया है प्रारम्भ में ही नारी के जिन दो रूपों की कल्पना उसने की थी उनमें से उर्वशी एक रूप आधुनिक भोगवादी नारी का प्रतिनिधित्व करता है।

औशीनरी—

उर्वशी के बाद औशीनरी 'उर्वशी' काव्य की सहपात्रा है। उसके माध्यम से कवि ने त्यागमयी भारतीय पत्नी का प्रतीक उभारा है। वह नारी जाति के अलावा रूप को स्पष्ट करती है। आदि से अन्त तक उसने त्याग और निष्ठा के बदले आँसू पाये हैं। यद्यपि त्याग की विजय (भारतीय दर्शन के कारण) दिखाने के लिये ग्रन्थ के अन्त में कवि ने उसे महत्वपूर्ण स्थान दिया और सती नारी का सम्मान किया है परन्तु जिस भाँति उर्वशी सारे ग्रन्थ पर विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से छाई हुयी है औशीनरी उस प्रकार का स्थान नहीं प्राप्त कर पाती। प्रतीक रूप में उर्वशी में जिस त्याग, निष्ठा और संयम का अभाव है औशीनरी मे वे ही गुण प्रधान है।

सुकन्या—

महर्षिच्यवन की पत्नी सुकन्या 'उर्वशी' काव्य में एक आदर्श पात्र है। उनमें उर्वशी और औशीनरी यानी प्रेमिका और पत्नी दोनों के गुण है। इसीलिये वे योग और भोग के संयमित रूप का प्रतीक है। उसने मानवी दाम्पत्य प्रेम की गरिमा को वहन किया है। अपने वृद्ध और योगीपति को अपने निश्छल प्रेम से आप्लावित किया है।[१२४] उसमें भारतीय प्रेमिका और पत्नी दोनों का गौरव है। इसीलिये अपरोक्ष में वह औशीनरी से भी महान् है। वह प्रेमिका से परिणीता बनी है अतः

उसमें अबला के भाव का भी अभाव है। निष्कर्ष यह कि उर्वशी 'कामायनी' की तरह एक प्रतीकात्मक काव्य है जिसके सभी पात्र द्वयार्थक भाव व्यंजित करते हैं। एक ओर तो वे मूल कथा के निर्वाह में सहायक हैं और दूसरी आधुनिक युग की मूल समस्या काम तथा तद्जनित सम्बन्धों का स्वरूप प्रस्तुत करते चलते हैं। अस्तु, उर्वशी का काव्य-सौन्दर्य वस्तुतः उसकी प्रतीकात्मकता में ही है। जिस विषय पर रीवन्द्रनाथ तथा अरविन्द जैसे कवि मनीषियों ने लेखनी उठायी उसी को आधार-स्वरूप ग्रहण कर एक अभिनव काव्य सृष्टि करना निश्चय ही महान् साहस का कार्य है। दिनकर की सफलता का रहस्य यहाँ यही प्रतीकात्मकता है।

निष्कर्ष—

दिनकर ने अपने सम्पूर्ण काव्य में जहाँ युग की अन्याय चेतनाओं को आधार स्वरूप ग्रहण किया है वहीं आधुनिक मनोवैज्ञानिक चेतना क प्रति भी उपेक्षा भाव नहीं दिखलाया है। काव्य और मनोविज्ञान का सम्बन्ध शाश्वत है। काव्य की रसनिष्पत्तता मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि पर आश्रित होती है। अतः मनोविज्ञान काव्य का एक अविभाज्य अंग है। दूसरी बात यह है कि दर्शन काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य होता है। दर्शन का मूलाधार भी मनोविज्ञान है। तात्पर्य यह कि जिस काव्य में मनोविज्ञान का जिस सफल अंश तक समावेश हो पाता है, वह काव्य उतना ही रस पूर्ण होकर साधारणीकरण की स्थिति तक पहुँच पाता है। दिनकर ने अपने समस्त काव्य-साहित्य में आधुनिक मनोविज्ञान का समावेश किया है। शृंगार रस की कविताओं में तो कवि ने आधुनिक युग की सबसे बड़ी मनोवैज्ञानिक समस्या 'काम' को ही उठाया है। उसी के सम्यक स्वरूप का निरूपण किया है। 'उर्वशी' की भावधारा में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका काम की ही हैं। उसे 'कामाध्यात्मिकता' का महाकाव्य कहना चाहिये। उसकी प्रतीकात्मकता में भी मनोवैज्ञानिक तत्त्वों की ही प्रधानता है। अस्तु, आधुनिक मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि में काव्य रचना कर कवि ने यहाँ भी युग-कवि होने का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है। आज के सम्पूर्ण साहित्य का मुख्याधार मनोविज्ञान ही बना हुआ है।

दिनकर के काव्य पर और विशेष रूपेण 'उर्वशी' की रचना पर फ्रायड के मनोविज्ञान का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। फ्रायड के 'अहं' नैतिकाहें' और स्वप्न-विश्लेषण के सिद्धान्तों तक की छाया उनके समग्र कृतित्व पर देखी जा सकती है। आधुनिक युग के सर्वाधिक प्रतिभाशाली मनोवैज्ञानिक फ्रायड के सिद्धान्तों से प्रभाव ग्रहण करने के कारण भी हम दिनकर को आधुनिक संचेतना का सफल रचनाकार कह सकते हैं।

संदर्भ

१. डॉ० गुलाबराय सिद्धान्त और अध्ययन, पृ. १७४
२. डॉ० श्याम सुन्दरदास-साहित्यालोचन, पृ. २४८
३. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ. ६९–७०
४. आधुनिक नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ. ६२
५. आधुनिक नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ. ६५
६ आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान पृ. ६५
७. वही, पृ. ६४
८. अज्ञेय-प्रथम तार सप्तक की भूमिका—
९. श्रीमती एस० से० पदमावती—महाकवि दिनकर व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ. १७४
१०. मृति तिलक, पृ. ५६
११. श्रीमती एस० के० पदमावाती महाकवि दिनकर व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ. १८१
१२. "भू को जो आनन्द सुलभ है नहीं प्राप्त अम्बर को,
हम भी कितने विवश गन्ध पी कर रह जाते हैं।
स्वाद व्यंजनों का न कभी रसना से ले पाते हैं,
हो जाते है तृप्त पान कर स्वर माधुरी श्रवण ।
रूप भोगते मन से या तृष्णा भरे नयन से,
पर जब कोई ज्वार रूप जो देख उमड़ आता है।
किसी अनिर्वचनीय क्षुधा में जीवन पड़ जाता है—उर्वशी, पृ. १०
क्या है यह अमरत्व? समीरो सा सौरभ पीना है,
मन में झूम समेट शान्ति से युग–युग तक जीना है।
अरे सोचो तो मर्त्य मनुज कितना मधुरस पीता है,
दो दिन ही हो पर कैसे धधक–धधक कर जीता है।
इन ज्वलंत वेगों के आगे मलिन शान्ति सारी है,
क्षण भर की उन्माद तरंग पर चिरता बलिहारी। उर्वशी, पृ. ११
१३. उर्वशी, पृ. २०
१४. वही, भूमिका–पृ. ङ.
१५. "सींचता हूँ प्राण को इस गंध की भीनी लहर से,
और, अंगों की विभा की वीथियों से एक होकर—
मैं तुम्हारे अंग का संगीत सुनाता हूँ।" उर्वशी, पृ. ५२

× × × ×

जब से हम तुम मिले न जाने क्या हो गया समय को,
लय होता जा रहा मरुद गति से अतीत गहवर में। वही, पृ. ४३

१६. "जब से हम तुम मिले रूप के अगम फुल्ल कानन में,
अनिमिष मेरी दृष्टि किसी विस्मय में डूब गयी है।
अर्थ नहीं सूझता मुझे अपनी ही विकल गिरा का,
शब्दों से बनती है जो मूर्तियाँ तुम्हारे दृग से,
उठने वाले क्षीर-ज्वार में गलकरे खो जाती है।" वही, पृ. ४३

१७. "एक दूसरे के उर में हम ऐसे बस जाते हैं।
दो प्रसून एक ही वृत्त पर जैसे खिले हुये हों,
फिर रह जाता भेद कहाँ पर शिशिर, घाम, पावस का।
एक संग हम युवा संग ही संग वृद्ध होते हैं।
मिलकर देते खेप अनुद्धत मन विभिन्न ऋतुओं को,
एक नाव पर चढ़े हुये हम उदधि पार करते हैं।"
उर्वशी, पृ. १०८-११०, १६० आदि।

१८. वही, पृ. १०७
१९. उर्वशी—भूमिका पृ. छ.
२०. वही
२१. "दाह मात्र ही नहीं प्रेम होता है अमृत शिखा भी,
नारी जब देखती पुरुष को इच्छा भरे नयन से।
नहीं जागती है केवल उद्वेलन अनल रुधिर में,
मन में किसी कान्त कवि को जन्म दिया करती है।" वही, पृ. ६२
२२. उर्वशी, पृ. उर्वशी, पृ. ६२
२३. उर्वशी भूमिका, पृ. छ.
२४. वही, ख
२५. युग चारण दिनकर, पृ. २०७
२६. उर्वशी पृ. ८६
२७. "सब कुछ है उपलब्ध एक सुख वही नहीं मिलता है,
जिससे नारी के अन्तर का मान-पदम खिलता है।
वह सुख जो उन्मुक्त बरस पड़ता है उस अवलोकन से,
देख रहा हो नारी को जब नर मधुमत नयन से।
वह अवलोकन। धूप वपस की जिससे छन जाती है,
प्रौढ़ा पाकर जिसे कुमारी युवती बन जाती है। वही पृ.

अति पवित्र निर्झरी क्षीरमय दृग की वह सुकुमारी,
जिसमें कर अवगाहन नयी फिर हो उठती है नारी।" वही, पृ. ३७

२८. उर्वशी, पृ. ३४

२९. वही, पृ. ३३

३०. 'अरी कौन है कृत्य जिसे मैं अब तक कर न सकी हूँ ?
कौन है पुण्य जिसे प्रणय-वेदी पर धर न सकी हूँ ?
प्रभु को दिया नहीं ऐसा तो पास न कोई धन है,
न्योछावर आराध्य चरण पर सखि, तन मन जीवन।" वहीं, पृ. ३७

३१. "पति के सिवा योषिता का कोई आधार नहीं है,
जब तक यह दशा नारियाँ व्यथा कहाँ खोयेंगी,
आँसू छिपा हँसेगी फिर हँसते-हँसते रोयेंगी।" वही, पृ. ३९

३२. उर्वशी, पृ. १४५

३३. वही, पृ. ३४

३४. उर्वशी, पृ. ४५

३५. डॉ० केदार शर्मा—उपन्यासकार अज्ञेय, पृ. १०६

३६. उर्वशी, पृ. १३६

३७. वही, पृ. १४४

३८. "प्राण विकल हो उठे दौड़ कर उसे भेंट लेने को,
पर तत्क्षण सब बिला गया जाने किस शून्य तिमिर में।
न तो वहाँ अब ऋषि-कुमार था न तो कुटीर क्यवन का,
देखा जिधर उधर डालों, टहनियों, पुष्प वृक्षों पर।
देवि। आपका यही कुसुम आनन-जगमगा रहा था,
किन्तु हाय ! दुर्भाग्य जिधर भी बढ़ा स्पर्श करने को।
डूब गया वह छली पुष्प पत्तों की हरियाली में॥" वही, पृ. १३७

३९. अमिट प्रवज्या योग केन्द्र ग्रह में जो पड़ा हुआ हुआ है,
वह आज ही सफल होगा इसलिये कि प्राण दशा में।
शनि ने किया प्रवेश सूक्ष्म में मंगल पड़े हुये है,
अन्य योग जो हैं उनके अनुसार आज संध्या तक।
आप प्रवजित हो जायेंगे, अपने वीर तनय को,
राज-पाट धन-धाम सौंप अपना किरीट पहना कर।" उर्वशी, पृ. १५९

४०. 'उर्वसी' में पृ. १३६ से १५९ तक पुरुरवा द्वारा देखे गये लम्बे स्वप्न का उल्लेख हुआ है।

४१. डॉ० यदुनाथ सिंहा—हि० सी० मनोविज्ञान, पृ. ३५७

४२. "पुरुरवा द्वन्द्व में है क्योंकि द्वन्द्व में रहना मनुष्य का स्वभाव है।"
उर्वशी–भूमिका, पृ. ख

× × × ×

"पुरुरवा के भीतर देवत्व की तृषा है इसलिये मर्त्य लोक,
के नाना सुखों में भी वह व्याकुल और विषण्ण है पुरुरवा।
की वेदना समग्र मानव जाति की वेदना से ध्वनित है।" वही, पृ. ङ

४३. युग चारण · दिनकर, पृ. १९३

४४. उर्वशी—भूमिका, पृ. ङ

४५. उर्वशी, पृ. ४६

४६. "रूप की आराधना का मार्ग,
आलिंगन नहीं तो और क्या है?
स्नेह का सौन्दर्य को उपहार,
रस चुम्बन नहीं तो ओर क्या है? वही, पृ. ४९

४७. "इसीलिये तड़पता बैठा रहा महल में,
लेकर यह विश्वास प्रीति मेरी यदि मृषा नहीं है।
मेरे मन का दाह व्योम के नीचे नहीं रुकेगा।

× × × ×

किसी रात निश्चय भूतल पर स्वयं चली आओगी। उर्वशी, पृ. ४५

४८. "बहुत मग्न अतिशय प्रसन्न हूँ मैं तो इस मधुवन में।" वही, पृ. ३९

४९. "कामनाओं' के झकोरे खींचते है राह मेरी,
खींच लेती है तृषा पीछे पकड़ कर बाँह मेरी।" वही, पृ. ५३

५०. "अभी तक भी न समझा,
दृष्टि का जो पेय है वह रक्त का भोजन नहीं है,
रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है।" वही, पृ. ४९

५१. "चाहिये देवत्व पर इस आग को धर दूँ कहाँ पर,
कामनाओं को विसर्जित व्योम में कर दूँ कहाँ पर?
वहिन का बेचैन यह रस कोश बोलो कौन लेगा?
आग के बदले मुझे सन्तोष बोलो कौन देगा,
बुद्धि करती बहुत बखान सागर तट की सिकता का।
पर तरंग चुम्बित सैकत में कितनी कोमलता है,
इसे जानती केवल सिहरित त्वचा नग्न चरणों की।" वही, पृ. ५२

५२. "हाय सती! मैं ही कदर्य, दोषी अनुदार कृपण हूँ,
केवल शुभ कामना, मंगलैष से क्या होता है?

मैं ही दे पायी न भावमय वह आहार पुरुष को,
जिसकी उन्हें अपार क्षुधा, उतनी आवश्यकता थी।

× × × ×

रही समेटे अलंकार क्यों लज्जामयी वधू सी,
बिखर पड़ी क्यों नहीं कुटिलमित, चकित ललित लीला में?
बरस गयी क्यों नहीं घेर सारा अस्तित्व दमित का,
मैं प्रसन्न, उद्दाम, तरंगित, मदिर मेघ माला सी?

उर्वशी, पृ. १५९–६०

५३. वही पृ. ९५

५४. "किल्विष के मल का लेश नहीं यह शिखा शुभ्र पावक केवल,
जो किये जा रहा मुझे दग्ध कर क्षण क्षण और अधिक उज्ज्वल।
जितना ही यह खर अनल ज्वार शोणित में उमह उबलता है,
उतना ही यौवन अगरू-दीप कुछ और धधक कर जलता है।
मैं इसी अगरू ताप तप्त मधुमयी गन्ध पीने आई,
निर्जीव स्वर्ग को छोड़ भूमि को ज्वाला में जीने आई।"

उर्वशी, पृ. ५६

५५. उर्वशी की भूमिका, पृ. ङ

५६. वही, पृ. ७७

५७. डॉ० सावित्री सिनहा—युग चारण दिनकर पृ. ११०

५८. कुरुक्षेत्र की भूमिका पृ. २

५९. युग चारण पृ. १९२

६०. "और सिखाओ भोगवाद की यही रीति जन-जन को,
करें विलीन देह को मन में नहीं देह में मन को।" कुरुक्षेत्र, पृ. १४१

६१. "कार्ति केय सम शूर, देवताओं के गुरु सम ज्ञानी,
रवि सम तेजवन्त, सुरपति के सदृश्य प्रतापी मानी।
धनद–सदृश संग्रही, व्योमवत मुक्त जलद-निभ त्यागी,
कुसुम-सदृश मधुमय मनोज्ञ कुसुमा युध से अनुरागी।" वही, पृ. ३६

× × × ×

"यह ज्योतिर्मय रूप प्रकृति ने किसी कनक पर्वत से,
काट पुरुष–प्रतिमा विराट निज मन के आकारों की।
महा प्राण से भर उसको, फिर भू पर दिया है।" वही, पृ. ७६

६२. उर्वशी, पृ. ५३

६३. "पर ज्वलंत नर पर किसका अंकुश लटक रहा है ?
छक कर देता उसे नहीं पीने जो रस जीवन का,
न तो देवता सदृश्य गन्ध नभ में जीने देता है।" उर्वशी, पृ. ४८

६४. डॉ० सावित्री सिनहा— 'युग चारण दिनकर', पृ. २०४

६५. डॉ० विमलकुमार जैन—कहाकवि दिनकर— उर्वशी तथा अन्य कृतियाँ, पृ. २१२, २१३

६६. उर्वशी, पृ. ८१

६७. वही, पृ. ८३

६८. उर्वशी, पृ. ६५

६९. वही, पृ. ६२

७०. वही, पृ. ६१

७१. उर्वशी, पृ. १५१

७२. वही, पृ १५२

७३. "बाधक नहीं तपोव्रत जिनके त्याग, उदय प्रणय का,
न तो प्रेम ही विघ्न डालता जिनके तपश्चरण में,
प्रणय पाश में बंधे हुये भी जो निमग्न मानस में,
उसी महा सुख की चोटी पर चढ़े हुये रहते हैं।
जहाँ योग योगी को कवि को कविता ले जाती है,
और निरंजन की समाधि से उन्मीलित होने पर।
जिनके दृग डूबते नहीं अंजन वाली आँखों को।" उर्वशी, पृ १४६

७४. उर्वशी की भूमिका, पृ. छ

७५. महाकवि दिनकर उर्वशी तथा अन्य कृतियाँ, पृ. २१५

७६. नये सुभाषित, पृ. ३५

७७. इतिहास के आँसू, पृ. ३५

७८. इतिहास के आँसू, पृ. ३६, ४२, ४५, ४७, ५०

७९. नये सुभाषित—स्मृति, पृ. ४४

८०. सीपी और शंख, पृ. २९

८१. नये सुभाषित, पृ. १४

८२. रेणुका, पृ. १

८३. चक्रवाल, पृ. ३३३

८४. सीपी और शंख, पृ. ३३

८५. नये सुभाषित, पृ. २५

८६. सीपी और शंख, पृ. ५५

८७ इतिहास के आँसू, पृ. ५६

८८. उर्वशी भूमिका, ३. ग

८९. वही, पृ. ङ

९०. "किसने कहा तुम्हें जो नारी–नर को जान चुकी है,
उसके लिये अलभ्य ज्ञान हो गया परम सत्ता का।
और पुरुष जो आलिंगन में बाँध चुका रमणी को,
देश काल को भेद गगन में उठने योग्य नहीं है।" उर्वशी, पृ. ७७

९१. देवता वह नही है जो सब कुछ को पीठ देकर सबसे भाग रहा हो। देवता वह है जो सारी आसक्तियो के बीच अनासक्त है धारी स्पृहाओं को भोगते हुये भी निस्पृह और निर्लिप्त है।" उर्वशी की भूमिका, पृ. छ

९२. उर्वशी की भूमिका, पृ. छ

९३. वही, पृ. छ

९४. समीक्षा बिन्दु से उद्धरित, पृ. ३६

९५. उर्वशी की भूमिका, पृ. ख

९६. "पुरुरवा के भीतर देवत्व की तृषा है। इसीलिये मर्त्य लोक के नाना सुखों में वह व्याकुल और विषण्ण है।" वही, पृ. ङ

९७. "पुरुरवा की वेदना समग्र मानव जाति का चिरन्तन वेदना से ध्वनित है।" वही, पृ. ङ

९८. "वेदना की भूमि चूकि पुरुरवा के संन्यास पर समाप्त नहीं हुयी।" वही, पृ. छ

९९. नहीं इतर इच्छाओं तक ही मनः शक्तिसुसीमित है,
उसका किंचित स्पर्श प्रणय को भी पवित्र करता है। उर्वशी, पृ. ४६

१००. समीक्षा विन्दु, पृ. ४२

१०१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान ७ जून, १९६०, पृ. १५
"पुरुरवा मैं स्वयं हूँ भाई।" दिनकर जी से एक अन्तरंग वार्ता—

१०२. उर्वशी की भूमिका, पृ. घ

१०३. नर–नारी के बीच में सन्तुलन कैसे लाया जाय तब उसके मुँह से यह बात निकल पड़ती है कि यह सृष्टि वास्तव में पुरुष की रचना है। इसीलिये रचयिता ने पुरुषों के साथ पक्षपात किया है, उन्हें स्वत्व हरण की प्रवृत्तियों से पूर्ण कर दिया। उर्वशी, पृ. छ

१०४. पुरुषों की रचना यदि नारियाँ करने लगें तो पुरुष की कठोरता जाती रहेगी और वह अधिक भाव प्रवण एवं मृदुलता से युक्त हो जायगा। वही, पृ. घ

× × × ×

किन्तु कभी यदि हमें मिला निवाध सुयोग सृजन का,
हम होकर निष्पक्ष सुकोमल ऐसा पुरुष रचेगी।

कोलाहल कर्कश निनाद में भी जो श्रवण करेगा,
कातर मौन पुकार दूर पर खड़ी हुयी करुणा की।
और बिना ही कहे समझ लेगा आँखों-आँखों में,
मूक व्यथा की कसक आँसुओं की निस्तब्ध गिरा का। वही, पृ. १६

१०५. जन कवि दिनकर पृ. १२६
१०६. उर्वशी, भूमिका, पृ. छ
१०७. वही, पृ. ज
१०८. उर्वशी भूमिका, पृ. ज
१०९. वही, पृ. ख
११०. वही
१११. उर्वशी की भूमिका, पृ (ख)
११२. साप्ताहिक हिन्दुस्तान ७ जून, १९७० पृ. १५
"दिनकर जी से अन्तरंग वार्ता—देवव्रत जोशी।
११३. उर्वशी, पृ. २१
११४. वही, पृ. ४५
११५. "केवल भ्रूण वहन केवल प्रजनन मातृत्व नहीं है,
माता वही, पालती है जो शिशु को हृदय लगा कर। वही, पृ १२४
११६. पुत्र और पति नहीं पुत्र या केवल पति पाओगी,
सखी सत्य ही ये विकल्प दारुण दुरंतदु स्पृह है। वही, पृ. १३०
११७. 'शाप फल गया उर्वशी चली गयी सुर पुर को'—उर्वशी पृ. १४४
११८. रसवन्ती, पृ. ५१
११९. उर्वशी, पृ. १९
१२०. रसवन्ती, पृ. ४६
१२१. उर्वशी, पृ. १३
१२२. रसवन्ती, पृ. ४७
१२३. उर्वशी, पृ. १५
१२४. एक दूसरे के उर में हम ऐसे बस जाते,
दो प्रसून एक ही वृन्त पर जैसे खिले हुये हों।

× × × ×

उससे कही महत सुख है जो हमें प्राप्त होता है,
निश्छल, शान्त, विनम्र, प्रेम भर उर के उत्सर्जन में। उर्वशी, पृ. ११०

६

दिनकर के काव्य में युगीन सांस्कृतिक चेतना

काव्य और संस्कृति का सम्बन्ध :

संस्कृति और काव्य का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। संस्कृति की विशाल पीठिका पर ही काव्य का जन्म होता है। सम्पूर्ण साहित्य संस्कृति का एक अंग मात्र है। संस्कृति साहित्य से बहुत अधिक प्राचीन है। संस्कृति का जन्म मनुष्य की उत्पत्ति के साथ ही हो गया था। परन्तु साहित्य और काव्य का प्रादुर्भाव बहुत बाद में हुआ। या यों कहिये कि संस्कृति के विकास या सभ्यता के प्रसार के फलस्वरूप साहित्य और कविता उपजे हैं। कविता अपना जीव नतत्व सांस्कृतिक उपकरणों से प्राप्त करती है। संस्कृति मानव-समाज की सम्यक व्याख्या है और कविता मानव-जीवन की मूलतः आलोचना। फलतः प्रत्येक युग की कविता में तत्कालीन सांस्कृतिक मान्यताओं की प्रत्यक्ष आभा होती है। सामाजिक मनुष्य होने के नाते कवि अपने युग की संस्कृति से अलग नहीं हो सकता।

संस्कृति के अन्तर्गत मानव-समाज, धर्म, राजनीति, अर्थ तथा भूत, भविष्य और वर्तमान के साथ चलने वाले कतिपय आदर्श होते हैं। जिनका सामूहिक नाम संस्कृति है। रीति रिवाज, सामाजिक संस्थायें आदि सभी इसके ही अन्तर्गत हैं। डा० द्वारिका प्रसाद ने अपने शोध-प्रबन्ध में संस्कृति के इसी व्यापक रूप पर प्रकाश डालते हुये लिखा है—"संस्कृति का सम्बन्ध मानव के भौतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, दार्शनिक, साहित्यिक, कलात्मक आदि सभी प्रकार के महत्वपूर्ण विकासों एवं जीवन के विविध पहलुओं से है। मानव के इन विकासों में परम्परागत संस्कारों का बड़ा हाथ रहता है। इसीलिये सस्कृति और संस्कारों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त इन विकासों द्वारा ही किसी देश की समस्त चेष्टाओं का बाह्य रूप कहा जाता है और संस्कृति उनका आन्तरिक रूप है। अतः किसी देश की संस्कृति से उस देश के रहन-सहन, आचार-विचार, रीति-रिवाज, ज्ञान-विज्ञान परम्परागत अनुभव, जीवन-यापन के ढंग, कला, प्रेम, रुचि आदि का बोध होता है।"[1] कहने का अभिप्राय यह है कि संस्कृति मानव जीवन का एक विशाल चित्रपट है और कविता उसी की आलोचना, उसी की व्याख्या। यही कारण है कि प्रत्येक देश के काव्य-साहित्य में उस देश की संस्कृति, सम्पदा रूप में सुरक्षित रहती हैं। दोनों का सम्बन्ध एक दूसरे से अविछिन्न है।

संस्कृति और काव्य दोनो का प्रतिपाद्य मानव-जीवन ही है। किन्तु दोनों के कार्य-क्षेत्र अलग-अलग हैं। संस्कृति जीवन को, जाति को, समाज को, युग को,

सम्यक रूप से देखती है, उसकी सर्वांगीण व्याख्या करती है। दूसरी ओर कविता मंगलकारिणी होती हुयी भी जीवनगत किसी विशिष्ठ पहलू को ही अभिव्यक्ति देती है। परन्तु उसका आधार संस्कृति ही है। इस दृष्टि से काव्य संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग हो जाता है। संस्कृति को विकसित करने में काव्य का महत्वपूर्ण योगदान होता है। निष्कर्ष यह है कि काव्य का संस्कृति से अत्यन्त निकट तथा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

भारतीय संस्कृति परिसीमा और स्वरूप :

संस्कृति स्वयं में बड़ी व्यापक है। इसीलिये भारतीय अभारतीय आदि विशेषणों से युक्त कर उसे जाति और देश की सीमा में बांधा जाता है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस ओर सकेत करते हुये कहा है—"मैं संस्कृति को किसी जाति विशेष या देश विदेश की मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक ही सामान्य मानव संकृति हो सकती है।[२] यद्यपि आचार्य जी का मत बड़ा व्यापक है पर मनुष्य में विशालता का इतना बड़ा गुण एकाएक नहीं उपजता। वह व्यक्ति से चल कर समष्टि तक पहुँचता है। पहले संस्कृति किसी जाति या देश की बनती है तब उसका प्रसार देश देशान्तरों और अन्यान्य जातियों में होता है। डा० पी० के० आचार्य के शब्दों में जिस प्रकार संसार राष्ट्रों और जातियों में विभक्त है उसी प्रकार वह विशिष्ट चरित्र और चेतना आदि से सम्पन्न संस्कृति के प्रकारों में भी विभाजित है।[३] यही कारण है कि प्रत्येक देश की संस्कृति अपने दृष्टिकोण, आचार-व्यवहार और रीति-रिवाज में एक दूसरे से पृथक होती है। अतः उसका अध्ययन भी इन्हीं विशेषणों के अन्तर्गत किया जाता है। प० जवाहर लाल नेहरू का भी विचार है—"संस्कृति के कुछ राष्ट्रीय पहलू भी होते हैं। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेक राष्ट्रों ने अपना कुछ विशिष्ठ व्यक्तित्व तथा अपने भीतर कुछ खास ढंग के भौतिक गुण विकसित कर लिये हैं।[४]

भारत एक विशाल देश है। इसकी संस्कृति का निर्माण एक दीर्घ परम्परा के फलस्वरूप हुआ है। समय-समय पर अनेक जातियाँ इस देश में आयीं। उन्होंने अपनी संस्कृतियों का यहां विकास किया। फलतः उन विदेशी संस्कृतियों का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा। इसलिये कुछ लोग इसे इन्हीं नामों से पुकारते हैं। परन्तु अकेले इन्हीं दोनों के द्वारा भारतीय संस्कृति का निर्माण असम्भव था। भारतीय संस्कृति में समन्वय और पाचन की अद्भुत शक्ति है। इसी, गुण को ज्ञापित करते हुये प्रसिद्ध इतिहासकार मि० डाडविल ने लिखा है—"भारतीय संस्कृति महा समुद्र के समान है जिसमे अनेक नदियां आ आकर विलीन होती रहती हैं।"[५] इसी भांति पं० जवाहर लाल नेहरू ने भी लिखा है—"इरानी और यूनानी लोग, पार्थियन और

वैक्ट्रीरियन लोग सीथीयन और हूण लोग मुसलमानों से पहले आने वाले तुर्क और ईसा की आरम्भिक सदियों में आने वाले ईसाई, यहूदी और पारसी थे। सबके सब एक के बाद एक भारत में आये और उनके आने से समाज ने एक हल्के कंपन का भी अनुभव किया मगर अन्त में आकर वे सब के सब भारतीय संस्कृति के महासमुद्र में विलीन हो गये। उनका कहीं कोई अलग अस्तित्व नहीं बचा।"[६] श्री रामधारी दिनकर ने भी कहा है—"आर्य तथा आर्येतर संस्कृतियों के मिलन से जो सस्कृति हुयी वही भारत की बुनियादी संस्कृति बनी।"[७] इस कथन में भी भारतीय संस्कृति की व्यापकता और उसकी समन्वय शक्ति की ओर संकेत किया गया है।

भारतीय संस्कृति और दिनकर :

दिनकर जी भारतीय संस्कृति के समर्थ आख्याताओं में एक है। राष्ट्रीय कवि और 'उर्वशी' के नायक होने के साथ वे एक सफल सांस्कृतिक इतिहास-रचयिता भी हैं। "संस्कृति के चार अध्याय" की गरिमा को लेखक के व्यक्तित्व के साथ जोड़ते हुये डा० सत्यकाम वर्मा ने लिखा हैं—"दिनकर ने अपने जीवन की ऐतिहासिक सम्पति को संस्कृति के चार अध्याय में सीमित किया है ..... दिनकर की यह महान रचना उसके सारे जीवन दर्शन का निचोड़ है। उसने जीवन भर जो भी विचार किये और जो कुछ भी चारों ओर देखा उन सबकी प्रतिक्रिया और प्रभाव उसके मन में जमा होते गये। उन सबका निचोड़ इस महान ग्रन्थ में एकत्र होकर आया है। दिनकर यहां एक विचारक के ही रूप में सामने नहीं आये बल्कि एक युगनेता की भांति उन्होंने बहुत तेज छेनी लेकर काट छांट की है।"[८] डा० वर्मा के अतिरिक्त आचार्य शिवपूजन सहाय, कविवर पंत, पं० इलाचन्द जोशी, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त आदि ने 'संस्कृति के चार अध्याय' की गरिमा को न केवल सराहा है अपितु उसे सांस्कृतिक चेतना का एक अमूल्य ग्रन्थ माना है।[९] इसी प्रसंग में यह कहना अनुचित न होगा कि दिनकर-काव्य की सांस्कृतिक मान्यता को समझाने के लिये इस ग्रंथ का अध्ययन परम आवश्यक है। साथ ही इस गद्य-ग्रन्थ को इतिहास-ग्रन्थ से अधिक साहित्यिक ग्रन्थ माना गया है। स्वयं दिनकर जी ने भी इस सत्य को स्वीकार करते हुये लिखा है 'यह महल साहित्य और दर्शन का है। इतिहास की हैसियत यहां किरायेदार की है।"[१०] अतः कवि की सांस्कृतिक चेतना समझने के हेतु इस ग्रन्थ का अनुशीलन परम आवश्यक है। इस ग्रन्थ में दिनकर ने जो प्राचीन-अर्वाचीन भारतीय सस्कृति के स्वरूप का निरूपण किया है, उनके काव्य-साहित्य की सांस्कृतिक चेतना के मूल में यही पृष्ठभूमि है। अस्तु, इसी पृष्ठभूमि में दिनकर के काव्य की सांस्कृतिक चेतना का अध्ययन अपेक्षित है।

दिनकर के काव्य में सांस्कृतिक चेतना—

(भारतीय समन्वयवादी संस्कृति ही विश्व की एक ऐसी संस्कृति का उदाहरण है जिसने समस्त संसार की संस्कृतियों के प्रभाव को आत्मसात कर तो लिया है किन्तु मूल रूप में अपनी गरिमा को तिरोहित नहीं होने दिया है। अनेक सांस्कृतिक संक्रान्ति युगों से निकल कर अपनी सांस्कृतिक गरिमा को अक्षुण्ण रखकर भारतीय संस्कृति ने एक अभूतपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसके वेद सम्मत रूप ने अवैदिक तत्त्वों को भी न केवल उदारता से ग्रहण कर लिया है अपितु उन्हें पचाकर, उन्हें अपना स्वरूप देकर उनमें भारतीयता की प्राण-प्रतिष्ठा कर दी है।)

मानव ने जहाँ एक ओर अपने से श्रेष्ठ कर्म करने वाले देवता की कल्पना की है वहीं निम्न कर्म करने वाले दानव की भी। वैदिक युग से लेकर आज तक भारतीय संस्कृति में देव, मानव और दानव के कर्मों की बृहत विवेचना हुयी है। फलतः भारतीय संस्कृति के पूर्ण अध्ययन के लिये देव, मानव और दानव इन तीनों ही प्रकार के सांस्कृतिक स्वरूपों की चर्चा आवश्यक है।

मिट्टी के अमर गायक, मानव संस्कृति के व्याख्याता दिनकर के काव्य में मूल रूप से मानव-संस्कृति का ही विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है। आधुनिक युग के महान् चिन्तक अरविन्द से प्रभावित होकर उन्होंने स्वर्ग से भी अधिक महत्व मिट्टी को दिया है, आदि से अन्त तक स्वर्ग को धरा पर उतारने की उन्होंने कोशिश की है। फलतः स्वर्ग के निवासी देवताओं के अलौकिक और दिव्य जीवन से इन्हें उतना, प्रभावित नहीं किया है जितना संघर्षशील कर्ममय मानव-जीवन ने। इसके विपरीत दानव-संस्कृति की ओर भी कवि ने विशेष ध्यान नहीं दिया है। क्योंकि, दिनकर के काव्य-युग की चेतना मानव की दानवी लीला समाप्त करने के लिये कटिबद्ध थी। मानवों के अत्याचार, शोषण, दमन, उत्पीड़न आदि दानवीय दुर्गुणों को हटाने के लिये जहाँ एक ओर राष्ट्र कटिबद्ध था वहीं दूसरी ओर हिटलरशाही, जारशाही मुसोलिनीशाही आदि को ध्वस्त करने के लिये विश्व कृत संकल्प था। सक्षेप में समस्त विश्व-मानव-विकास की चेतना से गुंजायमान हो रहा था। यही कारण है कि कवि ने देव और दानव-संस्कृति की चर्चा मात्र प्रसगवश जहाँ-तहाँ की है। केवल मानव-संस्कृति का बृहत आख्यान इनके काव्य में उपलब्ध होता है जिसका सम्यक विवेचन आगे किया जायगा।

देव-संस्कृति की विशेषतायें—

देव-संस्कृति की कतिपय प्रमुख विशेषतायें हैं जिसमें निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख आवश्यक है। देव-संस्कृति की इन विशेषताओं का उल्लेख भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में अधिकांश रूप से हुआ है—

(१) अलौकिक शक्ति-सम्पन्नता।

(२) अनन्त ऐश्वर्य की प्राप्ति।
(३) संगीत एवं अलंकार प्रियता।
(४) सुरापान में अभिरुचि।
(५) विलास प्रियता।
(६) आत्मवादी भावना का प्रसार आदि।

दिनकर के काव्य में देव-संस्कृति—

मानव-संस्कृति के आख्याता कवि दिनकर के काव्य में देव संस्कृति का स्वरूप बहुत ही सुन्दर ढंग से सजाया-संवारा नहीं जा सका है। मानव संस्कृति का अत्युच्च सोपान अगर देव-संस्कृति मान लिया जाय तो उसकी परिकल्पना दिनकर ने अपने काव्य में अवश्य की है किन्तु देव-संस्कृति का जो प्राचीनतम स्वरूप भारतीय वाङ्मय में उपलब्ध होता है उसके दर्शन केवल 'उर्वशी' में ही होते हैं।

'उर्वशी' में सूत्रधार ने ज्यों ही देवांगनाओं को स्वर्ग से पृथ्वी पर उतरते देखा तो वे गीत गाती हुयी ही चित्रित हुयी हैं।[११] आगे नटी का परिचय देते हुये भी सूत्रधार ने उन्हें देवताओं की प्रेयसी और मनोरंजन करने वाली अप्सरा बताया है।[१२] अप्सरा रम्भा ने सुर लोक की महिमा का वर्णन करते हुये कहा है—

"मर्त्यलोक मरने वाला है, पर सुर लोक अमर है।
अमिट, स्निग्ध, निर्धूम शिखा सी देवों की काया "[१३]

'उर्वशी' की भूमिका में ही कवि ने 'उर्वशी' का जो प्रतीक प्रस्तुत किया है वह पूर्ण देवी का है। "उर्वशी द्वन्द्वों से सर्वथा मुक्त है। देवियों में द्वन्द्व नहीं होता वे त्रिकाल अनुद्विग्न निर्मल और निष्पाप होती है।"[१४] रम्भा ने स्वयं जब अप्सराओं का परिचय दिया तो उसमें एक निष्ठता और त्याग का कोई स्थान नहीं दिया।[१५] रम्भा के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि देवताओं का प्रणय एकनिष्ठ नहीं होता। इसीलिये उनके प्रणय में मानवों के प्रणय जैसी उष्णता नहीं होती है। देव-संस्कृति की विलासिता एवं नित नूतन प्रियता तथा उन्मुक्त एवं निर्बन्ध प्रेम-व्यापार को लक्ष्य करती हुयी सुकन्या ने कहा है—

"शिखर शिखर उड़ने में जाने कौन प्रमोद लहर है,
किन्तु एक तरु से लग सारी आयु बिता देने में।
जो प्रफुल्ल घन गहन शान्ति है, वह क्या कभी मिलेगी?
नये-नये फूलों पर नित उड़ती फिरने वाली को।"[१६]

प्रेम को लेकर मानव और देव संस्कृति की तुलना करते हुये रम्भा ने देव-प्रेम को क्रीड़ा कहा है। जो प्रेम मानव-संस्कृति की निधि है, मानवों की आकुल पीड़ा है उसे देव-संस्कृति में केवल स्वाद और क्रीड़ा कहा गया है। इसीलिये देवांगनाओं का धर्म किसी एक पुरुष को मुग्ध करना नहीं, सब को प्रसन्नता देना है—

'प्रेम मानवी की निधि है, अपनी तो वह क्रीड़ा है,
प्रेम हमारा स्वाद मानवी की आकुल पीड़ा है।
जनमी हम किस लिये मोद सब के मन में भरने को ?
किसी एक को नहीं मुग्ध जीवन अर्पित करने को।"[१७]

देव अयोनिज होते हैं। इसीलिये माता बनना देवांगनाओं की गरिमा नहीं, कलंक है। रूप और सौन्दर्य को ढलाकर मातृ पद को पाना मानव-संस्कृति में नारी का चरमोत्कर्ष है किन्तु देव-संस्कृति में इसे हीन दृष्टि से देखा गया है। पृथ्वी-पुत्र पुरुरवा के प्रेम में तड़पती हुयी अप्सरा उर्वशी को देखकर सहजन्या आश्चर्य प्रकट करती है कि सब कुछ खोकर क्या उर्वशी सन्तान जनेगी ? क्या, हम अप्सराओं को अब माता भी बनना होगा—

गर्भ मार उर्वशी मानवी के समान ढोयेगी ?
यह शोभा, यह गठन देह की यह प्रकान्ति खोयेगी,
जो अयोनिज स्वयं, वही योनिज सन्तान जनेगी।"[१८]

× × × ×

"यौवन को कर भस्म बनेगी माता अप्सरियाँ भी।"

उर्वशी ने भी अपने चरित्र से सर्वत्र देवों की भोगवादी दृष्टि का ही परिचय दिया है।

देवों की काया उनके सौन्दर्य और उनके जीवन-यापन पर प्रकाश डालती हुयी उर्वशी ने कहा है —

दीप्तमान, सित शुभ्र श्मश्रुमय देवों के आनन है,
शमित वह्नि ये शीत-प्राण पीते सौन्दर्य नयन से।
प्राण मात्र लेते, न कुसुम का अंग कभी छूते हैं।"[१९]

इस प्रकार हम देखते है कि दिनकर की 'उर्वशी' में देव-संस्कृति की यत्र-तत्र झाँकी उपलब्ध हो जाती है। किन्तु, दिनकर की कविता में देव-संस्कृति की सर्वांगीण व्याख्या असम्भव है। कवि का यह लक्ष्य था भी नहीं। मानव-संस्कृति की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिये ही उन्होने देव-संस्कृति का यत्र-तत्र उल्लेख किया है। फिर भी देव-संस्कृति को विलास प्रियता देव-संस्कृति में नारी का स्थान, प्रेम का महत्त्व देवताओं का स्वरूप आदि को चित्रित किया है।

(ख) दानव-संस्कृति—

भारतीय पुराणों में वर्णित दानव-संस्कृति के इतिहास के आधार पर दानव-संस्कृति की कुछ विशेषताओं का उल्लेख मिलता है जो निम्नलिखित हैं।

१. दानव अत्याचारी व आततायी होते थे।

२ उन्हें क्रूर कर्मी भी कहा गया है।[२०] वे दृढ़ प्रतिज्ञ, तप्त, लब्ध, वर, क्रूर और मायावी होते थे।[२१] वे मनुष्यों से अवध्य, देवों के शत्रु और द्विज घाती होते थे।[२२] वे गगनचारी होते थे। सुरा और सुन्दरी उनके प्रिय थे। सुन्दर स्त्रियों का हरण करना उनका धर्म होता था। मनुस्मृति में तो हरण की हुयी स्त्री से विवाह करने को राक्षसी विवाह ही कहा गया है।[२३]

दिनकर-साहित्य में दानव-संस्कृति की उपरोक्त विशेषताओं का उल्लेख प्रायः नहीं-सा मिलता है। युग-चेतना को मूर्तमान करने वाले कवि दिनकर-साहित्य में प्राचीन संस्कृतियों का वृहत उल्लेख आवश्यक भी नही था। उर्वशी में केवल एक गगनचारी दैत्य का उल्लेख किया गया है जो सुरांगना को लेकर बलात उड़ जाना चाहता है। सहजन्या कहती है—

"नहीं जानती हो एक दिन हम कुबेर के घर से,
लौट रही थी जब इतने में एक दैत्य ऊपर से।
टूटा लुब्धश्येन सा हमको त्रास अपरिमित देकर,
और तुरन्त उड़ गया उर्वशी को बाहों में लेकर।"[२४]

देवों और दानवों में परस्पर संघर्ष होता रहा है। देवताओं का नाश ही दानवो का लक्ष्य रहा है इसका उल्लेख भी 'उर्वशी' में हुआ है। पुरुरवा और महामात्य के संवाद में महामात्य कहता है कि अगर मनुष्य और देवों में युद्ध हुआ तो असुर-सेना मनुष्य-सेना में मिलेगी क्योंकि देवत्व के ध्वंस से बढकर उनका दूसरा कोई भी प्रिय लक्ष्य नहीं है—

"पर यद्यपि यह समर खड़ा होगा मानवों-सुरों में,
किन्तु दनुज क्या इस अपूर्व अवसर से अलग रहेंगे।
मिल जायेंगे अवश्य मनुज सेना से,
सुरता के ध्वंसन से बढ़कर उन्हें और क्या प्रिय है।"[२५]

जिस प्रकार अपनी प्रारम्भिक स्थिति में सुर असुर एक ही थे, केवल विचार और कर्म के विभेद ने उन्हें अलग कर दिया था उसी प्रकार मानव मन की भावना उसे देवी और दानवी बना देती है। कवि मन के विचार की दूषित भावना से उत्पन्न होने वाले काम को भी दानवी कहता है—

तभी काम से बलात्कार के पाप जन्म लेते हैं।
तभी काम दुर्द्धर्ष, दानवी किल्विष बन जाता है।"[२६]

राष्ट्रीय कवि के पद से दिनकर ने मानवता का शंख फूंका है। इसी हेतु उनके काव्य में देव और दानव संस्कृति के लक्षण अत्यल्प है। अधिकांश रूप में कवि ने मनुष्यों की उन दानवी भावनाओं का चित्रण किया है जिनमें व्यक्ति विवेक खोकर, अहंलीन होकर अत्याचार और अन्याय करने लगता है। उसे अपने सुखों का विस्तार इतना प्रिय हो जाता है कि वह दूसरों की नैसर्गिक आवश्यकताओं का भी ध्यान नहीं

रखता। मानवों का यही रूप वस्तुतः दानवी बन जाता है, जिसका वृहत विवेचन मानव-संस्कृति के अन्तर्गत किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि देव एवं दानव संस्कृति का उल्लेख केवल प्रसंगवश हुआ है।

मानव-संस्कृति—

सभी देशों और कालों की संस्कृतियाँ मुख्य रूप से मानव-क्रिया-कलापों का समुच्चय होती है। संस्कृति का निर्माण ही मनुष्य के द्वारा और मनुष्य के लिये होता है। इसके सारे आचार-व्यवहार और सिद्धान्त मानवता की रक्षा और विकास के लिये होते है।

भारत की संस्कृति के विकास की एक लम्बी परम्परा है। उसमें अनेक संस्कृतियाँ आकर समाहित हुयी हैं। भारतीय संस्कृति का निर्माण, ग्रहण और त्याग के अनेकानेक सोपानों से हुआ है। मूल रूप से उसके दो स्वरूप उपलब्ध होते है—वैदिक और अवैदिक। वेद, शास्त्र और निगमागमों के आधार पर बनी संस्कृति वैदिक है और वेद बाह्य विचारों के आधार पर बनी मस्कृति अवैदिक। वैदिक संस्कृति के पुनः दो रूप हैं—निगम और आगम। निगम वेद सम्मत वैदिक संस्कृति है तथा आगम वैदिक परम्परा से ही विकसित तन्त्रों या आगमों से निकलने वाली। अवैदिक संस्कृति में प्रायः सभी विदेशी संस्कृतियाँ आ जाती हैं।[२७]

भारतीय संस्कृति पर प्राचीन काल से ही विदेशी विभिन्न संस्कृतियों के प्रभाव पड़ते रहे। भारतीय संस्कृति सभी को ग्रहण करती गयी, किन्तु उसके मूल में जो भारतीयता थी वह नहीं मिटी। एक से एक सुन्दर और भव्य संस्कृतियों का आगमन हुआ किन्तु इसकी जड़ें नहीं हिलीं।[२८]

भारतीय संस्कृति के मूल रूप में विशेष परिवर्तन नहीं आने का मूल कारण इसकी समन्वयवादी भावना है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है—"भारतीय संस्कृति समन्वय प्रधान है। यहाँ पर अनेक विरोधी साधनायें, संस्कृतियाँ, जातियाँ, आचार निष्ठा और विचार पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं किन्तु समय-समय पर अवतीर्ण महात्माओं एवं महापुरुषों ने सदैव समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। बुद्ध देव समन्वयकारी थे, गीता में भी समन्वय किया गया है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।[२९]

दिनकर के काव्य में प्राचीन और नवीन संस्कृतियों का समन्वय—

दिनकर की सांस्कृतिक चेतना युगीन माँगों की पूर्ति का एक प्रयास है। मानवतावादी धर्म और संस्कृति का विकास आधुनिक युग की सबसे बड़ी देन है। दिनकर ने मानवतावाद के विकास हेतु कठिन प्रयास किया है। उन्होंने यथार्थ की संघर्ष-भूमि पर आदर्श के कोमल सिद्धान्त उतारे हैं। उन्होंने भारत की प्राचीन

संस्कृति को बड़ी श्रद्धा से पूजा है। परन्तु जब वह युग के साथ मेल नहीं खाती तो दिनकर बड़े ही निःसंकोच भाव से उससे विदा लेते हैं। परम्पराओं और रूढ़ियों का अवरोध उनको मान्य नहीं है। प्राचीनता के वे वहीं तक समर्थक हैं जहाँ तक वह वर्तमान के साथ चलकर उपयोगी हो सके। इसी प्रयास में दिनकर ने प्राचीन और नवीन तथा देशी और विदेशी संस्कृतियों का समन्वय चाहा है—

"खींचते हैं जो तुम्हें दायें कि बायें मूर्ख हैं,
ठीक वह बिन्दु दोनों का विलय होता जहाँ है।
ठीक है वह बिन्दु जिससे फटता है पथ भविष्यत का,
ठीक है वह मार्ग जो स्वयमेव बनता जा रहा है।
धर्म और विज्ञान,
नूतन और पुरातन।
प्राच्य और प्रातीच्य के सघर्ष से।"[३०]

परन्तु, इन बदलते हुये मूल्यों के बीच कवि भारत की गरिमा को नहीं भूलना चाहता। वह विदेशी वस्तुओं को अपने में मिलाकर भारतीय बना लेने का पक्षपाती है। आधुनिक शिक्षा और योरोप के प्रभाव से जब भारत का सांस्कृतिक स्तर बदला तो लोगों ने उसकी निन्दा करना प्रारम्भ किया। भारतीयों ने भारतीय संस्कृति को अनुपयोगी कहकर योरप की संस्कृति को अपनाया। इस अनुकरण पर क्षुब्ध होकर दिनकर ने कहा—

"जब चलो आगे,
जरासा देख लो मुड़कर चिरंतन रूप वह अपना।
अखिल परिवर्तनों में जो अपरिवर्तित रहा है,
करो मत अनुकरण ऐसे।
कि अपने आप से ही दूर हो जाओ,
न बदलो यों कि भारत को।
कभी पहचान ही पाये नहीं इतिहास भारत का।"[३१]

तात्पर्य यह कि बदलती हुयी सांस्कृतिक चेतना के समर्थक होकर भी कवि ने भारतीय प्राचीन संस्कृति की गरिमा को भुलाया नहीं है। उन्होंने दोनों का समन्वय चाहा है।

प्रत्येक संस्कृति का निर्माण, धर्म, दर्शन, राजनीति, समाज, अर्थ व्यवस्था, आदि के साथ होता है। कला भी इसमें योगदान, करती है। मानव-जीवन के इन्हीं अवश्यभावी पक्षों को व्यवस्थित और पूर्ण बनाने के लिये जिन आचार-व्यवहारों का निर्माण किया जाता है उन्हीं का नाम संस्कृति है। अतः मानव संस्कृति के अन्तर्गत इन्हीं पहलुओं पर विचार किया जाना चाहिये।[३२]

१. समाज—

व्यक्ति की अलग-अलग इकाइयों का नाम ही समाज है। मनुष्य ने समाज की व्यवस्था स्वयं अपने लिये की है। आधुनिक समाज के दो पक्ष हैं—ग्राम और नगर। दिनकर के काव्य में दोनों ही पक्षों का सम्यक चित्रण हुआ है। दिनकर का जन्म भारत के पूर्वी प्रदेश के एक छोटे से गाँव में हुआ था। उन्होंने अपना शैशव गाँव में ही व्यतीत किया। किशोरावस्था और यौवन के कुछ प्रारम्भिक दिन भी गाँव में ही बीते। फिर जीवन के शेष दिन पटना, मुजफ्फरपुर तथा भागलपुर में बिताते हुये वृद्धावस्था अपनी ही 'वैभव की दीवानी दिल्ली' में बीती। कहने का तात्पर्य यह कि कवि के ग्राम बोध और नगर बोध दोनों ही अनुभूति जन्य है, काल्पनिक नही।

ग्राम बोध—

बहुत दिनों तक गाँवों में रहने के कारण ग्राम्य संस्कृति के आधार कृषकों से उनका निकट का परिचय थे। वे स्वयं भी कृषक-कुमार ही थे। इसी हेतु कृषकों के दैनिक जीवन के कई सजीव चित्र इन्होंने अंकित किये हैं। गोधूलि वेला में सारा ग्राम्य वातावरण कैसा रमणीय हो जाता है इसका सजीव चित्र कवि ने रेणुका में किया है--

"रोमन्थन करती गायें आ रहीं रौंदती घास हरी,
घर-घर से उठ रहा धुंआ जलते चूल्हे बारी-बारी।
चौपालों में कृषक बैठ गाते कहाँ अटके बनवारी,
पनघट से आ रही पीत वसना युवती सुकुमार।
किसी भाँति ढोती गागर यौवन का दुर्वहभार।

× × × +

वन तुलसी की गन्ध लिये हल्की पुरवैया आती है,
मन्दिर की घण्टा ध्वनि युग-युग का सन्देश सुनाती है।
टिम-टिम दीपक के प्रकाश में पढ़ते निज पोथी शिशुगन,
परदेशी की प्रिया बैठ गाती यह विरह गीत उन्मन।"[33]

'चलो कवि वन फूलों की ओर' शीर्षक कविता में तो ग्राम्य जीवन का ही दृश्य है। 'कविता की पुकार' शीर्षक कविता में कवि ने ग्राम्य जीवन में रम जाने की जो कामना की है उसमें उसका ग्राम्य-बोध ही ध्वनित हुआ है। कविता दूब के बिछौने पर बच्चों के साथ खेलना चाहती है, तितली के पीछे दौड़ना चाहती है। मकई की सुरभि और आम की लाली भी बनना चाहती है।[34]

वह तो कविता का सुन्दर पक्ष हुआ जिसमें कविता ग्राम्य जीवन के स्निग्ध एवं निश्च्छल सौन्दर्य में रम जाना चाहती है। ग्राम्य संस्कृति की पृष्ठभूमि में कविता

की कामना का शिवं पक्ष भी कवि ने प्रस्तुत किया है। कविता कामना करती है कि कृषकों की प्यास वह गंगाजल बनकर बुझायेगी कृषकों स्वेद-कण बनकर अनाज के दाने उगायेगी--

"सूखी रोटी खायेगा जब कृषक खेत में धर कर हल,
तब दूँगी मैं तृप्ति उसे बनकर लोटे का गंगाजल।
उसके तन का दिव्य स्वेद कण बनकर गिरती जाऊँगी,
और खेत में उन्हीं कणों से मैं मोती उपजाऊँगी।"[३५]

ग्रामीण कृषक के श्रम साध्य जीवन का यह बड़ा ही यथार्थ चित्र है।

भारतीय ग्राम्य जीवन का जहाँ यह सुन्दर और रमणीक चित्र है वहीं दूसरी ओर ऐसा भी चित्र है जिसमें दुःख, दारिद्रय, करुणा, विवशता के अनेक रंग भरे पड़े हैं। ग्रामीण कृषक अपने पाले हुये पशुओं का दूध भी अपने बच्चों को नहीं पिला पाते। 'ऋण शोधन' के लिये दूध-घी का एक-एक बूँद बेचकर ऋण चुकाते हैं।[३६] ग्रामीण किसान स्वयं अर्द्ध-नग्न तो रहते ही हैं उनके पास इतना कपड़ा भी नहीं होता कि जाड़े में अपने अबोध शिशु को ढ़ककर उष्ण रख सकें। यदा-कदा तो यह दृश्य भी देखने को मिलता है कि युवतियों के 'लज्जा वसन' बेचकर ब्याज चुकाने पड़ते हैं।[३७]

ग्राम्य जीवन के ऐसे दारूण दृश्यों का कवि ने जहाँ वर्णन किया है, वहीं रसवन्ती में कवि ने जो ग्रामीण नारी के सौन्दर्य और अल्हड़पन का चित्र खींचा है उसमें जो सहजता एवं सरलता है वह कवि के ग्राम-बोध को भली-भाँति व्यक्त करते है।[३८] ग्राम्य प्रणय का भी जो दृश्य कवि ने खीचा है उसमें जहाँ एक ओर ग्राम-प्रेमिका की मनोदशा का भाव वर्णित है वहीं दूसरी ओर ग्राम-जीवन का इतिहास—

"दो प्रेमी हैं यहाँ एक जब बड़े सांझ आल्हा गाता है,
पहला स्वर उसकी राधा को घर से यहाँ खींच लाता है-
चोरी-चोरी खड़ी नीम की,
छाया में छिप-छिप कर सुनती है।
हुयी न मैं क्यों बड़ी गीत की,
विधना यों मन में गुनती है।"[३९]

ठीक इसी प्रकार 'ग्राम्य वधू' शीर्षक कविता में ग्रामीणा की सहजता, सरलता और उसके लावण्य तथा उसकी चुहल प्रियता का मनोहारी चित्र कवि ने अंकित किया है।[४०]

उपरोक्त सभी ग्राम्य चित्रों में जो ग्राम्य जीवन की सादगी, सहजता, ग्रामीणों की जीवन विधि, उनका आचार व्यवहार आदि आये हैं वे सभी ग्राम्य संस्कृति के

उपादान हैं। लगता है इन सब के प्रति दिनकर की अनुभूतियाँ बडी ही तीव्र, निजी और सशक्त हैं। ग्राम्य संस्कृति के प्रति ममत्व की कवि में एक ललक है।

नगर-बोध—

आज की सभ्यता नागरिक सभ्यता है और संस्कृति नागर संस्कृति। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से भारतीय संस्कृति में विकृति आने से जिस संकर संस्कृति का जन्म हुआ है उसका प्रतिनिधित्व भारतीय नगर करता है। अपने समस्त काव्य-साहित्य में दिनकर ने इस संस्कृति पर व्यंग्य ही किया है। जिस संकर संस्कृति के प्रभाव से घृणा, द्वेष आदि का चतुर्दिक गरल-वर्षण हो रहा हो, भारतीय संस्कृति के अमर गायक कवि दिनकर उस पर व्यंग्य क्यों न करें? आश्चर्य क्यों न करे? 'इतिहास के आँसू' में कवि ने आश्चर्य व्यक्त करते हुये कहा है—

"आह सभ्यता के प्रागंण में आज गरल वर्षण कैसा?
घृणा सिखा निर्वाण दिखाने वाला यह दर्शन कैसा?"[४१]

भारतीय प्राचीन संस्कृति के प्रतीक 'इन्द्रप्रस्थ' तथा 'हस्तिनापुर' आज की संकर-संस्कृति की प्रतीक 'दिल्ली' में बदल चुके हैं। दिल्ली का जन-जीवन आज भारतीय जन-जीवन का आदर्श बना हुआ है किन्तु वस्तु स्थिति तो यह है कि दिल्ली की नगर-संस्कृति भारतीय संस्कृति की ह्रासोन्मुखी दिशा का अन्तिम सोपान है। कवि इस सत्य से परिचित है। इसीलिये 'दिल्ली' शीर्षक कविता में भारतीय नगर-संस्कृति की प्रतीक दिल्ली को सैकड़ों व्यंग्य वाणो से वेध देता है।

आधुनिकता के नाम पर आज का नगर कृत्रिमता में दिनानुदिन फंसता जाता है। ऊपरी चाक चिक्य, में उसका सहज और स्वाभाविक आन्तरिक सौन्दर्य नष्ट होता जा रहा है। नगरोद्यान में बेला, चमेली की जगह कैक्टस लग रहे हैं। सौम्यता की सृष्टि करने वाले मोटे सूती वस्त्रों की जगह नायलोन के झीने पारदर्शी वस्त्र प्रयुक्त हो रहे हैं। इस तरह प्राचीन भारत के नगर-जीवन की सारी सौम्यता, कृत्रिमता और दिखावे में फँसती जा रही है। कवि ने नागरिक जीवन के इस दृश्य को बड़े ही सजीव रूप में उभार दिया है—

आधुनिकता की वही परनाम अब तो चढ़ा दो
नायलोन का कोट हम सिलवा चुके हैं।
और जड़ से नोच कर बेली चमेली के द्रुमों को,
कैक्टसों से भर चुके हैं बाग हम अपना।"[४२]

रसवन्ती में कवि ने जिस आधुनिका का चित्र खींचा है वह भी नगर की सभ्य कही जाने वाली आधुनिका पर व्यंग्य ही है।[४३] 'कुरुक्षेत्र' और 'द्वन्द्वगीत' में या अन्यत्र जहाँ कहीं भी मानव-मन की द्वन्द्वात्मक स्थिति का कवि ने चित्रण किया है उन सब का जन्म नगर में ही हुआ है। अतः द्वन्द्व, कृत्रिमता आधुनिकता के

प्रति यामोह आदि से ऊबकर गांवों की ओर जाना चाहता है। और कोयलां और कवित्व' की 'गृहाभिमुख' शीर्षक कविता कवि के शहर से ऊबे हुये जीवन तथा वहां से पलायन कर स्वगृह अर्थात ग्राम की ओर लौट जाने की वृत्ति की ही द्यातक है। अपने किसी प्रबन्ध या मुक्तक में स्वतन्त्र रूप से नगर-संस्कृति के प्रति उन्मुख होकर कवि ने कोई रचना नहीं की। प्रसंगवश जहां कहीं भी किंचित रूपेण नगर-जीवन का प्रसंग आया कवि ने उस पर व्यग्य ही किया। वस्तुत: आज भी भारतीय सस्कृति का कोश ग्राम्य जीवन ही है। इसी हेतु दिनकर ने भी ग्राम्य जीवन के प्रति अधिकाधिक आकर्षण-भाव व्यक्त किया है।

नारी-भाव

नारी समाज का एक आवश्यक अंग है। भारतीय प्राचीन सस्कृति के अन्तर्गत नारी का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है। नारी के मातृ रूप का तो इतना अधिक महत्व रहा है कि पुत्र के नाम के साथ माता के नाम का जुड़ा होना आवश्यक समझा जाता रहा है। भारतीय वाग्मय मे नारी का स्वरूप यद्यपि कई रूपों में चित्रित है किन्तु उसके माता रूप, पत्नी रूप, प्रेमिका रूप आदि पर अपेक्षाकृत अधिक लिखा गया है। सभ्यता के उत्थान-पतन के साथ साथ भारतीय समाज में नारी की महत्ता में भी परिवर्तन होता रहा है। दिनकर के काव्य में समाज की मूलाधार नारी के प्राय: कई रूप चित्रित हैं जिनमें चार रूपो पर दिनकर ने अधिक बल दिया है—

१. मातारूप, २. पत्नी रूप, ३. प्रेमिका रूप, ४. आधुनिकता से प्रभावित नारी के गरिमामय रूप से च्युत भारतीय संकर संस्कृति की प्रतीक नारी रूप इन्हीं चारों कोटि की नारी विषयक कवि-धारणाओं का अध्ययन अपेक्षित है।

१ माता रूप

भारतीय संस्कृति में नारी का माता-रूप ही सर्वाधिक गरिमामय है। नारी का यही जननी रूप समाज का श्रद्धास्पद एवं पूज्य रुप होता है। दिनकर ने नारी के इस आदर्शमय रूप को 'रसवंती' और 'उर्वशी' दोनों में संवारा है। 'रसवंती' में कवि ने लिखा है कि माता का भी एक सांस्कृतिक प्रसाधन विद्यमान है। उसको रूप सज्जा जाने कितने मूक मुखर लोक सांस्कृतिक प्रतीकों से भर उठती है जब रमणी प्रसूति गृह से मां बनकर निकलती है तो सारे प्रतीकात्मक शृंगारिक उपकरण विहंस पड़ते हैं। उसके अंगों की चपलता पर मातृत्व छा जाता है।[47] उर्वशी में माता के इसी रूप ने विलाप गाया है। उर्वशी जब पुरुरवा के राज-पुत्र में बंधना

चाहती है तो अप्सरायें उर्वशी पर व्यंग्य करती हैं। उसके मातृ स्वरूप की भावी कल्पना पर उपहास करती हैं। इसी उपहास का उत्तर देती हुयी मेनका ने जो कुछ भी कहा है उसमें नारी के मातृत्व स्वरूप की विस्तृत गरिमा चित्रित हो उठी है।

मां बनते ही त्रिया कहां से कहां पहुच जाती है ?
गलती है हिम शिला सत्य है गठन देह की खोकर
पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर।[45]

नारी के इस स्वरूप में जो गरिमा है, जो शान्ति है, उसका दूसरा उदाहरण नारी के किसी अन्य रूप में असंभव है। कवि ने तो नारी के इसी रूप को सर्वाधिक सुन्दर भी कहा है–

"युवा जननि को देख शान्ति कैसी मन में जगती है
रुपमती भी सखी ! मुझे तो वही त्रिया लगती है
जो गोदी में लिये क्षीर मुख शिशु को सुला रही हो
अथवा खड़ी प्रसन्न पुत्र का पलना झुला रही हो।"[46]

भारतीय समाज में माता का एक दूसरा रुप भी मिलता है जो संतान को जन्म तो नहीं देती किन्तु आजीवन मातृ भाव से ही उसका लालन-पालन करती है। माता के इस स्वरूप के सामने उसका जननी स्वरूप यदा-कदा हारता आया है। उर्वशी के शब्दों में–

"मैं निमित्त हो रही, सुकन्ये ! इस अबोध बालक की-
तुम्हे छोड़कर निखिल लोक में और कौन माता है ?
केवल भ्रूण वहन केवल प्रजनन मातृत्व नहीं है
माता वे ही, पालती है जो शिशु को हृदय लगाकर।[47]

माता के इस पालन कर्त्ता-स्वरूप के सामने जननी-स्वरूप को कवि ने एकबार और हराया है। 'रश्मिरथी' में कुंती ने जब कर्ण से भीख मांगकर उसे स्वपक्ष में लाने की चाल चली तो कर्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि तुमने मुझे जनकर जल में फेंक दिया किन्तु राधा मां ने मुझे जल से उठाकर हृदय से लगा मेरा पालन किया। इसी हेतु—

"राधा मां का अधिकार तुम न पावोगी।[48]

निष्कर्ष यह कि नारी के मातृ स्वरूप को आदर्श के उतुंग शिखर पर प्रतिष्ठित कर भारतीय सस्कृति चेतना को कवि ने प्रतिध्वनित किया है।

२. पत्नी-रूप

नारी के इस रूप की चर्चा भी दिनकर ने यथेष्ठ मात्रा में की है। इस रूप की प्रारम्भिक झांकी भी 'रसवती' में उपलब्ध हो जाती है जहां प्रिया रूप में नारी अधरामृत दान कर जीवन की सारी शुष्कता को हर लेती है। पुरुष की पौरुष वृत्ति

पर वह रागसिंचित दृष्टि से प्रेम फुहार की वर्षा करती है।[49] 'पुरुष प्रिया' कविता में नारी के इसी प्रेरक रूप का सर्वांगीण विकास हुआ है जहां नारी अजेय नर को जीतने आती है। उस पर विजयनी होकर उसके समस्त जीवन को रागमय कर देती है।[50] जब-जब पुरुष परिश्रान्त होकर आता है प्रिया के सानिध्य में उसका सारा शैथिल्य दूर हो जाता है। फिर उसकी जोभ पर प्रिया के सिवा और कुछ नहीं रहता—

जब जब फिर आता पुरुष श्रान्त तब तुम करती रसमान प्रिय।
मिलती न उसे फिर बात नयी मुख से कढ़ते दो वर्ण प्रिया। [51]

यहां एक प्रश्न उठ सकता है कि प्रिया संबोधन से पत्नीभाव का क्या संबंध है? इस प्रसंग में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भारतीय संस्कृति में प्रिया बनने का सौभाग्य विरल प्रेमिका को ही प्राप्त होता है। 'प्रिया' शब्द केवल पत्नी के लिये ही प्रयुक्त होता है। किसी भी चरित्र का विकास मूल रूप से प्रबन्ध का विषय है। प्रबन्ध के विस्तृत आयाम में ही चरित्र का सांगोपांग रूप उभरता है। नारी के पत्नी रूप का सर्वांगीण विकास 'उर्वशी' में ही हुआ है। 'उर्वशी' में 'औशीनरी' और सुकन्या दो पत्नी रूप के आदर्श हैं जिनके माध्यम से भारतीय समाज में जो पत्नी का महत्वपूर्ण स्थान है उसे कवि ने व्यक्त किया है।

भारतीय पत्नी पति पर सर्वस्व न्योछावर कर देती है। वह अपने आपको पति में खोकर पति की ही आंखों में अपना सुख जोहती है। औशीनरी कहतीहै—

"अरी कौन है कृत्य जिसे मैं अब तक कर न सकी हूं
कौन पुण्य है जिसे प्रणय वेदी पर धर न सकी हूं
प्रभु को दिया नहीं ऐसा तो पास न कोई धन है
न्यौछावर आराध्य चरण पर सखि तन मन जीवन है
तब भी तो भिक्षुणि सदृश्य जोहा करती हूं मुख को
सदा हेरती रहती आंखों में निज सुख को। [52]

भारतीय समाज में पत्नी के लिये पति ही सब कुछ होता है। इस धारणा के कारण उसे आंसू पीना पड़ता है। वह हंसते हंसते रोती भी है। पति द्वारा किये गये सारे अन्यायों को वह चुपचाप सह जाती है।[53] फिर भी प्रियतम के हर पथ पर फूल बिछे हो – यही कामना होती है।[54]

सुकन्या के माध्यम से भी दिनकर ने भारतीय पत्नी का आदर्श प्रस्तुत किया है। सुकन्या स्पष्ट शब्दों में पत्नी व्रत को समझाते हुये कहती है कि भारतीय पत्नी

तो एक चारिणी होती है। उसके आनन्द धाम केवल पति होते हैं। इसीसे वह भोग और योग दोनों प्राप्त करती है।[55]

इस प्रकार पत्नी के जो दोनों आदर्शमय रूप 'उर्वशी' में कवि ने प्रस्तुत किये उन्हें भारतीय संस्कृति की गरिमामय पत्नी का स्वरूप कह सकते है।

प्रेमिका रूप

नारी का प्रेमिका बनने से किंचित पूर्व का रूप होता है जिसमें प्रेम के रेशमी धागे में दोनों एक दूसरे से बंध जाते है। प्रेमी प्रेमिका का यह आकर्षण-भाव अगर पति-पत्नी भाव में बदल जाता है तो वह जीवन बड़ा ही सार्थक, सरस और रमणीय हो जाता है। दिनकर की 'उर्वशी' की सुकन्या एक ऐसी ही प्रेमिका है जो महर्षि च्यवन की पत्नी बन गयी है। एक पत्नी औशीनरी भी है और एक सुकन्या भी। औशीनरी पुरुरवा की मात्र परणिता पत्नी है, प्रेमिका नहीं। अतः औशीनरी-पुरुरवा का प्रणय परिणय के बाद की उपलब्धि है किन्तु सुकन्या के प्रणय का बीच परिणय से पहले का है। फलतः सुकन्या और च्यवन के जीवन मे जो सन्तुष्टि है औशीनरी और पुरुरवा के जीवन में उसका अभ व है। उसी अभाव की पूर्ति अप्सरा 'उर्वशी' करती है। 'उर्वशी' को कवि ने एक प्रेमिका के रूप में आद्योपांत चित्रित किया है।

प्रेमिका और प्रेमी का आकर्षण-भाव कुछ ऐसा होता है कि दोनो एक दूसरे मे समा जाना चाहते है। प्रणयमार्ग पर आयी हुयी सारी आपदाओं को धैर्य पूर्वक सह लेते है। उर्वशी नदनवन के सारे सुखों को त्यागकर मातृत्व-क्लेश को सहने के लिये भी तैयार होकर पुरुरवा को खोना नही चाहती है। 'उर्वशी' के समस्त तृतीय अक मे उर्वशी का जो रूप उभारा गया है उसे एक आदर्श प्रेमिका का रूप कह सकते है।

प्रेमिका मे प्रेमी के प्रति प्रेम-तन्मयता होती है। वह प्रेमी में ऐसे खो जाना चाहती हैं कि उसका कुछ अस्तित्व ही न बचे। प्रेमी के हर क्रिया कलाप मे उसे एक स्वर्गिक सुषमा के दर्शन होते है। 'रसवती' में ग्रामीण प्रेमी-प्रेमिका का चित्र प्रस्तुत करते हुये कवि ने उसके सहज प्रेम भाव को दर्शाया है—

"दो प्रेमी है यहां एक जब बड़े साझ आल्हा गाता है
पहला स्वर उसकी राधा को घर से यहां खीच लाता है
चोरी चोरी खड़ी नीम की, छाया में छिप छिप कर सुनती है
हुयो न मैं क्यों कड़ी गीत की, विधना यो मन मे गुनती है।"[56]

निष्कर्ष यह कि नारी के प्रेमिका-रूप के प्रति भी कवि का एक मौलिक दृष्टिकोण

है। उनकी दृष्टि में अगर-प्रेमिका ही पत्नी बने तो मानव जीवन में सुख संतोष की सावनी सरिता छलक सकती है। दिनकर की सुकन्या ऐसी ही सन्तुष्ट और सुखी प्रेमिका की एक प्रतीक है।

आधुनिक रूप

दिनकर की आधुनिकायें दिनकर-युग का प्रतिनिधित्व भले ही करें किन्तु इन्हें कवि का व्यग्य बाण ही सहना पड़ा है। ये आधुनिकाये न तो 'रसवती' की ग्राम-प्रेमिकायें हैं न 'उर्वशी' की सुकन्या। ऐसी प्रेमिकाओं के लिए दिनकर का दृष्टि कोण भी भिन्न ही है। बदले हुये स्वर में कवि कहता है—

> प्रेमिका ! अरे उन शोख बुतों का क्या कहना।
> वे तो यों ही उन्माद जगाया करती है
> पुतली से लेती बाँध प्राण की डोर प्रथम
> पीछे चुम्बन पर कैद लगाया करती है।[57]

भारतीय नारी के गरिमामय पद से च्युत होने वाली आधुनिकाओ पर कवि ने बड़ा ही तीखा प्रहार किया है—

> निरावरण उद्दाम किरण सी, खिलती और मचलती
> आज दीखती नही समाती हुयी, आप अपने मे
> अपना चित्र विविध रंगो मे आप सृजन करती हो
> और जांचती हो फिर उसको पुरुष के दृग से।[58]

नारी के इस निरावरण रुप को देखकर कवि कामना करता है कि या तो इसे अपने पौरुष या अपनी इज्जत उड़ा दूं या इसके भीतर एक ऐसी शक्ति जगा दू जिसके जलने से दिशा कांप जाय—

> "जी करता है अपना पौरुष इज्जत इसे उढा दूं
> या कि जगा दूं उसके भीतर की लाल शिखा को
> आंखों मे जिसके जलने से दिशा कांप जायेगी।"[59]

संक्षेप मे नारी के इन्ही चारों रूपो को कवि ने अपने काव्य में सजाया और सवारा है। जयशकर प्रसाद की तरह झडा लेकर उद्बोधन गीत गाते हुये समरांगण की ओर जाने वाली किसी विद्रोही नारी-रूप का कवि ने चित्रण नही किया है। किन्तु नारी से जिन रूपों को दिनकर ने संवारा है उन्हे भारतीय सस्कृति का गौरवमय स्वरूप कह सकते हैं।

पुरुष रूप—

दिनकर ने अपने समस्त साहित्य में जिन पुरुष पात्रो की योजना की है उनमें आर्यो के तेज, गौरव और पुरुषत्व की गरिमा है चाहे 'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर और भीष्म हों, 'रश्मि रथी' के कर्ण और परशुराम हों, अर्जुन या कृष्ण या 'उर्वशी'

के पुरुरवा तथा च्यवन हों– सब में धीरोदात्त नायक की सारी विशेषतायें विद्यमान है। मुक्तकों में आये हुये आदर्शमय पात्र चन्द्रगुप्त, अशोक, शेरशाह, शाहजहां या आधुनिक युगीन नेताओं में गांधी, जवाहर, जयप्रकाश–सब में वही गरिमामय आदर्श है। प्राय: पुरुष पात्रो के प्रति भी कवि का दृष्टिकोण सर्वत्र एक सा ही रहा है। यह उचित था भी। ऐसे ही आदर्श पात्रों की संयोजना से राष्ट्र का कल्याण संभव था। युग की मांग पर कवि ने ऐसे पुरुष पात्रों का अपने काव्य में आयोजन किया है।

पुरुष और नारी संबंध—

नर-नारी के सम्बन्ध की वृहत्त चर्चा दिनकर ने की है। पुरुष के जीवन में नारी का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है इसे दिनकर के कई जगह व्यक्त किया है।

माता के जीवन की सारी कल्पना पुत्र ही पूरा करता है[60] और नारी चाहे मां रूप में हो, पत्नी रूप में हो, या प्रेमिका रूप में पुरुष के लिये वह सौन्दर्य शान्ति और कविता तीनों का स्वरूप है।[61] इसी तरह की नारी के अभाव में पुरुष का गृह विषण्ण बन जाता है।[62]

'उर्वशी' में नारी की इस महिमा का कवि ने और भी अधिक यशोगान गाया है। भारत में त्रिया केवल कामिनी ही नहीं होती, रमणी ही नहीं होती, अपितु वह एक स्वर्गिक विभा होती है जिसकी रश्मि में पुरुष जीवन निखर उठता है। जिस त्रिया–प्रेम में केवल 'कामना' का ही स्थान नहीं है व प्रेम प्रार्थना, निदिध्यासन आदि से भी ऊंचा हैं—

> "जहां त्रिया कामिनी नहीं, छाया हैं परम विभा की
> जहां प्रेम कामना नही प्रार्थना निदिध्यासन हैं।"[63]

भारतीय नारियां पुरुष के जीवन का कर्म स्त्रोत होती हैं, प्रेरणा स्थली होती हैं, प्रीति और करुणा का आगार होती हैं।[64] इस तरह कवि ने अनेक उदाहरणों द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि नारी और पुरुष दोनों का अस्तित्व एक दूसरे के लिए पूरक जैसा है। दोनों का चिर संबंध ही इस सृष्टि का रहस्य है।

प्रेम–

नर–नारी को एक सूत्र में बांधने का काम प्रेम करता है। 'प्रेम' हृदय का वह बंधन है, जो दो को जोड़कर एक कर देता है। भारतीय वांग्मय में 'प्रेम' का बड़ा ही आदर्श रूप प्रस्तुत किया गया है। भारतीय प्रेम के अन्तर्गत प्रत्येक प्रकार के स्नेह को समेट लिया गया है। इस प्रेम में प्रेमी-प्रेमिका या पति-पत्नी का स्नेह भाव ही व्यंजित नहीं होता अपितु भाई-बहन, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य यहां तक कि जानवरों के प्रति उठने वाले प्रेम-भाव तक इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। इसी 'प्रेम

का प्रतिभावात्मक और एकनिष्ट भाव 'भक्ति' में भी बदल जाता है। यही कारण है कि भक्ति भावना के कवि आत्मा-परमात्मा की सम्बन्ध-व्यंजना में पति-पत्नी का रूपक ग्रहण करते हैं। 'प्रेम' का अर्थ बताते हुये डा० देवराज ने कहा है- "प्रेम करने का अर्थ है उसकी जीवन प्रक्रिया में साझेदार बनने की आकांक्षा अथवा उसके जीवन-स्पन्दन को आत्मसात करने की कामना '[65] तात्पर्य यह कि प्रेम-मानव-जीवन की वह भावात्मक वृति है जो सौन्दर्य और साहचर्य के सहारे पनप कर दो को एक कर देती है।

प्रेम प्रतिदान नहीं चाहता किन्तु आदर्श प्रेम के लिये जीवन तक न्योछावर करना पड़ता है। दिनकर के विचार में प्रेम का पर्याय बलिदान होना चाहिये—

प्रेम में जीवन नहीं तो क्या दिया, चाहिये उर साथ जीवनदान भी
प्रेम की टीका सरल बलिदान ही [66]

'प्रेम का सौदा' कविता में दिनकर ने प्रेम पर विविध रूप से विचार किया है। प्रेम बन्धन नहीं मानता।[67] रसवंती में कवि के प्रेमपरक दृष्टिकोण का साँगोपांग विवेचन है। 'अगरु धूम'[68] में प्रेम की रहस्यात्मकता है तो 'रास का मुरली'[69] में प्रेमगत समर्पण। उसी प्रकार 'पुरुष प्रिया'[70] में प्रेम और वासना के पार्थक्य को समझाया गया है।

'उर्वशी' में व्यंजित प्रेम-भाव ठीक भारतीय संस्कृति के अनुकूल है। 'उर्वशी' में पति-पत्नी का प्रेम, प्रेमी-प्रेमिका का प्रेम तथा माता-पुत्र का प्रेम-चाहे जिस कोटि के प्रेम की परीक्षा की जाय उसकी तन्मयता, एक निष्ठता, पवित्रता तथा स्निग्धता भारतीय संस्कृति के अनुरूप मिलेगी।

काम-

आधुनिक युगीन मनोवैज्ञानिकों ने 'काम-समस्या' को जीवन की महत्वपूर्ण समस्याओं में एक माना है। कवि ने सम्पूर्ण 'उर्वशी' में इसी समस्या का समाधान खोजा है। कवि 'प्रेम' और 'काम' को एक दूसरे का पूरक मानता है। केवल आदर्श वादिता में फंसकर कवि 'काम' को हेय और प्रेम को इन्द्रियातीत नहीं मानता। वह शारीरिक संस्पर्श को ही प्रेम का जन्मदाता मानता है--

पहले प्रेम स्पर्श होता है तदन्तर चिंतन भी
प्रणय प्रथम, मिट्टी कठोर है तब वायव्य गगन भी।[71]

कवि का विश्वास है कि देह जनित प्रेम केवल वासना तक ही सीमित नहीं रहता। वासना से उठकर वही 'प्रेम मानस' में भी प्रवेश करता है। स्थूल की ओर जाता है-

"देह प्रेम की जन्मभूमि है पर उसके विचरण की
सारी लीला भूमि नहीं सीमित है रुधिर त्वचा तक
यह सीमा प्रसरित है मन के गहन गुह्य लोकों में
जहां रूप की लिपि अरूप की छवि आंका करती है।"[72]

कवि को यह विश्वास नहीं होता कि रूप-सौन्दर्य छूने की वस्तु नहीं केवल देखने की वस्तु है। कवि भोग के धरातल से योग की ओर जाना चाहता है। रूप की आराधना का मार्ग कवि आलिंगन को मानता है तथा स्नेह का सौन्दर्य को उपहार-रस चुम्बन को।[73] कवि अपनी इस मान्यता पर दृढ़ है कि जीवन में उतना ही महत्व भोग का है जितना योग का। वह काम को आध्यात्मिक मार्ग की बाधा भी नहीं मानता। उसे यह बात कतई स्वीकार नहीं है कि संसार का भोगी पुरुष आध्यात्म वाद का उपासक नहीं हो सकता। कवि दोनों में कोई विरोध भाव नहीं पाता है—

"किसने कहा तुम्हें परमेश्वर और प्रकृति ये दोनों
साथ नहीं रहते, जिसको भी ईश्वर तक जाना है उसे
जोड़ लेने होंगे सारे सम्बन्ध प्रकृति से
और प्रकृति के रस में जिसका अन्तर रमा हुआ है
उसे और कुछ मिले, किंतु परमेश्वर नहीं मिलेगा?"[74]

अपने इस भाव को और स्पष्टीकरण करते हुये उन्होंने साफ शब्दों में कहा है कि जो पुरुष किसी रमणी को आलिंगन में बांध चुका हो कौन कहता कि देश-काल की सीमा को पार कर वह आध्यात्मिक आदर्श की ओर नहीं उठ सकता।[75] कवि की सम्मति में ईश्वरीय जग इस गोचर जगत से भिन्न नहीं है। यहीं की अपवित्रता में वह पवित्रता भी सनी हुयी है—

"ईश्वरी जग भिन्न नहीं है इस गोचर जगती से
इसी अपावन में वह अदृश्य पावन सना हुआ है।[76]

निष्कर्ष यह कि कवि ने काम को अध्यात्म का बाधक नहीं माना है अपितु साधक के रूप में उसे स्वीकार कर 'उर्वशी' को कामाध्यायत्म का आधार ग्रन्थ बना दिया है।

समाज के अन्य सांस्कृतिक पक्षों के अन्तर्गत परिवार, विवाह तथा अन्य रीति रिवाजों का उल्लेख भी आवश्यक होता है किन्तु दिनकर-साहित्य में इन सब का अभाव है। इसका मूल कारण यह है कि इन्होंने जो भी प्रबन्ध लिखे वे न तो घटना प्रधान हैं, न कथा प्रधान। समस्या प्रधान प्रबन्ध में कवि के लिये अवसर ही कहां था कि वे इनका उल्लेख कर पाते।

सामाजिक कुरीतियां—

सामाजिक कुरीतियों के अन्तर्गत जाति-भेद, छुआछूत तथा अबैध संतान को लिया जा सकता है। दिनकर के काव्य में इन सभी कुरीतियों पर तीखा प्रहार किया गया है वस्तुतः ये कुरीतियाँ भारतीय संस्कृति का कोढ़ हैं जिनसे राष्ट्र को आज भी छुटकारा नहीं मिलता।

(क) जाति एवं वर्ण व्यवस्था—

कोई भी परम्परा जब रूढ़ हो जाती है तो वह वैसी ही गंदी हो जाती हे जैसे गड्ढे का पानी। उसमें एक प्रकार की संडाध आने लगती है। स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से जैसे उस सड़े हुये जल को सुखा देना आवश्यक हो जाता है उसी प्रकार आदर्श समाज की रचना के लिये उस रूढ़ परम्परा का भंजन भी आवश्यक होता है। जाति-व्यवस्था एक ऐसी ही रूढ़ परम्परा हो गयी थी इसका अनुभव वर्तमान युग ने किया। अनेक समाज सुधारकों ने इस परम्परा को भंग करने की सलाह दी। गांधी दर्शन की तो यह एक मुख्य पीठिका ही बनी। स्वयुग की इसी चेतता से प्रेरित होकर दिनकर ने इस परम्परा-भंजन का प्रबल प्रयास 'रश्मिरथी' में किया है। कर्ण का सम्पूर्ण चरित्र इसी परम्परा के भंजन में गठित किया गया है।

नीच जाति के घर में पलने के कारण समाज ने कर्ण को वह स्थान नहीं दिया जो स्थान कुरुवंशी कुमारों का था। और की बात तो अलग-गुरु द्रोण ने इसी हेतु उसे शिक्षा भी नहीं दी। परशुराम से शिक्षा प्राप्त कर भी जाति सम्बन्धी रहस्योद्‌घाटन होने के कारण उसे शाप का भागी बनना पड़ा। कुरुवंश की खुली सभा में अपमान सहना पड़ा। किन्तु, अपने शौर्य, वीरत्व और प्रखर प्रतिभा से जब वह चमक उठा तो जाति-पाँति के ये सारे बन्धन चकनाचूर हो गये। इसी आधार पर वह कलिंग देश का राजा बना, कुरुवंश का मित्र बना और अर्जुन का प्रतिपक्षी बनकर इतिहास में अमर हो गया। उसी कर्ण ने जाति वाद को चुनौती देते हुये घोषणा की—

"जाति-जाति रटते जिनकी पूंजी केवल पाखंड
मैं क्या जानू जाति जाति है ये मेरे भुजदंड।
मस्तक ऊंचा किये जाति का नाम लिये चलते हैं
मगर असल में शोषण के बल से सुख में पलते हैं
अधम जातियों से थर-थर कांपते तुम्हारे प्राण
छल से मांग लिया करते हो अंगूठे का दान।[७७]

कवि ने 'रश्मिरथी' की भूमिका में ग्रंथ की प्रेरणा पर प्रकाश डालते हुये लिखा है.....हमारे समाज में मानवीय गुणों की पहचान बढ़ने वाली है। कुल

और जाति का अहंकार विदा हो रहा है। आगे मनुष्य केवल उसी पद का अधिकारी होगा जो उसके अपने सामर्थ्य से सूचित होता है। उस पद का जो उसके अपने माता-पिता या वंश की देन है।"[७८] कवि ने युग की इसी चेतना को 'रश्मि-रथी' में मूर्तमान किया है। कृपाचार्य द्वारा किये गये कर्ण के अपमान के उत्तर में दुर्योधन ने कहा था—

'मूल जानना बड़ा कठिन है नदियों का वीरों का
धनुष छोड़कर और गोत्र क्या होता रण धीरों का
पाते हैं सम्मान तपोबल से भूतल पर शूर
जाति, जाति के शोर मचाते केवल कायर क्रूर।"[७९]

सम्पूर्ण 'रश्मिरथी' में यही प्रतिपादित किया गया है कि नीच वंश में पले कर्ण के चरित्र में समस्त मानवीय गुणों का पुंज है किन्तु राजवंश में जन्म लेने वाले राजकुमारों में उन मानवीय गुणों का अभाव है। इसी हेतु कर्ण की मृत्यु पर कृष्ण ने उसकी भूरि भूरि सराहना की है—

उगी थी ज्योति जग को तारने को
न जन्मा था पुरुष वह हारने को
मगर सब कुछ लुटा कर दान के हित
सुयश के हेतु नर कल्याण के हित
दया कर शत्रु को भी त्राण देकर
खुशी से मित्रता पर प्राण देकर
गया है कर्ण भू को दीन करके
मनुज कुल को बलहीन करके।"[८०]

कुमारी माता एवं अवैध संतान –

भारतीय समाज ने प्राचीन काल से ही कुमारी माता तथा अवैध संतान को हेय समझा है। सर्वशक्ति सम्पन्न होते हुए भी कुमारी माता कभी भी समाज भय पर विजय नहीं पा सकी। समाज में खुलकर अपने को उन सन्तानों की माता नहीं कह सकी। उसी तरह अवैध संतान मानवीय गुणों से सर्वांग पूर्ण होने पर भी सहजता से समाज मे सम्मानित नहीं हो सकी। इन दिनों की मानसिक घुटन को कवि ने अनुभव किया है। 'रश्मिरथी' की कुंती वैसी ही अबला मां है और 'कर्ण' वैसी ही अवैध संतान।

कर्ण जैसे प्रतिभा संपन्न पुत्र को जन्म देकर भी सामाजिक दुर्व्यवस्था के कारण कुंती जैसी नारी को उसे जल में बहा देना पड़ा। अपने सम्पूर्ण जीवन में कुंती कभी भी यह कहने का साहस नहीं कर सकी कि कर्ण उसका बेटा है। वह

घुट-घुट कर मरती रही किन्तु समाज के भय ने सदैव उसे मुंह खोलने से विवश किया। सामाजिक इस दुर्व्यवस्था पर प्रहार करती हुयी कुंती ने भावातिरेक में स्वतः स्वीकार किया --

"बेटा धरती पर बड़ी दीन है नारी
अबला होती सचमुच शोषिता कुमारी
है कठिन बंद करना समाज के मुख को
सिर उठा न पा सकती पतिता निज सुख को।"[८१]

कुंती ने कर्ण के समक्ष प्रायश्चित रूप में यह स्वीकार किया है कि मातृत्व विमुख होने से उत्तम मुझे समाज से स्पष्ट कह देना था कि मैं कुमारी माँ बन गयी हूँ चाहे मुझे स्वीकार करो या ठुकराओ।[८२] कुंती का यह प्रायश्चित भारतीय समाज का प्रायश्चित है। कुंती की यह भावना वर्तमान युग-भावना है।

कवि ने 'रश्मिरथी' में अवैध संतान पर विचार करते हुए युग के इस मनोभाव को अंकित किया है जिसमें यह माना जाने लगा है कि संतान की श्रेष्ठता का माप-दंड वैध-अवैध होना नहीं, उसका जाति-वंश नहीं, स्वशक्ति है जिसके सहारे उसके चरित्र का निर्माण होता है। कर्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा है--

'मैं उनका आदर्श जिन्हें कुल का गौरव तोड़ेगा
नीच वंश जन्मा कह कर जिनको जग धिक्कारेगा
जो समाज की विषम वहिन में चारों ओर जलेंगे
पग पग पर झेलते हुये बाधा निस्सीम चलेंगे
मैं उनका आदर्श कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे
पूछेगा जग किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे।
+ + +
मैं उनका आदर्श किन्तु जो तनिक न घबरायेंगे
निज चरित्र बल से समाज में पद विशिष्ठ पायेंगे।'[८३]

इस तरह यह प्रमाणित होता है कि युग की इस दारुण समस्या के सम्बन्ध में जो तत्कालीन मनोभाव था कवि ने उसे 'रश्मिरथी' मूर्तकर युग चेतना का ही प्रतिबिम्ब प्रस्तुत किया है।

अस्पृश्यता निवारण--

अस्पृश्यता निवारण दिनकर के काव्य-युग की एक प्रबल चेतना थी। गांधी ने समाज से इस बीमारी को दूर करने का हर संभव प्रयास किया था। छुआछूत की समस्या ने भारतीय समाज को दूषित कर दिया था। गांधी ने जब इसका अंत कर समाज का नव निर्माण चाहा तो धर्म के ठेकेदारों ने इसका प्रतिरोध किया।

भगवान बुद्ध की जन्मभूमि बिहार की धरती पर छुआछूत को मिटाने के निमित देवघर मंदिर में प्रवेश करते समय जब गांधी पर प्रहार हुआ तो दिनकर की आत्मा कांप उठी। भारत के हरिजनों के स्वर में स्वर मिलाकर कवि ने 'बोधिसत्व' का आह्वान किया—

'अनाचार की तीव्र आँच में अपमानित अकुलाते हैं।
जागो बोधिसत्व भारत के हरिजन तुम्हें बुलाते हैं।'[८४]

समाज के अभिजात्य वर्ग ने इन दीन-हीन हरिजनों को ईश्वर-पूजा के अधिकार से भी वंचित कर दिया था। धर्म की पावन ज्योति अदृश्य हो गयी थी। धर्म पर भी धन पिशाचों का अधिकार हो गया था। अछूतों के लिये समाज ने अन्याय कष्टों का विधान तो किया ही था। ईश्वराधना के अधिकार से भी उन्हें च्युत कर दिया था। लगता था कि इन अछूत हरिजनों के लिये यह संसार बना ही न हो। युग की इस स्थिति से प्रभाव ग्रहण कर दिनकर ने भगवान बुद्ध को आवाज लगायी है कि वे पुनर्जन्म लेकर भारत के अछूतों का उद्धार करें।

समाजगत परम्परा जनित इन कुरीतियों का कवि दाह सस्कार कर देना चाहता है। परम्परा की होली जला कर कवि संतोष की सांस लेना चाहता है। सामधेनी में 'जवानियाँ' को परम्परा की यह होली जलाते देख कवि-हृदय आनन्दातिरेक से भर उठता है।[८५]

सांस्कृतिक चेतना के अन्तर्गत अर्थ और धर्म की चर्चा भी अपेक्षित है। अर्थ और धर्म समाज-निर्माण की मुख्य पीठिका है। कोई भी युग-कवि युग-धर्म और युग की अर्थ नीति सबंधी चेतना को समेटते हुये ही अपनी काव्य-सृष्टि कर सकता है। दिनकर के काव्य में भी अर्थ और धर्म का विवेचन उपलब्ध होता है।

अर्थ—

आर्थिक दृष्टि से भारतीय समाज दो वर्गों में बंटा हुआ है— शोषक और शोषित। दिनकर ने इस विभाजन का अंत करने के लिये आर्थिक शोषण का अंत और अर्थ का समान विभाजन चाहा है। आर्थिक विषमता के जीवंत चित्र प्रस्तुत करते हुये कवि ने एक ओर तो शोषितों का वह रूप प्रस्तुत किया जिनके तन पर वस्त्र के नाम पर केवल एक लंगोटी है और भूख से सूखे शरीर में केवल हड्डी[८६] किन्तु दूसरी ओर समाज का एक और वर्ग है जिसके कुत्ते दूध से स्नान करते हैं।[८७] कवि के विचार से जब तक यह अर्थ वैषम्य समाज से समाप्त नहीं हो पाता तब तक समाज में दुख, दैन्य, अत्याचार, अनाचार व्याप्त रहेंगे ही। इसी हेतु वे धन का समान विभाजन चाहते हैं। दिनकर पाप की उत्पत्ति का कारण भी धन को ही मानते हैं।[८८]

धर्म—

संस्कृति-निर्माण में धर्म का बड़ा योगदान है। धर्म को संस्कृति का महत्व पूर्ण अंग कहा जाना चाहिये। कवि धर्म का शाब्दिक अर्थ लेकर ही चला है। फलतः वह युग-धर्म का पोषक हो गया है। प्राचीन धर्म अपने समय में बहुत अच्छा था पर वह आज तभी अनुकरणीय हो सकता है जब वह आधुनिक युग के लिये उपादेय हो। धर्म के आडम्बरों और अंध विश्वासों के दिनकर कटु आलोचक हैं। धर्म की लाश देना उन्हें पसन्द नहीं है।[८९] धर्म की निर्वीय कल्पनायें जीवन को हताश करती हैं। इसलिये हताश मानव को भीष्म के माध्यम से कवि संदेश देता है—

'जीवन उनका नहीं युधिष्ठिर जो उससे डरते हैं
वह उनका जो चरण रोप निर्भय होकर लड़ते हैं।'[९०]

युग-धर्म की प्रतिष्ठा के लिये आज सन्यास, त्याग और एकान्त की कोई आवश्यकता नहीं है। जीवन में प्रवृत्त होकर धर्म को व्यावहारिक बनाना ही युग धर्म है जिसे सर्वत्र दिनकर ने अपने काव्य में स्वीकार किया है—

'पहले नर अमरत्व चाहता था मरने पर
पर अब खोजता यही दीर्घायु सुयश है
यद्यपि है यह भेद अमरता के अन्वेषी
आत्म देवता से कुछ भी न छिपा सकते थे
कीर्ति कामियों को पर साधन सभी सुलभ हैं
निज न अकीर्तियां छिपा कीर्ति उत्तम पाने की
क्योंकि दृश्य है सत्य झूठ जो कुछ अदृश्य है।'[९१]

दिनकर ने अपने सम्पूर्ण काव्य-साहित्य में इसी युग-धर्म को प्रश्रय दिया है। धर्म की व्यावहारिकता पर बल दिया है और युगधर्मानुकुल होकर चलने की सलाह दी है।

दिनकर की सांस्कृतिक मान्यताओं के सम्बन्ध में ऊपर जिन पक्षों की चर्चा की गयी है उनके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति के अन्य पक्ष-राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता इतिहास-प्रेम, राजनीति, राजसत्ता आदि भी इनके काव्य में मूर्तमंत है। किन्तु इन सब का वृहत विवेचन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रकरण तीन और चार के अन्तर्गत हो चुका है। इसी हेतु यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि दिनकर के काव्य-साहित्य में भारतीय संस्कृति के सभी पक्ष उपलब्ध हो जाते हैं।

निष्कर्ष—

दिनकर भारतीय संस्कृति के गायक हैं परन्तु उनकी यह मौलिकता है कि वे युग की चेतनाओं को भी उसमें समाहित करते हैं भारतीय संस्कृति अपने में बड़ी महान है पर उसे युग के साथ चलने पर ही कालान्तर में ख्याति मिलेगी- ऐसा कवि का विचार है। उन्होंने कहा भी है—'संस्कृति केवल गौरव ढोने की बहंगी है या उसका कोई ठोस आधार भी है ? विपत्ति और घबराहट में वह धीरज बधा सकती है ? जब समृद्धि हम से सम्बन्ध तोड़ रही हो तब संस्कृति क्या इस वियोग की क्षति पूर्ति कर सकती है ? भारत का इतिहास बतलाता है कि उसका उत्तर हां में दिया जाना चाहिये।[९२] दिनकर के मत से 'जो लोग यह समझ कर निश्चित बैठे हुये हैं कि भारत की सांस्कृतिक परम्परा यथेष्ठ नहीं है वे भ्रम में है।[९३] वस्तुतः कोई भी परम्परा यथेष्ठ नहीं होती। युगानुरूप उसमें स्वतः परिवर्तन आता जाता है। इन्हीं परिवर्तनों के फलस्वरूप संस्कृति मूल रूप में प्राचीन रहकर भी युगानुकूल अर्वाचीन होती रहती है। दिनकर भारतीय संस्कृति के इसी स्वरूप के पोषक हैं।

दिनकर भारतीय संस्कृति के समन्यवादी स्वरूप के ही उपासक हैं। जिस प्रकार भारतीय संस्कृति ने विदेशी विभिन्न संस्कृतियों को अपने में समाहित कर अपने वर्तमान स्वरूप का निर्धारण किया है ठीक उसी प्रकार आज भी उसे समाज, युग और काल की मांग पर परिवर्तन परिवर्द्धन के गुण समाहित करने होंगे। भारतीय संस्कृति का सामाजिक और समन्वय वादी रूप तभी सार्थक हो सकेगा। दिनकर के काव्य-साहित्य में इसी सांस्कृतिक स्वरूप की विराट चेष्टा है। उन्होंने युग के अनुरूप ही भारतीय संस्कृति के परिवर्तित स्वरूप को स्वीकार किया है।

संदर्भ

१ कामायनी में काव्य संस्कृति और दर्शन, पृ. ३६५

२. अशोक के फूल, पृ. ७७

3 Just as the world is divided in the Nation and races so it is divided in to types and culture each having its distinctive character, its especial talent, itstone as recognized in a Nation as in an individual.

—Glories of India, edition 1952 (Introduction : p. 5)

४. रामधारीसिह दिनकर—सस्कृति के चार अध्याय-प्रस्तावना, पृ. ५

५. संस्कृति के चार अध्याय – रामधारीसिह दिनकर, पृ ६७

६. वही, पृ. १२ (भूमिका)

७. वही, पृ ६७

८. जन कवि दिनकर, पृ. ७

६. आदित्यनारायणसिह समीक्षा बिन्दु, पृ. ५०–५६

१०. सस्कृति के चार अध्याय–तृतीय संस्करण की भूमिका, पृ. ६

११. पद निक्षेपों में बल खाती है भगिमा लहर की ,
सजल कण्ठ से गीत हँसी से फूल झरे जाते हैं। उर्वशी, पृ. ६

१२. मन मोहिनी, अमुक्त–प्रेम की जीवित प्रतिमायें हैं ,
देवों की रणक्लान्ति मदिर नयनों से हरने वाली।
स्वर्ग लोक की अप्सरियां कामना काम के मन की ॥ वही पृ. ७

१३. उर्वशी, पृ. १०

१४. वही–भूमिका,

१५. सृष्टि हमारी नही संकुचित किसी एक आनन में ,
किसी एक के लिये सुरभि हम नहीं संजोती तन में।

× × × ×

हम सागर आत्मजा सिन्धु सी ही असीम उच्छल हैं ,
इच्छाओं की अमित तरंगों से झंकृत चंचल हैं।
हम तो अप्सरा पवन में मुक्त विहरने वाली ,
गीत निनाद, सौरभ 'सुवास से सबको मरने वाली।" उर्वशी, पृ. १५–१६

१६. उर्वशी, पृ. १०८

१७. उर्वशी, पृ. १५

१८. वही, पृ १७

१९. उर्वशी, पृ ६७
२०. ब्रह्माण्ड पुराण-प्रध्याय-५ श्लोक, १३-२
२१ वही, अध्याय ५-श्लोक, १-२
२२. वही-वही-श्लोक, १४
२३. मनुस्मृति-अध्याय-३ श्लोक ३३
२४. उर्वशी, पृ. १२
२५. वही, पृ. १४६-१४७
२६. उर्वशी पृ ८७
२७. डॉ० द्वारिका प्रसाद—कामायनी में काव्य संस्कृति और दर्शन, पृ ३०७
२८ वही, पृ ३१३
२९ डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी-हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. ३
३०. नये सुभाषित, पृ. ४७
३१. वही
३२. नये सुभाषित, पृ ४७
३३. रेणुका, पृ १६
३४. "मैं बच्चों के संग जरा खेलूँगी दूब बिछौने पर,
मचलूँगी मैं जरा इन्द्र धनु के रंगीग खिलौने पर।
तितली के पीछे दौड़ूँगी दे दे ताली,
मैं मकई की सुरभि बनूँगी पके आम फल की लाली।" रेणुका, पृ. १५
३५. रेणुका पृ. १५
३६. ऋण शोधन के लिये दूध घी बेच बेच धन जोड़ेंगे,
बूँद-बूँद बेचेंगे अपने लिये नहीं कुछ छोड़ेंगे।
शिशु मचलेंगे दूध देख जननी उनको बहलायेगी। रेणुका, पृ. १६
३७. हुंकार-ह हाकार कविता।
३८. रसवन्ती, पृ. ६०
३९. वही, पृ १४
४०. "माथे सेंदुर पर छोटी,
दो बिन्दी चम-चम सी,
पपनी पर आँसू की बूँदे,
मोती सी शबनम सी।
पीला चीर कोर में जिसकी,
चकमक गोटा जाली

चली पिया के देश,
उभर के सोलह फूलों वाली।

× × × ×

आँखों में दे आँख हेरती,
है उमकी जब सखियाँ।
मुसकी आ जाती मुख पर,
हँस देती रोती अखियाँ।
पर समेट लेती शरमा कर,
बिखरी सी मुस्कान।
मिट्टी उसकाने लगती है,
अपराधिनी समान।" रसवन्ती, पृ. १६

४१. इतिहास के आंसू, पृ. ४८

४२. नये सुभाषित, पृ ४६

४३. दाँतों तले अधर को दाबे कसे उबलते मन को,
चलती हो ऐसे कि देखती ही ज्यों नहीं किसी को।
तुम्हें ध्यान रहता कि पीठ सहलाती कितनी आँखें,
बँधे चले आते कितने मन छलकी हुई लटों से।
मनः स्पर्श करती बहुतों का बल खाती चलती हो,
मन ही मन गिनती हो लहू काँप गया कितने का।" रसवन्ती पृ. ४६

४४. आँखों में गीला काजल लम्बी रेखा सेंदुर की,
नासिका से चली गयी है ऊपर चीर विकुर की।
सीधी रेखा बना वन दोनों ओर सजे हैं ऐसे,
फुटकर भी हो रहा तिमिर में जैसे किसी किरण को।
पहुँची पर हैं नखें चूड़ियाँ रंगी हुयी अलता से,
हाथों की उँगलियाँ दीखती लाल, लाल कोयल सी।
तन पर पीला बसन ज्योति पीली कुम्हलाये मुख की,
माँ बनकर रमणी प्रसूति गृह से तुरन्त निकली है।
रसवन्ती, पृ. ६०–६२

४५. उर्वशी पृ. १६

४६. वही

४७. उर्वशी, पृ. १२४

४८. रश्मिरथी पंचम सर्ग

४९. रसवन्ती, पृ. ३६

५०. सहसा आयी तुम अजेय को हँस कर जय करने वाली,
आधी, मधु, आधी सुधासिक, चितवन का शर भरने वाली।
रसवन्ती, पृ. ६४

५१. वही, पृ. ७३

५२ उर्वशी, पृ. ३६-३७

५३. "पति सिवा पोषिता का कोई आधार नहीं है,
जब तक है यह दशा, नारियाँ व्यथा कहाँ खोयेंगी।
आंसू छिपा हँसेगी फिर हँसने-हँसते रोयेगी। उर्वशी, पृ. ३९

५४ "तब भी मरुत अनुकूल हों,
मुझको मिलें जो शूल हों।
प्रियतम जहाँ भी हों,
बिछे सर्वत्र पथ में फूल हों।" उर्वशी, पृ. ४०

५५. "एक चारिणी मैं क्या जानूँ स्वाद विविध भोगों का,
मेरे तो आनन्द धाम केवल महर्षि भर्ता है।
योग भोग का भेद अप्सरा की अबन्ध क्रीड़ा है,
गृहणी के तो परम देव आराध्य एक होते है,
जिससे मिलता भोग योग भी हमें वही देता है। उर्वशी, पृ. १०८

५६. रसवन्ती, पृ. १४

५७. नील कुसुम, पृ. १

५८. रसवन्ती, पृ ५७

५९. रसवन्ती, पृ. ५९

६०. नारी की पूर्णता को स्वानु रूप करने में,
करते हैं साकार पुत्र ही माता के सपने को।
बिना पुत्र नारी का सम्यक रूप नहीं खुल पाता है,
जीवन में रमणी प्रवेश करती है माता बनकर।" रसवन्ती, पृ. ५१

६१. वह नारी है केवल उसके ही पाप बधु,
सौन्दर्य शान्ति कविता तीनों का मिश्रण है। सीपी और शंख, पृ. ४०

६२. "यह जाना कीर्ण धरती प्रिय ! निर्जन ही तो है,
तुम नहीं अगर तो गृह विषण्ण वन ही तो है।" वही, पृ. ५९

६३. उर्वशी, पृ. १६१

६४. किन्तु नारियाँ क्रिया नहीं प्रेरणा प्रीति करूणा है,
उद्गम स्थली अदृश्य जहाँ से सभी कर्म उगते हैं। उर्वशी, पृ १६३

६५. संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ. ३५८
६६. रेणुका, पृ. १२
६७. बंधनों से होकर भयभीत ,
किन्तु क्या हार सका अनुराग ।
मानकर किस बंधन का दर्प ,
छोड सकती ज्वाला की आग । रेणुका, पृ. १२
६८. वही, पृ. ४२
६९. वही, पृ. ४७
७०. वही, पृ. ६८
७१. उर्वशी, पृ. ६२
७२. उर्वशी, पृ. ६३
७३. वही, पृ ४९
७४. रूप की आराधना का मार्ग ,
आलिंगन नहीं तो और क्या है ?
स्नेह का सौंदर्य को उपाहार ,
रस चुम्बन नही तो और क्या है ? वही, पृ. ४९
७५. और पुरुष जो आलिंगन में बाँध चुका रमणी को ,
देश काल को भेद गगन में उठने योग्य नहीं है । उर्वशी, पृ. ७७
७६. वही, पृ. ७७
७७. रश्मिरथी, पृ. ४
७८. वही–भूमिका, पृ. १
७९. वही, पृ. १७
८०. रश्मिरथी, पृ. ८५
८१. रश्मिरथी, पृ. ७९
८२. वही, पृ. ८८
८३. वही, पृ. ६३
८४. इतिहास के आँसू, पृ. ४९
८५. आज दीनता को प्रभु की पूजा का भी अधिकार नहीं ,
देव बना था क्या दुखियों के लिये निठुर संसार नहीं ?
धर्म पिशाच की विजय धर्म की पावन ज्योति अदृश्य हुयी ,
दौड़ो बोधिसत्व भारत में मानवता अस्पृश्य हुयी ।"
इतिहास के आँसू, पृ ४८

८६. उठो-उठो कुरीतियों की राह तुम भी रोक दो,
बढ़ो-बढ़ो कि आग में गुलामियों को झोंक दो।
परम्परा की होलिका जला रही जवानियाँ।"
सामधेनी पृ ८४

८७. मन की उमंग पर जंजीरें,
तन ऊपर एक लंगोटी है।
आँखें गड्ढे में घुसी हुयी,
हाथों में सूखी रोटी है।" दिल्ली, पृ. १५

८८. हुंकार, पृ. १५

८९. "धन से मनुष्य का पाप उभर आता है।" परशुराम की प्रतीक्षा-२९

९०. परशुराम की प्रतीक्षा-खण्ड १

९१. कुरुक्षेत्र, पृ. १३३

९२. कोयला और कवित्व, पृ. ५

९३. साहित्यमुखी, पृ. ३

९४. वही, पृ. ३३

७

दिनकर की काव्यकला में युगीन चेतना

१—काव्य और कला का सम्बन्ध—

काव्य और कला का सम्बन्ध विवादास्पद है। इस सम्बन्ध में कई दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। सामान्य अर्थों में काव्य ललित कला के उपभेदों में एक है। इस तरह वह कला का एक अंग विशेष कहा जा सकता है किन्तु वस्तु-स्थिति कुछ और ही है। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने अभिव्यंजना की विधियों को कला की संज्ञा दी है।[1] उनके अनुसार चेतन मनुष्य पर वाह्य सृष्टि की विविध वस्तुओं की छाप पड़ती है तथा उन विभिन्न प्रभावों को अभिव्यक्ति करने की शक्ति का उनमें उन्मेष होता है। अभिव्यक्ति की इसी शक्ति की अनेक विधियाँ कला कहलाती हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास के अनुसार तो कला काव्य की अभिव्यक्ति मात्र है। विभिन्न प्रभाव-प्रसूत भावों का स्वतः निःसृत आवेग काव्य है और उसकी अक्तिव्यक्ति का कौशल, कला। अतः इस दृष्टि से कला काव्य के अन्तर्गत आ जाती है। डॉ० दास का यह मत बहुत कुछ पाश्चात्य कला शास्त्रियों के मत पर अवलम्बित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस अभिमत का विरोध किया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि भारतीय परम्परा में काव्य का क्षेत्र कला से बाहर है।[2] पं० शुक्ल का यह मत भारतीय परम्परा पर आश्रित है।

भारतीय मत—

संस्कृत साहित्यान्तर्गत ज्ञान के दो विभाग किये गये हैं—विद्या और उपविद्या। काव्य को विद्या के अन्तर्गत और कला को उपविद्या के अन्तर्गत रक्खा गया है।[3] संस्कृत के प्रमुख आचार्य भामह ने काव्य के फलों में "वैचक्षण्य कला सुच"[4] बतलाया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि काव्य कला से स्वतन्त्र है। काव्य से कला में 'वैचक्षण्य' प्राप्त होता है, काव्य स्वयं कला नहीं है। इन दोनों के इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिये दंडी के कला सम्बन्धी मत पर भी विचार किया जाना चाहिये। दंडी ने कला को "नृत्य गीत प्रवृत्तयः कला कामार्थ संश्रया"[5] कहकर कला का काव्य से भेद स्थापित किया है। उनकी दृष्टि में कला 'कामार्थ संश्रयाः' (काम के उद्दीपन में सहायक होती है। परन्तु काव्य को कोरा 'कामार्थ संश्रय' कदापि नहीं माना जा सकता है। काव्य के लिये तो भारतीय साहित्य में

बड़ी ऊँची धारणायें हैं। काव्य तो आत्मा की कला है। आत्मा कामार्थ संश्रय रूपिणी नहीं होती। वह तो 'रसोवैसः' रूपिणी है।[६] निष्कर्ष रूपेण हम कह सकते हैं कि भारतीय मान्यतान्तर्गत कला एक लौकिक रंजन की वस्तु मात्र है जबकि काव्य आत्मा की अभिव्यक्ति होने का कारण अलौकिक। कला का आनन्द कुछ स्थूल और बाह्य कहा जा सकता है। उसमें चमत्कार मूलक क्षणिक अवमादन और प्रसादन की प्रधानता रहती है। यही कारण है कि भारत में कला का लक्ष्य किसी वस्तु के प्राण को बल प्रदान करना नहीं उसके स्वरूप को संवारना मात्र समझा जाता है। क्षेमराज ने 'शिव सूत्र विमर्शिनी' में इस हेतु कला को वस्तु का रूप संवारने वाली विशेषता कहा है।[७]

भारतीय दृष्टि में कला काव्य की अपेक्षा कुछ हेय समझी गयी है। यही कारण है कि विदग्ध पुरुषों या स्त्रियों की शिक्षा के सम्बन्ध में जिन ६४ कलाओं का नामोल्लेख हुआ है उनके अन्तर्गत काव्य को स्थान न देकर केवल समस्या-पूर्ति को लिया गया है। समस्या-पूर्ति का सम्बन्ध वस्तुतः बुद्धि से अधिक और हृदय से कम होता है। इससे तो यही प्रकट होता है कि भारतीय विद्वान कला का सम्बन्ध विशेष कर बुद्धि से मानते है, किन्तु काव्य का हृदय और आत्मा से।

भारत में कला को केवल काव्य से ही भिन्न नहीं माना गया है, उसे ज्ञान, शिल्प और विद्या से भी भिन्न कहा गया है। भरतमुनि के अनुसार—"नतत ज्ञानं च ततशिल्प न सा विद्या न सा कला।"[८] भरत मुनि की इस उक्ति की व्याख्या करते हुये अभिनव गुप्त ने कला का स्पष्टीकरण 'गीत वाद्यादिका' अर्थात कला गाने बजाने आदि को कहते हैं, लिखकर किया है। इन सभी तर्कों एवं प्रमाणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में कला शब्द केवल 'फाइन आर्ट' के लिये प्रयुक्त हुआ है। अतः इसका अस्तित्व काव्य से भिन्न है।

पाश्चात्य मत—

कला और काव्य के सम्बन्ध में भारत से भी अधिक विवेचन पाश्चात्य देशों में हुआ है। प्लेटो, अरस्तु, टालस्टाय, रस्किन, गेटे, फ्रायड, ग्लेमेल, क्रोचे आदि चिंतकों ने इस पर विचार किया है जिनमें मुख्य विचारकों के विचारों का उल्लेख करना आवश्यक है।

प्रसिद्ध मनीषी प्लेटो ने सर्वप्रथम कला को अनुकरण माना। उन्होंने कला को प्रतीक व्यंजना कहा है। उनके अनुसार कला केवल प्रतिकृति स्थापना मात्र नहीं है। वे उसे प्रकृति का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव मानते हैं।[९] आगे चलकर इसी पथ के अनुयायी हुये हैं अरस्तु। उन्होने कला का प्रत्यक्ष नाम तो नहीं लिया है किन्तु काव्य, नाटक वेणुवादन, तन्त्रीनाद आदि को अनुकरण कहा है।[१०]

पाश्चात्य विद्वानों का एक अन्य वर्ग है जो कला को एक तरह से आत्माभिव्यक्ति मानता है। उस वर्ग में टालस्टाय का नाम अग्रगण्य है। उनके अनुसार कला की प्रक्रिया अपने हृदय में उठीं भावनाओं की अनुभूति को क्रिया, रेखावर्ण, ध्वनि शब्द आदि के सहारे दूसरे के हृदय तक पहुँचा देना है।[११] इसी परम्परा में क्रोचे का नाम भी आता है जो प्रत्येक कला को अभिव्यक्ति मानते हैं।[१२] उन्होंने कला के क्षेत्र में केवल सांचा (फोर्म) के महत्व को स्वीकार किया है, सामग्री (मैटर) को नहीं।[१३] क्रोचे के इस अभिमत ने कटु विवाद के उपरान्त भी एक लम्बी परम्परा देखी है। कला के क्षेत्र में अभिव्यक्ति-कौशल को महत्व देने वाले भारतीय विद्वान भी इसी परम्परा से प्रभावित हैं।

विद्वानों का एक तीसरा वर्ग भी है जो कला को सौन्दर्य का अभिव्यक्तिकरण मानता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर, ब्लैक, स्पेन्सर आदि इसी कोटि में आते हैं। रवीन्द्रनाथ के अनुसार तो जो सत्य है, जो सुन्दर है वही कला है।[१४] सौन्दर्य का एक गुण आनन्द भी है जिसका समावेश इस परिभाषा में नहीं है। स्पेन्सर ने इसे भी समेट लिया है। उनके अनुसार जिस कला द्वारा मन को शान्ति की अनुभूति होती है, वह सौन्दर्य है। सौन्दर्य एक भावना है जिसे हम चेतना तक लाकर सजोते है।[१५] यहाँ यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि रवीन्द्रनाथ का नाम पाश्चात्य विद्वानों की कोटि में इसलिये रक्खा गया है क्योंकि वे कला की व्याख्या में पाश्चात्य मत के अधिक निकट हैं।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने कला को वासना (सेक्स) की दृष्टि से स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार कला हृदय की दबी हुयी वासनाओं का उभरा हुआ रूप है।[१६] प्रभावात्मक न प्रतीत होते हुये भी फ्रायड के इस अभिमत में सत्य का अंश अधिक है। दैनिक जीवन में संकोच के कारण, सामाजिक मर्यादाओं के कारण जिन बातों को व्यक्त करने में असमर्थता होती है कलाकार नि.संकोच भाव से उन्हें अपनी कला में व्यक्त कर देता है।

निष्कर्ष —

उपरोक्त भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के अभिमतों को अलग रख कर अगर कला और काव्य के सम्बन्ध की मीमांसा की जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि आज के युग में काव्य के क्षेत्र में कला का तात्पर्य केवल अभिव्यक्ति कौशल से लिया जा रहा है। अपने विस्तृत अर्थ में काव्य कला का एक उपभेद अवश्य है, किन्तु आज इस अर्थ में कला का प्रयोग नहीं होता। आज का अर्थ केवल अभिव्यक्ति कौशल से सम्बन्धित रह गया है। इस सम्बन्ध में मेरी निश्चित धारणा है कि प्रत्येक शास्त्रीय शब्द का व्यावहारिक अभिप्राय युगीन मान्यताओं के साथ बदलता रहता है। प्राचीन

युग में भारतीय साहित्य शास्त्र में इसकी चाहे जो भी मान्यता रही हो इसका अभिप्राय चाहे जो भी रहा हो, किन्तु आज के इस प्रयोगशील युग तक आते-आते अब कला शब्द का अभिप्रायः रचना कौशल तक ही सीमित रह गया है। अतः इस दृष्टि से तो कला काव्य का एक अंग विशेष हो जाती है। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने कला के सम्बन्ध में इसी अर्थ को ग्रहण किया है।[१७] राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त ने भी साकेत के पंचम सर्ग में कला का अभिप्रायः इसी संदर्भ में लिया है—

"अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला।"[१८]

अब यहाँ एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या काव्य और कला के बीच कोई विभाजक रेखा खींची जा सकती है? मेरा विचार है कि दोनों दो होकर भी एक दूसरे के इतने निकट हैं कि दोनों को अलग करने का प्रयास व्यर्थ होगा। युग से प्रेरणा प्राप्त कर कवि का भाव संचयन होता है। ये ही संचित भाव जब शब्द बद्ध होकर अन्य के हृदय को भी प्रभावित करने चलते हैं तो काव्य का सृजन होता है। प्रायः देखा जाता है कि प्रत्येक कवि अपने भावों की अभिव्यक्ति किसी विशेष कौशल से करके उचित को अधिक प्रभावशाली बनाने का प्रयास करता है। यही कौशल कवि का व्यक्तित्व भी होता है। इसी कौशल के कारण एक ही भावधारा के अनेक कवि एक दूसरे से पृथक प्रतीत होते हैं। सभी कवियों के काव्य-व्यक्तित्व एक दूसरे से भिन्न हो जाते हैं। युग विशेष का काव्य-कौशल भी विशेष होता है। फिर भी एक ही युग और एक ही भावधारा के कवियों में भी पर्याप्त भिन्नता होती है। इस भिन्नता को लाने के गुरुतर दायित्व की समस्त भूमिका का निर्वाह यही कौशल करता जिसका दूसरा नाम आज कला है। काव्य से इस तत्व का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक दूसरे को पृथक करने का अर्थ होगा दोनों के अस्तित्व को समाप्त करना। दोनों के सम्मिलित स्वरूप से ही प्राणतत्व की सृष्टि हो पाती है। निष्कर्ष यह कि कवियों के भावातिरेक को काव्य-संज्ञा दिलाने का साराश्रेय इस 'कला' को है। इस दृष्टि से यह काव्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है।

दिनकर के काव्य में परम्परागत काव्य शिल्प—

परम्परागत काव्य शिल्प से यहाँ तात्पर्य उस प्राचीन काव्य लेखन परिपाटी से है जिसका विवेचन हमारे साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत हुआ है। भारतेन्दु युग से पूर्व हिन्दी काव्य की जो परिपाटी थी उसमें युगानुरूप परिवर्तन हुआ। युग परिवर्तन के साथ ही काव्य-शिल्प में भी परिवर्तन आया। साकेत, प्रिय प्रवास, कामायनी आदि की रचना उस परिपाटी पर नहीं हुयी जिस पर पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, रामचरित मानस आदि की रचना हुई थी। युग चेतना ने जहाँ काव्य के भाव पक्ष में क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रस्तुत किया वहीं शिल्प में भी।

दिनकर ने श्रव्य काव्य के भेद—प्रबन्ध और मुक्तक दोनों ही शैलियों में रचना की है। युग-परिवर्तन को इन्होंने सचेत कवि की तरह खुली आँखों से देखा है। फलतः युग के समस्त परिवर्तनों के चिह्न इनके काव्य में प्रकट हुये हैं। क्या भाव और क्या शिल्प दोनों ही में कवि ने युगचेतना को प्रमुखता दी है। कवि के परम्परागत शिल्प में भी आधुनिकता का स्वरूप प्रकट हुआ है। दिनकर का काव्य प्राचीनता और नवीनता का संगम बन गया है। अतः सर्व प्रथम हम दिनकर के उस कला कौशल पर विचार करेंगे जो परम्परित है। फिर उनकी कविता में नवीनतम आधुनिक शिल्प के प्रयोग पर विचार करेंगे।

(क) दिनकर की प्रबन्ध पटुता :

प्रबन्ध-काव्य श्रव्य-काव्य का एक भेद है। यह सर्गबद्ध कथात्मक काव्य होता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्ध काव्य को परिभाषित करते हुये लिखा है—"प्रबन्ध काव्य में मानवजीवन का पूर्ण दृश्य होता है। उसमें घटनाओं की संबद्ध शृंखला और स्वाभाविक क्रम के ठीक ठीक निर्वाह के साथ हृदय को स्पर्श कराने वाले—उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले—प्रसंगों का समावेश होना चाहिये। इतिवृत्त मात्र के निर्वाह से रसानुभव नहीं कराया जा सकता।[19] प्रस्तुत परिभाषा के अन्तर्गत प्रायः सभी आवश्यक बातों को समेट लिया गया है। अस्तु, किसी भी प्रबन्ध के अन्तर्गत निम्नलिखित विशेषताओं का होना आवश्यक है–

१. मानव जीवन का पूर्ण दृश्य,

२. घटनाओं का स्वाभाविक क्रम और उनकी संबद्ध शृंखला,

३. अनेक भावों के रसात्मक अनुभव कराने वाले सरस प्रसंग।

जिस किसी भी प्रबन्ध में ये तीन विशेषताये पायी जाँय उसे उच्च कोटि का प्रबन्ध माना जाना चाहिये।

प्रबन्ध काव्य के मुख्य दो भेद होते हैं—महाकाव्य और खण्ड काव्य। दिनकर ने कुल चार प्रबन्धों की रचना की है जिनमें 'कुरुक्षेत्र' को महाकाव्य, 'रश्मिरथी' को खण्ड काव्य, 'उर्वशी' को गीति नाट्य और 'परशुराम' की प्रतीक्षा' को प्रसग मुक्तक कहा जाता है। अतः इन चारों ही प्रबन्धो का अलग-अलग विवेचन कर इनकी कोटि का निर्धारण हम करेंगे।

कुरुक्षेत्र का महाकाव्यत्व :

महाकाव्य की शास्त्रीयता पर प्राचीन आचार्यों से लेकर आज तक विचार

होता आया है। प्राचीन ग्रन्थों में 'अग्निपुराण'[20] में इसकी शास्त्रीयता पर विचार हुआ। काव्यादर्श में आचार्य दण्डी ने भी महाकाव्य के लक्षणों पर विचार किया।[21] किन्तु, उनमें अधिकांश वे ही लक्षण हैं जिनका उल्लेख अग्नि पुराण में हुआ है। इसी तरह भामह, रूद्रट, हेमचन्द्र आदि ने भी महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किये हैं। फिर, आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण के श्लोक ३१५ से ३२७ तक महाकाव्य की शास्त्रीयता पर गंभीर अध्ययन प्रस्तुत करते हुये इसके बाह्य और आन्तरिक लक्षणों पर सविस्तार प्रकाश डाला है। सस्कृत साहित्य शास्त्र में दिये गये लक्षणों को ध्यान मे रखते हुये डा० भागीरथ मिश्र ने महाकाव्य के सात प्रमुख लक्षण गिनाये है—"कथा वस्तु और उसका संगठन, नायक, रस, छंद, वर्णन, नाम और उद्देश्य।[22] मिश्रजी द्वारा गिनाये गये इन सात लक्षणो मे पाश्चात्य महाकाव्यीय लक्षणो को भी समेट लिया गया है।

अब यहा एक प्रश्न उठता है कि क्या ये लक्षण देशकाल की सीमा से बाहर है? क्या, आधुनिक युग के महाकाव्यों की परीक्षा इन लक्षणो के आधार पर की जाये तो ये महाकाव्य के गरिमामय पद पर आसीन हो सकेंगे या एकांगी प्रमाणित होंगे? वस्तुस्थिति तो यह है कि ये लक्षण महाकाव्य के बाह्य अग से मुख्य रूपेण सबधित है। महाकाव्य की आत्मा तो उसके औदात्य मे वसती है। इस प्रसग मे डा० श्यामसुन्दरदास का अभिमत उद्धृत करना उचित होगा। उन्होने लिखा है 'महाकाव्य में एक महान उद्देश्य का होना आवश्यक है। सस्कृत के साहित्य शास्त्रो मे महाकाव्य के आकार-प्रकार और वर्ण्य-विषय के सबंध में बड़ी जटिल और दुरूह व्याख्याएँ की गई है जिनको आधार लेकर लिखने से बहुत से महाकाव्यो के शरीर अब सगठित हो गये हैं, पर उनमे बहुत थोड़े ऐसे है जो आत्मा के किसी उदात्त आशय, सभ्यता या सस्कृति के किसी युग प्रवर्तक संघर्ष अथवा समाज को किसी उद्वेग जनित स्थिति को लेकर किसी प्रकांड विचारक और कवि द्वारा लिखे गये हों जिन्हें जातीय इतिहास मे अनिवार्य स्थान सुलभ हो सके।[23] डा० श्याम सुन्दर दास ने यहाँ उसी औदात्य की ओर सकेत किया है जो किसी भी महाकाव्य का प्राण होता है। डॉ० दास की तरह डॉ० नगेन्द्र ने भी इस समस्या पर गंभीरता से विचार किया है। कामायनी के महाकाव्यत्व के संदर्भ में इन्होंने लिखा—"स्वदेश विदेश के काव्य शास्त्र मे निर्दिष्ट महाकाव्यों के लक्षणों की गणना प्रस्तुत सदर्भ मे कदाचित अधिक सार्थक न होगी। इसी लिये मै महाकाव्य के उन्ही मूल तत्वों को लेकर चलूंगा जो देशकाल सापेक्ष नहीं है, जिनके अभाव में किसी भी देश अथवा युग की कोई रचना महाकाव्य नहीं बन

सकती और जिनके सद्भाव में परम्परागत शास्त्रीय लक्षणों की बाधा होने पर भी किसी कृति को महाकाव्य के गौरव से वंचित नहीं किया जा सकता। ये मूल तत्व हैं—उदात्त कथानक, उदात्त कार्य या उद्देश्य, उदात्त चरित्र, उदात्त भाव और उदात्त शैली।"[24] डॉ० नगेन्द्र के इस अभिमत में विस्तार की पूर्ण गुंजाइश है। इसमें महाकाव्य के भावगत, विचारगत, कल्पनागत और शैलीगत औदात्य का स्वतः समावेश हो गया है।

लक्ष्य ग्रन्थ के पश्चात् ही लक्षण ग्रन्थों का निर्माण होना चाहिये। लक्ष्य ग्रन्थों के निर्माण में युग चेतना की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। फलतः युगानुकूल ही साहित्य सृजन की मान्यतायें भी बदलती जाती है। अतः लक्षण ग्रन्थों की मान्यताओं की मर्यादा प्रत्येक युग में सम कैसे रह सकती है? साथ ही सत्कवि तो पूर्व परम्परित मार्ग का अनुगमन करता भी नहीं है। वह तो अपना मार्ग स्वतः बनाता है जो पूर्णतः अभिनव होता है। फिर, युगानुकूल परिवर्तित लक्ष्य ग्रन्थो के आधार पर प्रणीत लक्षण ग्रन्थों की मर्यादा सर्वकालीन और सार्वभौमिक रहे तो कैसे? इसो हेतु आवश्यक हो जाता है कि हम केवल उन्ही लक्षणों को आधार रूप में स्वीकार करें जो देशकाल निरपेक्ष हों। डॉ० नगेन्द्र द्वारा दिये गये महाकाव्यीय औदात्य के इन पांच लक्षणों में किसी भी सीमा का कठोर बन्धन नही है और न काव्योचित सहज उद्वेग का नियमन। अस्तु, इन्ही पांच शीर्षको के अन्तर्गत हम कुरुक्षेत्र के महाकाव्यत्व की परीक्षा करेंगे।

उदात्त कथानक

कथानक का तात्पर्य है घटनाओं का समन्वय। तात्पर्य यह कि उदात्त कथानक में उदात्त घटनाओं का समन्वय होना आवश्यक है। अब प्रश्न यह है कि घटनाओं की महत्ता का मापदण्ड क्या हो? मेरी समझ से घटनाओं का प्रबल प्रभाव और देशकाल में विस्तार ही उसकी महत्ता के सूचक हैं। साथ ही उन घटनाओं का स्वरूप भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से रचनात्मक होना चाहिये। उनकी परिणति मंगलमयी होनी चाहिये। इस आधार पर तो कुरुक्षेत्र की कथावस्तु में उदात्तता का अभाव नहीं है। यद्यपि बुद्धिप्रधान ग्रन्थ होने के कारण घटनाओं के संयोजन पर कवि का विशेष ध्यान नहीं रहा है किन्तु उसके मंगलमय प्रभाव के संबंध मे तो विरोध हो ही नहीं सकता। युद्ध की भीषणता से बचने के उद्देश्य से ही युद्ध के कारणों पर कवि ने इसमें विचार किया है। विश्वयुद्ध की विभीषिका ही इस ग्रंथ की मूल भूमिका रही है।[25] कहने का तात्पर्य यह कि कवि का दृष्टिकोण यहाँ मानव कल्याण के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं है। उन्होंने मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु[26] की कल्पना की है। परम्परागत महाकाव्यों की घटनाओं

की भाँति उनका विस्तार भौतिक जगत में लक्षित नहीं होता—उनका विस्तार है मानव चेतना के अन्तर्गत। यद्यपि घटना की दृष्टि से उसके कथानक को हम अत्यन्त छोटा पाते हैं। किन्तु इस छोटे से कथानक में ही अपूर्व आयाम है। यह केवल किसी महापुरुष की जीवन गाथा नहीं है। उस युग की एक विशिष्ट समस्या के निदान की कथा है। इस तरह इसे तो हम मानव कल्याण की विशुद्ध गाथा कह सकते हैं। इस महाकाव्य के इस लघु पर विशिष्ट कथानक के निर्माण में भी दिनकर ने युग को ही प्रधानता दी है। युग चेतना को ही स्वर दिया है। द्वितीय विश्व युद्ध से उत्पन्न समस्या का ही कवि ने यहाँ निदान खोजा है। धर्मराज और भीष्म का संवाद केवल युग द्वन्द्व है जिससे प्रत्येक मस्तिष्क पीड़ित है। अस्तु, कथानक यद्यपि स्वयं में लघु है, किन्तु इसकी विशिष्टता इसकी उदात्तता में सन्निहित है।

उदात्त कार्य

कार्य के अन्तर्गत ही महाकवि के उद्देश्य की चर्चा होनी चाहिये। कुरुक्षेत्र-रचना का उद्देश्य सद्यः युग प्रसूत है। विश्व में वैषम्य के कारण अशान्ति है।[27] यही अशांति युद्ध की भूमिका है। कवि चाहता है कि वर्गगत ये वैषम्य सदा के लिये मिट जाये और युद्ध से मानवता को त्राण मिले। इसी प्रसंग में कवि विज्ञान की उपादेयता पर भी विचार करता है क्योंकि विज्ञान के प्रलयंकारी रूप का नग्न नर्तन उसने हिरोशिमा में देखा है। अतः इसी प्रसंग में कवि उद्घोष करता है कि अगर विज्ञान विध्वंशकारी तलवार प्रमाणित हो तो यथा शीघ्र हो उसे उठा कर दूर फेंक दो।[28] कवि संस्कृति, राजनीति और विज्ञान सब का समन्वय चाहता है जिससे मानव कल्याण संभव और सुलभ हो सके। उसे विश्वास है कि इस तरह युग की इस भीषण समस्या का स्वतः समाधान हो जायगा। इसके अतिरिक्त दिनकर ने कुरुक्षेत्र में पलायनवाद का खण्डन कर कर्म की प्रतिष्ठा की है। जीवन से निराश युद्ध के भीषण परिणाम से संतप्त धर्मराज के हृदय को भाषा के द्वारा सान्त्वना दिलाकर उन्हें संन्यास पथ का गामी होने से बचाया गया है। कर्म की शिक्षा इस ग्रन्थ की एक अन्यतम विशेषता है।[29] इस प्रकार कुरुक्षेत्र में वर्तमान के आधार फलक पर दिनकर ने युग की मूल समस्या का चिरंतन समाधान प्रस्तुत किया है जो सामयिक होकर भी शाश्वत है। सामयिक और सार्वकालिक, एक देशीय तथा सर्वदेशीय का एकीकरण महाकाव्य का प्रमुख लक्षण है जिसका निर्वाह जिस भव्य रूप में कुरुक्षेत्र में हुआ है, वैसा कामायनी के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं। इस प्रकार कुरुक्षेत्र

का कार्य सर्वथा उदात्त है। इसमें पूर्ण गरिमा और विराट आयाम है।

उदात्त भाव

उदात्त भाव का तात्पर्य अंगीरस से है। महाकाव्य के लिये इसका विधि पूर्वक विधान किया गया है। अंगीरस के मुख्य प्रतिबन्धों को डॉ० सावित्री सिन्हा ने ४ भागों में विभाजित किया है।

१. अंगीरस में निरन्तर व्याप्ति आवश्यक है।

२. अंगीरस को कृति के मूल प्रभाव का व्यंजक होना चाहिये।

३. प्रधान पात्र में उसका प्राधान्य होना चाहिये।

४. उसी के माध्यम से उद्देश्य की व्यंजना होनी चाहिये।[30]

उपरोक्त आधारों पर प्रस्तुत आलोच्य ग्रंथ में अंगीरस का विकास नहीं हुआ है। और, वह संभव था भी नहीं क्योंकि इस ग्रंथ में एक समस्या के दो पहलू एक साथ चलते हैं और प्रायः उसका विकास भी एक ही पात्र के द्वारा होता है। इसमें शौर्य, और क्षमा, ओज और करुणा का समन्वित रूप दृष्टि गोचर होता है। यही कारण है कि किसी एक अंगीरस का स्रोत निकाल पाना यहां असंभव है। और, यह अकारण भी नही कहा जा सकता। कुरूक्षेत्र की रचना जिस युग में जिस द्वन्द्व के अन्तर्गत हुई उसमें अंगीरस प्रधान काव्य रचा जाना संभव था भी नहीं। इसी सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए डॉ० सावित्री सिन्हा ने लिखा है—"कुरुक्षेत्र के मूल प्रभाव की व्यंजना किसी रस की निरन्तर व्याप्ति उद्देश्य इत्यादि का उत्तर देने के लिये हमें एक नयी दृष्टि से विचार करना होगा और परम्परागत रस विधान के चौखटे से बाहर निकलना होगा।"[31] डा० सिंहा की मान्यता औचित्य पूर्ण है, क्योंकि कुरुक्षेत्र के कवि का राग बुद्धि सम्पुष्ट है। उसके सामने जो समस्या है उस पर विचार करते समय रस निष्पत्ति की निमग्नता आ ही नहीं सकती। इसका आनन्द दृश्य को नहीं मस्तिष्क को मिलना चाहिये। यह तो कवि की नियोजित योजना थी। समस्या प्रधान रचना के कवि को उतना अवकाश कहाँ कि समस्या से दूर हट कर रसमग्नता लाने के हेतु एवं शास्त्रीयता के निर्वाहार्थ किसी अंगीरस का आदि से अन्त तक विधान करे। इस दृष्टि से भी हमें इस महाकाव्य के महत्त्व को स्वीकारना चाहिए।

उदात्त चरित्त

कुरूक्षेत्र न तो कथा प्रधान काव्य है और न चरित प्रधान। यही कारण है

कि कुरुक्षेत्र में पात्रों का बाहुल्य नहीं है। केवल भीष्म और युधिष्ठिर के द्वारा ही कवि ने अपने उद्देश्य की पूर्ति का समग्र कार्य सम्पादन करा लिया है। एक तो यहाँ केवल ये दो ही पात्र हैं दूसरे घटनायें भी सत्याश्रित ही हैं। साथ ही सम्पूर्ण महाकाव्य में ऐसा लगता है जैसे किसी आश्रम में या वाचनालय में दो प्रतिपक्षी अपने २ पक्षों में तर्क वितर्क प्रस्तुत कर रहे हों। कहने का तात्पर्य यह कि महाकाव्य या प्रबन्ध के लिए जिस जीवनगत वैविध्य की अपेक्षा होती है, उसका यहाँ सर्वथा अभाव है और इन दोनों पात्रों का चरित भी सुविकसित नहीं है। केवल एक उद्देश्य को लेकर तार्किक की तरह दोनों पात्रों को प्रस्तुत किया गया है।

उपरोक्त कथन के औचित्य पर प्रकाश डालते हुये आलोचक प्रवर नलिन विलोचन शर्मा ने लिखा है "कुरुक्षेत्र के भीष्म और युधिष्ठिर दिनकर के आभ्यान्तर स्वलाप के दोनों पक्षों के प्रतीक हैं।" महाभारत के लक्षाधिक श्लोकों के बहुलाश में वर्णित और शताब्दियों से भारतीय पाठकों के लिए सुपरिचित प्रतीक के रूप में घटा देना एक असंभव कार्य है। भीष्म और युधिष्ठिर कवि के लिये उन कठपुतलियों का काम नहीं दे सकते जिनके सहारे छद्मालायक विश्वासोत्पादक वातावरण तैयार कर लेता हैं। इसीलिये "काव्यस्यैक देशानुसारि" काव्य में वृत ख्यात होने के बदले कल्पित ही होता है। इस प्रकार के काव्य में रस को छोड़कर वस्तु या पात्रों के विकास के लिए अवसर ही कहाँ रहता है।[52]

उपरोक्त-उद्धरण से कवि के इस औचित्य पर अच्छा प्रकाश पड़ता है कि इस महाकाव्य में पात्रों का विकास क्यों नहीं संभव हो सका है। कवि का लक्ष्य तो कुछ और ही था। वे समस्या प्रधान काव्य की रचना करने जा रहे थे जिसका निदान उ हें खोजना था। अस्तु, इस समस्या का समाधान इन्हीं दोनों पात्रों की इसी स्थिति में संभव भी था। इसी हेतु कुरुक्षेत्र के रस प्रतिपादन का प्रश्न विवादास्पद है। कुरुक्षेत्र के लक्ष्य की ओर सकेत करते हुए तो प्रो. जगन्नाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है—"प्रवृत्ति और निवृत्ति, बुद्धि एवं भावना, प्रेम और कठोर नीति, हिंसा और अहिसा तथा आत्मबल और बाहुबल के बीच जो शाश्वत संघर्ष आदि काल से चला आ रहा है उसका चित्रण तो इस काव्य में है ही, आज के युग के युद्ध और शान्ति, व्यक्ति-धर्म और समाज धर्म, भाग्यवाद और कर्मवाद, विज्ञान और अध्ययन तथा भोग एवं त्याग के आदर्श संधान का भी चित्रण किया गया है।[33]

इन समस्त समस्याओं के वैचारिक मंथन के लिये आवश्यक था कि कम पात्रों की योजना हो और वे पात्र प्रौढ़, गूढ़, गभीर, तत्त्ववेत्ता तथा आदर्शमय गुणों से

युक्त हों । भीष्म और युधिष्ठिर ऐसे ही पात्र हैं जिनके औदात्य में कहीं भी सदेह नहीं है । इन्हीं दोनों औदात्यपूर्ण पात्रों के विचार मंथन का प्रतिफल विभिन्न समस्याओं के निदान रूप में यहाँ प्रस्तुत हुआ है । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में—"युधिष्ठिर और भीष्म दोनों के ही वेदना विक्षुब्ध हृदयसागर को मथ कर कवि ने अनिवर्चनीय रस निकाला है ।[34]

उपरोक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि पात्र संख्या केवल दो है और उनके चरित्र का भी विकास उस क्रम में नहीं हुआ है जिसमे मानव जीवन के चारित्रिक वैविध्य का समावेश हो सके, किन्तु उन दोनो ही पात्रों के चरित्र में कोई भी ऐसी त्रुटि नही है जो उनके औदात्य पर आँच आने दे । इतनी बडी शाश्वत समस्याओं के निदान प्रस्तुत करने वाले पौराणिक पात्र भीष्म और युधिष्ठिर दोनों ही आदर्शमय चरित्र है इसमे दो मत नही हो सकते। आधुनिक विचारधारा के प्रतीक होने के उपरान्त भी उन दोनो के आदर्शमय चरित्र पर कोई संदेह नहीं किया जा सकता । आधुनिक भावधाराओं के संबाहक होने के कारण उनका औदात्य और भी बढ़ गया है ।

उदात्त भाषा

भाषा के औदात्य से तात्पर्य उसकी सारगर्भित अभिव्यक्ति-शक्ति से है जो भावनाओं के योग्य वातावरण प्रस्तुत करने में समर्थ हो । कुरुक्षेत्र की भाषा इस दृष्टि से प्राय: समस्त दिनकर-साहित्य मे श्रेष्ठ है । 'उर्वशी' को छोडकर दिनकर की सी भाषा का औदात्य हम केवल प्रसाद की 'कामायनी' में पाते है । कुरुक्षेत्र की भाषा की प्रशंसा करते हुये प्रो. कामेश्वर शर्मा ने लिखा है—"कुरुक्षेत्र मे दिनकर की भाषा इतनी वेगपूर्ण है कि पाठक उसमें बहता हुआ विचारो के यत्र-तत्र पड़े चट्टानों पर वजरता हुआ दह जाता है । कुरुक्षेत्र हिन्दी-साहित्य का गौरव न भी हो पर जैसा कि हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है—"यह हमारी भाषा का गौरव है ।[35] चाहे शब्दशक्ति की दृष्टि से परीक्षा की जाये या गुण एवं रीति की दृष्टि से, चाहे अलंकार-योजना देखी जाये या छंदसौष्ठव–कुरुक्षेत्र की भाषा सर्वत्र औदात्य के अत्युच्च सिंहासन पर प्रतिष्ठित मिलेगी ।

कुरुक्षेत्र के भाषागत औदात्य की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि यह उर्वशी की भाषा की तरह सर्वत्र आलंकारिक नहीं है । शुद्ध और परिमार्जितहो ने के उपरान्त भी इसकी बोधगम्यता प्रशंसनीय है । छायावाद की दुरुहता को त्याग कर

उसकी भाषागत सारी विशेषतायें दिनकर ने इस गरिमामय काव्य में भर दी हैं। इसीलिये कहा गया है कि "दिनकर का कुरुक्षेत्र वर्णन और भाषा की दृष्टि से युद्धोत्तरकालीन विश्वसाहित्य में संभवत: सर्वाधिक सशक्त एवं सप्राण युद्ध विषयक काव्य है।[36] अस्तु, भाषागत औदात्य की दृष्टि से भी प्रस्तुत महाकाव्य सर्वगुण सम्पन्न है। विचार-मंथन की क्रीड़ा भूमि कुरुक्षेत्र की भाषा भावों के वहन में पूर्ण सफल रही है।

निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कुरुक्षेत्र को एक सफल आधुनिक महाकाव्य कहा जाना चाहिये। अगर 'साकेत' और 'कामायनी' को महाकाव्य की संज्ञा दी जा सकती है तो कुरुक्षेत्र भी एक उच्च कोटि का महाकाव्य कहा जा सकता है जिसमें सर्वत्र औदात्य का सफल समावेश हुआ है। वर्णन, चिन्तन और भाषा की दृष्टि से तो इसकी जितनी प्रशंसा की जाये थोड़ी है। "कुरुक्षेत्र युगाधार पर परखने वाला विचार और विश्लेषण पर आधारित महाकाव्य है, जिसमें मानवता की उदात्त भावना, मानवीयता, जीवन दर्शन और शैलीगत प्रवाह आदि सभी लक्षण पूरी तरह पाये जाते है।"[37]

आलोचकों का एक वर्ग ऐसा है जो कुरुक्षेत्र को महाकाव्य नहीं मानता है। डॉ० नगेन्द्र, जिन्होंने कामायनी के महाकाव्यत्व की परीक्षा करते हुये परम्परावादी दृष्टिकोण को तिलांजलि दी है और महाकाव्यत्व की अभिनव कसौटी का निर्माण किया है वे भी कुरुक्षेत्र को महाकाव्य न मानकर एक लम्बी चिंतन प्रधान कविता मानते हैं।[38] अपने को और भी स्पष्ट करते हुये उन्होंने कुरुक्षेत्र को एक विचार प्रधान प्रबन्ध मात्र माना है।[39] डॉ० नगेन्द्र यहाँ कवि के विचार से प्रभावित प्रतीत होते हैं। स्वयं कवि ने कुरुक्षेत्र-रचना के विषय में कहा है—"मुझे जो कुछ भी कहना था वह युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठाये बिना भी कहा जा सकता था। किन्तु, तब यह रचना प्रबन्ध के रूप में न उतरकर मुक्तक बन गयी होती।[40] संभव है डॉ० नगेन्द्र ने कवि के इसी दृष्टिकोण का समर्थन किया हो अन्यथा काव्य-शास्त्र की परम्परावादी कसौटी पर तो इसके प्रबन्धत्व पर भी प्रश्न चिन्ह लग सकता है। इसकी प्रबन्धात्मकता न तो घटनाओं पर केन्द्रित है और न चरित्र चित्रण पर ही। कवि ने कथ्य के अनुकूल घटनाओं और पात्रों का चयन किया है। सत्य तो यह है कि ये घटनायें भी स्मृत्याश्रित ही हैं। जीवन के उस वैविध्य का भी इसमें अभाव है जिसकी एक प्रबन्ध में अपेक्षा की जा सकती है। इस

तरह इसे एक सफल प्रबन्ध कहना भी उचित नही होता। हाँ, ग्रन्थ में आदि से अन्त तक जिस औदात्य का निर्वाह हुआ है उस आधार पर कुरुक्षेत्र को एक आधुनिक महाकाव्य ही मानना उचित होगा। महाकाव्य तो प्रबन्ध का एक भेद होता है। कवि और डॉ० नगेन्द्र दोनों ने इसे एक प्रबन्ध माना है—यह कथन कुरुक्षेत्र के महाकाव्यत्व का विरोधी नहीं है। आधुनिक महाकाव्यों में जो परम्परागत शास्त्रीयता का उल्लंघन है और औदात्य का समर्थन—कुरुक्षेत्र में ये दोनों ही पक्ष सबल हैं। युग की इन बदलती हुयी मान्यताओं के आधार पर 'रामचरित मानस' और 'पद्मावत' जैसे महाकाव्य की रचना नहीं हो सकती थी। कामायनी-युग का कवि 'कुरुक्षेत्र' की रचना में 'पृथ्वीराज रासो' से प्रेरणा नहीं ले सकता है। अस्तु, 'कुरुक्षेत्र' का महाकाव्यत्व युगानुकूल है, युग सापेक्ष्य है। इसे कामायनी की परम्परा का एक विकासोन्मुख महाकाव्य कह सकते है।

रश्मिरथी— एक खंड काव्य

रश्मिरथी में प्रबन्धत्व कुरुक्षेत्र की अपेक्षा अधिक सशक्त है। इसमें परम्परागत प्रबन्धत्व के सभी अनुबन्धों की पूर्ति हुयी है। परम्परा के अनुसरण की बात को इसकी भूमिका में स्वयं कवि ने भी स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है— "बात यह है कि कुरुक्षेत्र की रचना कर लेने के बाद ही मुझमें वह भाव जागा कि मै कोई ऐसा काव्य लिखूँ जिसमें केवल विचारोत्तेजकता ही नहीं, कथा, संवाद और वर्णन का भी महात्म्य हो। स्पष्ट ही उस मोह का उदगार जो मेरे भीतर उस परम्परा के प्रति मौजूद रहा है जिसके सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रकवि श्री मैथिली शरणजी है।[41] कवि के ऐसे कथन पर आक्षेप करते हुये प्रो० कामेश्वर शर्मा ने रश्मिरथी की भूमिका को फाड़ फेंकने की सलाह दी है क्योंकि वे इस भूमिका को भ्रामक मानते हैं।[42] उन्होंने अनुबन्ध की दृष्टि से तो रश्मिरथी को खंड काव्य माना ही नहीं है। उन्होंने इसे खंड काव्य और महाकाव्य के बीच की वस्तु कहा है। उन्होंने लिखा है— "बध की दृष्टि से तो रश्मिरथी में न तो खंड काव्य की चुस्ती मिलती है और न महाकाव्य की उदात्त भावना। यह दोनों के बीच की चीज ठहरती है— खंड काव्य से कुछ नजदीक और महाकाव्य से कुछ दूर।[43] मुझे आलोचक प्रवर की इस मान्यता पर विनम्र आपत्ति है। रश्मिरथी में कथानक आदि से अंत तक गठा हुआ है। कथानक में पूर्वापर संबंधों की स्थिति सदैव बनी हुयी है। इसमें कवि कथ्य, प्रतिपाद्य विचार, मानवतावादी आदर्श और संदेश, जीवनगत वैविध्य के साथ प्रकट हुये हैं। महाकाव्य के लिये जिस विस्तृत आयाम की अपेक्षा होती है

उसका समावेश रश्मिरथी में सभव नहीं था। इस ग्रंथ का आधार महाभारत है और महाभारत के समस्त आख्यानों को कल्पना की सीमाओं में बाँध लेना सभव था भी नही। आख्यान संबन्धी इसी परिसीमा के हेतु इसके वस्तु विन्यास में आरम्भ, मध्य, चरम सीमा, निगति जैसी स्थितियां नही बनाई जा सकती। फिर भी कथा में आदि से अंत तक प्रवाह है- इसे नकारा नहीं जा सकता। यह एक चरित्र प्रधान खंड काव्य है। घटनाओं का आयोजन भी इसी हेतु किया गया है कि ये घटनायें कर्ण के चरित को उभार सकें। कर्ण चरित ही सभी घ नाओ का केन्द्र बिन्दु है। कर्ण का चरित भी परम्परागत नही है। वह युगानुकूल है। कर्ण, दिनकर के युग का प्रतिनिधि है। कवि ने कर्ण चरित से युग समस्या का निदान खोजा है। कवि की इसी भूमिका में अगर प्रो० कामेश्वर शर्मा कर्ण चरित का अध्ययन करते तो सम्भवत: उन्हें भूमिका 'फाड़ फेंकने' की आवश्यकता नही पड़ती। उन्होने कुरुक्षेत्र की दृष्टि से 'रश्मिरथी' को देखा है। इस प्रसग मे सत्य तो यह है कि जब प्रसंग मुक्तक महाकाव्य के स्वरूप मे प्रकट होता है तो उसमे वैविध्य कम और गहराई अधिक आती है। प्रबध का शुद्ध रूप वैविध्य लेकर गतिशील होता है जहाँ गहराई स्वत: कम हो जाती है। 'रश्मि रथी' के प्रबध विधान की परीक्षा इसी दृष्टि से होनी चाहिये। मेरे विचार से तो अनुबध की दृष्टि से दिनकर के समस्त काव्य-साहित्य में यही सर्वाधिक सफल है। डॉ० सावित्री सिन्हा ने भी इसे मैथिली शरण गुप्त की काव्य परम्परा का गौरवपूर्ण अवशेष कहा है।[44] मै तो इसे केवल परम्परित खंड काव्य नहीं मानकर युगीन चेतना से संयुक्त खंड काव्य मानती हूं क्योंकि परम्परा की पृष्ठभूमि में युग कौशल ने महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की है। अस्तु, रश्मिरथी में युगानुकूल सफल खड काव्य की सारी विशेषतायें सन्निहित हैं।

उर्वशी : एक गीति नाट्य–

उर्वशी के रचना कौशल से ज्ञात होता है कि यह एक रूपक काव्य है। उर्वशी नाट्य शैली पर रचित है किन्तु आदि से अंत तक यह महाग्रंथ गीतिमय भी है। यही कारण है कि डॉ० विमल कुमार जैन ने इसे गीति नाट्य माना है।[45] भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र में नाटकों के लक्षण गिनाते हुये लिखा है– नाटक वह काव्य है जिसमें किसी राजकुलोत्पन्न अथवा दिव्य धीरोदात्तादि गुणों से युक्त प्रख्यात नायक के जीवन की कथा नाना विभूति एवं ऋद्धियों सहित अंको में वर्णित हो--अथवा नाना रस एवं भावों से संभृत सुखों दुखों से पूर्ण चित्रित राजाओ का चरित ही नाटक है।[46] आचार्य

विश्वनाथ ने भरत मुनि के इस सिद्धांत को और भी विस्तार देते हुये लिखा है– नाटक वह काव्य है जिसका वृत्त प्रख्यात हो, जिसमें विशाल समृद्धि आदि गुण तथा अनेक विधि ऐश्वर्यों का वर्णन हों,सुख दुख की उत्पत्ति एव नाना रसों का चित्रण हो, पांच से लेकर दस तक अंक हो, प्रसिद्ध वंशजात धीरोदात्तादि गुणों से युक्त प्रतापशाली कोई राजर्षि दिव्य पुरुष नायक हो, जिसमें चार या पांच पुरूष प्रधान कार्य के साधन में व्यापित हों तथा गौ पृच्छाग्र के समान जिसकी रचना हो।[47]

आचार्य भरत मुनि और आचार्य विश्वनाथ ने नाटक के जो भी लक्षण गिनाये हैं वे सभी उर्वशी में उपलब्ध होते हैं। इसका नायक पुरूरवा वेद पुराणादि प्रसिद्ध प्रतापशील राजर्षि है। उर्वशी में पुरूरवा एवं उर्वशी विषयक ऐश्वर्यों का भी वर्णन है, सुख दुखात्मक नाना भावों का चित्रण भी है। अंक पांच हैं। शृंगार अंगी रस है तथा करूणादि अंगभूत। इस तरह उपरोक्त सभी नाट्य लक्षण इसमें अपने पूर्ण वैभव सहित हैं। साथ ही यह ग्रंथ गीति में रचित भी हैं। अत: इसे गीति नाट्य कहना ही अधिक उचित होगा। डॉ० नगेन्द्र तथा डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी इसे गीति नाट्य ही माना है।[48] श्री आर. के. कपूर ने भी इसे गीति नाट्य ही कहा है।[49]

उपरोक्त अभिमत के विपरीत कुछ आलोचकों ने इसे गीति नाट्य मानने मे आपत्ति उठायी हैं। डॉ० सावित्री सिन्हा की दृष्टि से– "नाटक की दृष्टि से उर्वशी का कार्य व्यापार शिथिल पड़ता है।[50] फिर प्रबन्धत्व की दृष्टि से भी उन्होंने इसे असफल माना है।[51] उन्होंने उर्वशी के काव्य रूप को एक अभिनव प्रयोग माना है। उनके शब्दों में–"उर्वशी के काव्य रूप को भी एफ नया प्रयोग ही माना जायगा जिसमें कवि ने आख्यान और दर्शन को प्रतीक प्रबन्ध और दृश्यता के माध्यम से व्यक्त किया है।[52] श्रीमती एस. के. पद्मावती ने भी अपने शोध निबध में डॉ० सिन्हा के अभिमत को ही पुष्टि की है।[53]

इन दो परस्पर विरोधी अभिमतों के विवेचनोपरान्त मैं इसे गीति नाट्य कहना ही समीचीन समझूंगी। इसमें जो प्रबधात्मकता है वैसी प्रबन्धात्मकता तो नाटक में भी होती है। साथ ही लम्बे संवाद जो रगमंचीयता में बाधक हैं उर्वशी को पाठ्य नाटक का रूप प्रदान करते हैं। गीतितत्वता आदि से अंत तक विद्यमान है इसमें दो मत नहीं हो सकते। फिर क्यों न इसे गीति नाट्य माना जाये। हाँ, इस दृष्टि से इसे हम एक अभिनव प्रयोग अवश्य कह सकते हैं जैसाकि डॉ० सावित्री सिन्हा ने भी स्वीकार किया है। अतएव, उर्वशी को गीति नाट्य

कहना ही अधिक उचित होगा जिसे इस प्रयोगशील युग का काव्य के क्षेत्र में अभिनव प्रयोग कह सकते है ।

परशुराम को प्रतीक्षा : एक प्रसंग मुक्तक–

'परशुराम की प्रतीक्षा' के रचना काल में कवि-मन में एक प्रबन्ध मचलता रहा है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' की भूमिका में कवि ने इसका संकेत भी दिया है। चीनी आक्रमण से पराजित भारत के लिये इन्होने पुराण पुरुष परशुराम का आवाहन किया है। लोहित नदी से परशुराम का एतिहासिक सूत्र जुडता है। कथा के इसी आधार पर इन्होने इस ग्रंथ की रचना की है, किन्तु कड़ियां जुड़ नही पायी है। सम्पूर्ण कविता ५ खडों में विभाजित है। प्रत्येक खंड की समस्या अलग अलग है। इन पांचो खडों को पढने से घटना का कोई भी सूत्र ऐसा नहीं मिलता जिसका आद्योपांत निर्वाह हुआ हो। अतः इसी प्रबन्धात्मकता के अभाव के कारण इसे प्रसंग मुक्तक कहना ही अधिक उचित होगा क्योंकि प्रबन्धात्मकता का क्षीण आभास ही मिल पाता है।

दिनकर की अन्य कुछ लम्बी कवितायें भी है जिनमें प्रबन्धात्मकता का इसी प्रकार क्षीण आभास ही मिलता है। कलिग विजय, व्याल विजय, रास की मुरली, अगरुधूम, पुरुष प्रिया आदि भी इसी कोटि की कवितायें हैं।

निष्कर्ष–

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दिनकर में एक प्रबन्धकार कवि की कलागत समस्त विशेषतायें हैं। वे प्राचीन परिपाटी के प्रबन्धकार नहीं हैं। और, कोई भी युग कवि हो भी नही सकता क्योंकि उसके स्कन्ध पर युग प्रतिनिधित्व का गुरूतर दायित्व रहता है। दिनकर का प्रबन्ध–कौशल युग चेतना से सम्पृक्त है। उनके सभी प्रबन्धों पर समसामयिकता की छाप है।

(ख) गीति काव्य–

दिनकरजी जिस युग के कवि है वह युग वस्तुतः गीति युग है। इस संघर्षशील व्यस्त तथा परिवर्तनशील युग जीवन में सफल प्रबन्ध की रचना विरल ही हो पाती है। मुख्य रूप से आधुनिक युग के कवियों ने भावाभिव्यक्ति के लिये गीतिशैली को प्रश्रय दिया है। युगकवि दिनकर भी मूल रूप में गीतिकार ही हैं, मुक्तककार ही हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि उनकी प्रौढ़तम रचना 'उर्वशी' में भी गीति तत्व मिल जाते हैं।

दिनकर ने दो प्रकार के गीति लिखे हैं—ओज गीत और शृंगार गीत। इन दोनों ही प्रकार के गीतों का श्री गणेश कवि ने रेणुका में ही किया था। रेणुका के शृंगारिक गीत ही विकसित होकर रसवन्ती और उर्वशी की ओर बढ़े जिनमें छायावादी गीति शैली की प्रधानता है। "हुंकार और सामधेनी के गीतों के बीज भी रेणुका के गीतों में मिलते हैं। ये गीत प्रगतिवादी शैली में रचित है। अपने उत्तरार्द्ध काल में 'नीलकुसुम' तथा 'कोयल और कवित्व' में कवि ने जो कुछ प्रयोगात्मक गीत लिखे है वे नयी कविता की गीति शैली से प्रभावित हैं। तात्पर्य यह कि दिनकर ने छायावादी, प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी तीनों ही गीति शैलियों का प्रयोग किया है। दिनकर के संबंध में गीतों का यह उपरोक्त—विभाजन चाहे जैसा भी वैज्ञानिक क्यों न हो मै तो इस सिद्धान्त को मानती हूँ कि आधुनिक युग की गीति शैली छायावाद की ही देन है। कोई भी कला-शिल्प जब युग सतह पर विकासगामी होता है तो उसके स्वरूप में परिवर्तन आता ही है। गीति शैली के संबंध में भी यही सत्य है।

दिनकर के ओज परक गीत

दिनकर के ओज परक गीतों की प्रेरणा व्यष्टि परक नहीं, समष्टि परक है। उन्होंने जो राष्ट्रीय ओजस्वी गीत लिखे हैं उनमें उद्‌बोधन, उपदेश, त्याग, बलिदान आदि तत्वों की प्रधानता है। अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये वे इतिहास और पुराण का आधार ग्रहण करते रहे हैं। कहने का आशय यह कि उनके राष्ट्रीय गीतों मे ओज, आक्रोश और क्रान्ति की प्रधानता होने के कारण स्वत: अतिरेक और उद्रेक का समावेश हो गया है, जो गीति काव्य के लिये आवश्यक भी है। दिनकर के ओजपूर्ण गीतों की प्रशंसा करते हुये प्रो. प्रकाशचन्द्र गुप्त ने लिखा है—"कवि के संगीत की लहर गहरी होती है, चौड़ी होती है और गंभीर नाद के साथ कगार से टकराती है। उसका स्वर आँधी और वर्षा का स्वर है, मलय समीर का नहीं। वह अदम्य वेग और बल से कहीं दूर से उठती है और दुर्जेय घोष के साथ तट से टक्कर खाकर लौटती है।"[54] प्रो. गुप्त की इस सराहना का आधार 'हुंकार' और 'सामधेनी' के गीत हैं। 'विपथगा' शीर्षक गीत में क्या कवि का यही ओज, यही अतिरेक और यही उद्रेक अपनी गति ताल और लय परिवर्तन नही करते ?[55]

गीतिकाव्य के तत्वों में आत्माभिव्यक्ति-प्राण तत्व है जिसकी प्रबलता और तीव्रता पर ही उसकी श्रेष्ठता निर्भर करती है। किन्तु दिनकर के गीतों में

समष्टि परक चेतना की प्रधानता होने के कारण कवि का दृष्टिकोण प्राय: बाध्यार्थ निरूपक और वस्तु परक हो जाता है। इस प्रसंग में मेरी धारणा है कि यद्यपि कवि का ध्येय अन्तर्वृत्तियों का निरूपण नहीं है किंतु ओज से उद्दीप्त भावनाओं के स्वत: नि:सृत आवेगों की अभिव्यति में आत्मनिष्ठता ही प्रमुख हो गयी है। तात्पर्य यह कि अनचाहे में ही कवि की आत्माभिव्यक्ति हो गयी है जिसकी तीव्रता उनके शृंगार प्रधान गीतों में भी इस परिमाण में नहीं है जिस परिमाण में ओज परक गीतों में। डा० सावित्री सिंहा ने भी इस प्रसंग में ऐसी ही अभिमति दी है। उन्होंने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है—"रसवन्ती की स्निग्ध रसार्द्रता में माधुर्य और कोमलता तो है परन्तु उनके ओज गीतों की तीव्रता का अर्द्धांश भी उसमें नहीं है।[56]

दिनकर के इन ओज गीतों की महत्वपूर्ण भूमिका युग के अभिनव परिवेश ने प्रस्तुत की है। यही कारण है कि ये ओजगीत प्रबन्ध काव्य की तरह विषय प्रधान होगये हैं परन्तु कवि का निजी दृष्टिकोण प्रत्येक गीत में व्यक्ति परक ही है। उनकी भावनायें व्यक्तिगत सीमाओं के बन्धन को तोड़कर ही तीव्र गति से प्रवहमान हुई है। निष्कर्ष यह कि कवि का व्यक्तित्व समष्टि में लीन होकर उसके साथ एकात्म स्थापित करके एक निष्ठ होकर बोलता है। दिनकर का युग समष्टि के प्रति उनका आग्रह भाव, आवेश प्रधान दृष्टिकोण तथा अनुभूति विस्तार इन चार कारणों से भ्रम हो उठता है और लोग इनकी ओजपूर्ण कविता में आत्माभिव्यक्ति की तीव्रता का अभाव पाने लगते हैं। डा० सावित्री सिंहा के विचार में—"समष्टिपरक वस्तुगत आलम्बन के कारण कवि की भावनाओं की प्रत्यक्षता अवरुद्ध हो गयी है। ..... आत्माभिव्यंजना शुद्ध न होकर मध्यान्तरित है।[57] इस प्रसंग मे इतना ही कहा जा सकता है कि यह सच है कि दिनकर के गीतों में आत्माभिव्यंजना मध्यान्तरित हैं; साथ ही समष्टिपरक वस्तुगत आलम्बन की बात भी मान्य है, किन्तु ये ही दो तत्व तो गीत-काव्य में प्रधान नहीं होते? भावोद्रेक, भावों का ऐक्य और भावों की अन्विति का भी महत्व है। इस दृष्टि से तो दिनकर के गीत किसी भी गीतकार के गीतों से कम नहीं है—चाहे गीत बच्चन, सुमन या नेपाली के ही क्योंन हों। मेरी सम्मति में दिनकर के ओज गीत आधुनिक बुद्धिजीवियों के मुक्त-संगीत एवं सर्वहारा वर्ग के क्रन्दन से पूर्ण जनगीत दोनों से ही अधिक सशक्त और जानदार हैं। शास्त्रीयता की कसौटी पर कवि के इन गीतों में चाहे जितनी भी त्रुटियाँ निकाली जायें—जनता ने इन गीतों को गाने के लिये – खुलकर गाने

के लिये चुना; उन्हें गाया और इस तरह इनके ओज गीत युग पथ पर शंख-ध्वनि बन गये।

दिनकर के शृंगार परक गीत

दिनकर के शृंगार गीतों का प्रतिनिधि संकलन रसवंती है– वैसे नीलकुसुम और उर्वशी के कुछ गीत भी इसके अन्तर्गत आसकते हैं। रसवन्ती के गीतों में 'गीत अगीत कौन सुन्दर है' 'बालिका से बधू' 'सोच रहा कुछ गा न रहा मैं' संगिनी जो भर जी न सका मैं' आदि गीत सभी दृष्टियों से सफल है। दिनकरजी ने अपने ओज गीतों में आलंकारिक कल्पना का समावेश नहीं किया था, किन्तु इन गीतों में कवि की आलांकारिक योजनायें अपना विशिष्ट स्थान रखती है। रचना की दृष्टि से भी ये शृंगारिक गीत ओज गीतों की अपेक्षा अधिक सफल हैं। ओज गीत की रचना पाठकों की दृष्टि से अधिक हुई है, किन्तु रसवन्ती के ये शृंगारिक गीत कोमल मधुर पदावली और लयपूर्ण संगीतात्मकता से समाहित है। इनमें छन्द भी ऐसे प्रयुक्त हुये है, जो संगीत में सरलता और उपयुक्तता के साथ बांधे जा सके। रेणुका के दो गीत—माया के मोहक बन की क्या कहूँ कहानी परदेसी' और 'कंचन थाल सजा सौरभ से ये फूलों की रानी' ने गायकों के बीच अच्छी ख्याति पाई है। इन दोनो गीतों के अतिरिक्त 'रेणुका' के अन्य कई कोमल गीतों ने भी गेयता के क्षेत्र में ख्याति अर्जित की है।

प्राय: देखा यह जाता है कि प्रेमगीतों में ग्राम गीत का सौन्दर्य प्रविष्ट हो जाता है। ग्रामगीत में एक तो कथन स्पष्ट होता है साथ ही साकेतिकता हृदय हिलाने वाली होती है। दिनकर ने ग्र मगीतों की इस विधा को काव्य में लाकर हिन्दी काव्य संसार का बड़ा ही उपकार किया है। बटोही धीरे धीरे गा,

दगा दे गया भाग कि कोई बिछुड़ गया है अपना
मनसूबे जल गये ? कि कोई टूट गया है सपना ?
किसी निठुर निर्मोही के हाथो यो छला गया।"

इसके सगीत की प्रशंसा में प्रो. देवेन्द्रनाथ शर्मा ने लिखा है—"संगीत का सुर बड़ा ही दर्दीला है—लगता है जैसे गाने वाले का हृदय द्रवित होकर सगीत की धारा के रूप में प्रवाहित हो रहा है।"[58] दिनकर के दूसरे गीत—

"भैया ! लिख दे एक कलम खत मों बालम के जोग।
चारों कोने खेम कुशल मांझे मां मोर वियोग।[59]

का सहज स्फुरित भाव का उद्रेक हृदय की सरसता और सरसता आदि गुण यह बताने के लिये पर्याप्त हैं कि दिनकरजी एक सफल गीतिकार है।

दिनकर के इन प्रेमपरक गीतों की तुलना उनके ओज परक गीतों से करती हुयी डा० सावित्री सिहा ने इन गीतों में भावोद्रेक का अपेक्षाकृत अभाव पाया है। साथ ही उनकी शिकायत है कि रसवंती में शृंगार की अभिव्यक्ति बड़े संकोच और हिचक के साथ हुई है उसमें शृंगार का वयैक्तिक पक्ष कम, सामान्य स्वर अधिक है इसी कारण रसवती के शृंगार में आत्माभिव्यंजना का खुला अवकाश होते हुए भी यह तत्त्व अपने शुद्ध रूप में नहीं मिलता।[60] आलोचक प्रवर की इस आपत्ति के संदर्भ में मेरा विनम्र निवेदन है कि सस्ती भावुकता का उद्रेक अस्थायी होता है। दिनकर के ओज गीतों की भावुकता सस्ती है—इसी हेतु जितनी चाहे उतनी छलकी है—बंध रहित, सीमा रहित। अन्यथा भूखे बालकों के लिये दूध लाने गया हुआ कवि स्वयं की 'वैभव की दीवानी दिल्ली' में ऐश्वर्य का दूध क्यों पीने लगा? 'हुंकार' की आवाज से कान मूंद 'रसवंती' के आंचल में मुख ढँक कर 'उर्वशी' की गोद में विश्राम क्यों लेने लगा? मेरा अभिमत है कि कवि के ओज गीतों की भावुकता सस्ती है। अन्यथा, जिस कवि ने १९४६ में अगस्त क्रान्ति के अग्रदूत की प्रशस्ति में—

वह सुनो, भविष्य पुकार रहा,
वह दलित देश का त्राता है।
स्वप्नों का द्रष्टा 'जयप्रकाश'
भारत का भाग्य विधाता है।[61]

गाया तथा पटना के गांधी मैदान में जयप्रकाश की अभ्यर्थना में गांधी टोपी मंडित नेताओं को लक्ष्य करते हुये 'ये नखत अमा के बुझते हैं सारा आकाश तुम्हारा है[62] का उद्घोष किया था, उसी ने सन् १९४९ में (केवल तीन ही वर्ष बाद) एक उसी टोपी वाले डूबते नक्षत्र को पुनः जनता का ज्योतिनयन क्यों कहा?[63] जयप्रकाश का भविष्य जानने वाले दिनकर ने नेहरु के वर्तमान को परख लिया था। वर्तमान को खोकर कवि भूल क्यों करता? अस्तु, इन तमाम उदाहरणों से उनके ओज गीतों की भावुकता का परिचय मिल जाता है।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि रसवन्ती के शृंगार चित्रण बड़े संकोच एवं हिचक से क्यों हुआ है? हम इस बात को क्यों भूल जाते है कि छायावादी युग की कुंठा उस समय भी समाज में व्याप्त थी। स्वामी दयानन्द सरस्वती के आर्य समाज का

प्रतिबन्ध अभी भी ढीला नहीं हुआ था। दिनकर, युग की अवहेलना करने वाले कवि नहीं हैं। यही कारण हुआ है कि उनका वह शृंगार संकोच शील रहा। वैयक्तिक होते हुए भी उसका वाक्य स्वरूप सामान्य रहा। निष्कर्ष यह कि दिनकर के ये प्रेमगीत चाहे ओज गीतों की तुलना में कितने ही नीचे क्यों न प्रतीत हों परन्तु गीति काव्य के आवश्यक आभूषणों से सुसज्जित हैं। इन गीतों मे कवि ने पूर्ण सफलता पाई है। इससे भी बडा सत्य तो यह है कि ओज गीत और शृंगार गीत दोनों दो विरोधी धाराओं के द्योतक है फिर दोनों मे तुलना कैसी ? दोनो का अपना अलग-अलग स्थान है।

उपरोक्त समस्त विवेचन का निष्कर्ष यह हुआ कि दिनकर एक सफल गीतिकार भी हैं। इनके दोनों ही प्रकार के गीत अपने आप में पूर्ण सफल है। युग चेतना के प्रति ईमानदार कवि ने गीति युग में जन्म लेकर गीति काव्य की रचना द्वारा अपना युग प्रियता का ही परिचय दिया है।

सामान्यत: गीत रचना के तीन सोपान होते हैं। प्रथम वह सोपान है जहाँ कवि-प्रेरणा का अंकुर फूटता है और मनोवेगों का प्रकाशन होता है। दूसरा सोपान उस स्थिति में होता है जब भावोद्रेक पराकाष्ठा पर आता है और कवि उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम खोजता है। अन्त की स्थिति में मन:स्थिति की अभिव्यंजना होती है। दिनकर के गीतों में ये तीनों ही सोपान प्रस्तुत हैं। तीनो ही स्थितियों का सम्यक निर्वाह कवि ने अपने गीतों में किया है।

(ग) चित्र विधान

कविता में मूर्त विधान के लिये कवि चित्र विधा का अनुसरण करता है।[64] इस कला में जो कवि जितना ही दक्ष होता है उसकी कला में उतनी ही अधिक मूर्तता आती है। स्वयं दिनकर ने भी अनेकानेक स्थानों पर काव्य मे चित्रात्मकता के महत्त्व को स्वीकार किया है।[65] वस्तुत: कहानी में जो स्थान मनोविज्ञान का है वही स्थान कविता में चित्र का है। यही चित्रात्मकता कविता को विज्ञान से अलग करती है। स्वयं कवि ने लिखा है चित्र कविता का महत्त्वपूर्ण गुण है, प्रत्युत यह कहना चाहिये कि वह कविता का एक मात्र शाश्वत गुण है जो उससे कभी नही छूटता। कविता और कुछ करे या न करे किन्तु चित्रों की रचना वह अवश्य करती है। और, जिस कविता के भीतर बनने वाले जितने ही स्वच्छ अर्थात् इन्द्रियों से स्पष्ट अनभूत होने योग्य चित्र होते हैं वह कविता उतनी ही अधिक सफल और सुन्दर होती है।[66]

चित्रांकन के लिये कवि में दो विशेषतायें अपेक्षित हैं–कवि में सूक्ष्म परिवेक्षण शक्ति हो और दूसरे वह शब्द शिल्पी हो। इन दोनों ही विशेषताओं से मंडित कवि सफल काव्य या चित्रकार हो पाता है। सूर में पहली विशेषता और बिहारी में दूसरी विशेषता अपने चरम पर थी। प्रसाद और पन्त की तरह दिनकर मे इन दोनों ही विशेषताओं का सगम है। उनकी निरीक्षण शक्ति भी सूक्ष्म है और वे शब्द शिल्पी भी हैं यही कारण है कि दिनकर का काव्य साहित्य चित्रों की मंजूषा बन गया है। उनके काव्य में समूह चित्र, प्रकृति चित्र, ग्राम्य चित्र, व्यग्य चित्र, तैल चित्र भित्ति चित्र आदि न जाने कितने प्रकार के चित्र भरे पड़े है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—"सम्पूर्ण काव्य ही एक रंगीन चित्रशाला है, जिसमें शब्द और अर्थ की व्यंजनाओं से अकित नख चित्र, रेखाचित्र, रगचित्र तैलचित्र और विराट भित्ति चित्र जगमग कर रहे है।[67] अब संक्षेप में कुछ उदाहरणों द्वारा दिनकर की चित्रात्मकता सम्बन्धी विशेषताओ से परिचय प्राप्त करेगे।

दिनकर के समूह चित्र

दिनकर के काव्य का आलम्बन विस्तृत है। यही कारण है कि इनके काव्य मे समूह चित्र और व्यष्टि चित्र दोनों की अधिकता है। कवि के समूह चित्र अधिकतर क्रांति और युद्ध सम्बन्धी कविताओ मे मिलते हैं। 'रेणुका' की तांडव[68] और 'हुंकार' की 'विपथगा'[69] के चित्र ऐसे ही हैं। दिनकर के ये दोनों ही चित्र दर्शनीय हैं। विपथगा के चित्र में तलवार की झकारे और सैनिकों की क्रुद्ध हुंकारे वीर रस के अनुभावों की सृष्टि करती है। विचुत और हताश सैनिकों के उबलते क्रोध मृत्यु और नाश का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार भूचाल और लंका के उनचास पवन क्रान्ति की व्यापक अव्यवस्था तथा भीषण संहार का चित्र प्रस्तुत करते हैं।[70]

रेणुका की तांडव कविता का चित्र भी दर्शनीय है। 'चन्द्र चूड़' और गगाधर में शुभ्रता और आभा का संयोजन है। यह उनके विनाशक स्वरूप के साथ मेल नहीं खाता किन्तु, 'त्रिनयन' से आभा मे अंगार की ज्योति और शुभ्रता में रोष की लालिमा आ जाती है। शिव के नयन तरेरने और डमरू की ध्वनि से चित्र सबल और सजीव हो जाता है–

'नाचो हे नाचो नटवर
चन्द्र चूड़ ! त्रिनयन ! गंगाधर ! आदि प्रलय अवढर शंकर।
अंग भंगि हुंकृत झंकृत भर, थिरक थिरक हे विश्वम्भर।

डिमडिम डमरू बजा निज कर में
नाचो नयन तृतीय तरेरे
ओर छोर तक सृष्टि भस्म हो-
अचि पुजि अम्बर को घेरे।[71]

कवि के समूह चित्रों में न केवल भयानक रस के ही चित्र है वरन करुण रस के चित्र भी कम सजीव नही है। नोआखाली मे हुये साम्प्रदायिक दगे का जहाँ कवि ने एक और भयानक चित्र खीचा है वही दूसरी ओर उस द गे से प्रभावित जन-जीवन के कारुण्य का भी-

विष की ज्वाला से दह्यमान हो उठा व्यग्र सारा खगोल।
मतवाले नाग अशंक चले खोले जिव्हवाये लोल लोल।

\+ \+ \+

हंसों के नीड़ लगे जलने हंसों की गिरने लगी लाश।
नर नही नारियों से होली खेलने लगा खुल सर्वनाश।

\+ \+ \+

लपटों से लज्जा ढको कहाँ हो धधको धधको घोर अनल
कब तक ढक पायेगे इसको रमणी के दो छोटे करतल

नारी का शील गिरा खंडित कौमार्य गिरा लोहू लुहान।
भगवान भानुजल उठे क्रुद्ध चिघार उठा यह आसमान॥[72]

जीभ लपलपाते हुये काले नागों के वर्णन में साम्प्रदायिक उन्माद साकार हो उठा है तृतीय पंक्ति की रेखायें धधकते हुये भवनों की ज्वालाये प्रस्तुत करती है और अन्तिम चार पंक्तियों में नारी की असहायावस्था, विवशता, लुटती लज्जा, खंडित कौमार्य आदि का कवि ने चाक्षुष चित्र अंकित कर दिया है।

इसी प्रकार विस्तृत आधार फलक पर कवि ने जो ग्रामीण सामाजिक जीवन के क्रिया विधायक चित्र अंकित किये हैं उसका संश्लिष्ट प्रभाव भी कम मार्मिक नहीं है।[73]

उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि विस्तृत चित्र फलक पर अंकित कवि के चित्र मुख्यत: दो प्रकार के हैं- एक वे जिनमें रेखायें क्रान्ति और नाश के निर्घोष से चकित हैं और दूसरे वे जिनकी ऋजुता यथार्थ निरीक्षण के कारण है।

प्रस्तुत चित्र विश्लेषणात्मक है, परन्तु उसका प्रभाव संश्लिष्ट है । ठीक इसी प्रकार 'ग्राम वधू' शीर्षक कविता में ग्राम्या की सहजता, सरलता और उसके लावण्य का कवि ने मनोहारी चित्र प्रस्तुत किया है ।[80] दिनकर के ऐसे चित्र अत्यन्त ही सहज और सात्विक बन पड़े हैं जिनमें कृत्रिमता का लेश भी नहीं है ।

व्यंग्य चित्र

दिनकर के व्यंग्य चित्र भी बड़े सजीव हैं। वे जैसे रूप शृंगार और कोमल भावनाओं के चित्र खींचने में सिद्धहस्त हैं उसी प्रकार व्यंग्य चित्र खींचने मे भी। रसवन्ती में कवि ने आधुनिकाओं क कई व्यंग्य चित्र अंकित किये हैं जिनमें कहीं भर्त्सना है तो कही उपहास । किन्तु चित्र की सजीवता में सन्देह नहीं किया जा सकता—

"दांतों तले अधर को दाबे, कसे उबलते मन को
चलती हो ऐसे कि देखती हो ज्यों नहीं किसी को ।
तुम्हें ध्यान रहता कि पीठ सहलाती कितनी आँखे,
बंधे चले आते कितने मन छलकी हुई लटों से ।
मनः स्पर्श करती बहुतों का बल खाती चलती,
मन ही मन गिनती हो लोहू कांप गया कितनों का [81]

प्रथम चरण के अनुभाव हृदय के उफान पर बांध बांधने का प्रयास करती नारी का चित्र प्रस्तुत करते हैं । अन्त में दोनों चरणों में आधुनिकता द्वारा अपने रूप सौन्दर्य तथा पुरुषों पर उसके प्रभाव के मूल्यांकन की चेष्टाओं का सजीव चित्रण है । आधुनिका के मानसिक अनुभावों के चित्रण द्वारा कवि ने उसकी कायिक गति-विधियों के चित्र प्रस्तुत किये है । ठीक इसी प्रकार बापू के नाम पर ढोंग रचने वाले नेताओं पर कवि ने जो व्यंग्य चित्र प्रस्तुत किया है उसका प्रहार किसी कार्टून के प्रभाव से कम कठोर नहीं है ।[82]

उर्वशी में दिनकर ने जो चित्र विधान किया है उसके अन्तर्गत अनेक प्रकार के स्थूल एवं गत्यात्मक चित्र भरे पड़े हैं। उदाहरण के लिये एक दो चित्र देखे जा सकते हैं ।

तैल चित्र

तैल चित्र से तात्पर्य है स्निग्ध चित्र से । अतः जिन चित्रों में

विमोहन शक्ति होती है उन्हें तैल चित्र के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है। उदाहरणत:

प्रकटी जब उर्वशी चांदनी में द्रुम की छाया से
लगा सर्प के मुख से जैसे मणि बाहर निकली हो
या कि स्वयं चांदनी स्वर्ण प्रतिमा में आन ढली हो
उतरी हो धर देह स्वप्न की विभा प्रमद उपवन की।[83]

\+ + +

प्रस्तुत चित्र में एक सहज स्निग्धता है जो हृदय के लिये एक विछलन का कार्य करती है।

भित्ति चित्र

भित्ति चित्र से तात्पर्य उस स्थूल एवं दीर्घ चित्र से है जिसमें चित्रित पदार्थ का अंग अंग स्पष्ट हो। इस प्रकार का चित्र, वर्णनात्मक होंता है। फलत: इसमे अधिक स्पष्टता और सहजता होती है। उर्वशी मे चित्रित गंध मादन पर्वत का दृश्य एक सुन्दर उदाहरण है—

"पवन स्वास्थ्यदायी शीतल, सुस्वादु यहां काजल है
झीलों में, बस, जिधर देखिये, उत्पल ही उत्पल है–
लंबे लवे चीड़ ग्रीव अबर की ओर उठाये,
एक चरण पर खड़े तपस्वी से है ध्यान लगाये।
दूर दूर तक विधें हुए फूलों के नन्दन बन हैं,
जहां देखिये, वहीं लता तरुओ के कुंज भवन है।
शिखरों पर हिमराशि और नीचे झरनों का पानी,
बीचोबीच प्रकृति सोयी है ओढ़ निचोली धानी।[84]

निष्कर्ष–

काव्य में चित्रों की सार्थकता तो इस बात में है कि भाव और विचार चित्रवत पाठकों के मन:चक्षु के समक्ष मूर्त हो जाय। चित्रों की सार्थकता की इस कसौटी पर दिनकर के चित्र पूर्ण रूप से खरे उतरते हैं। विविध अनुभूतियों और भावों के अनुरूप कोमल, परुष, विशाल और लघु चित्र खीचने में वे सफल हो सके हैं। सूक्ष्म, पर्यवेक्षण दृष्टि के कारण दिनकर की अनुभूतियां जैसी ही स्पष्ट हैं,

कुशल शब्द-शिल्पी होने के कारण उन अनुभूतियों को तद्रूप ही कवि ने चित्रित किया है । यही कारण है कि दिनकर का समस्त काव्य साहित्य चित्रमय है ।

(घ) अलंकार विधान

अलंकार काव्य का बाह्य अलंकरण है । काव्य सौन्दर्य को निखारने में अलंकार का क्या हाथ है इस पर संस्कृत साहित्य मे पूर्ण मंथन हुआ है । भरतमुनि से लेकर आचार्य विश्वनाथ तक इस पर विचार हुआ है ।[85] आचार्य केशव ने भी अलंकार विहीन काव्य को अशोभनीय कहा है ।[86] भारतीय आचार्यों की क्या बात पाश्चात्य आचार्यो ने भी स्थूल रूप मे बाह्य आकर्षण का नाम ही सौन्दर्य दिया है ।[87] काव्य में इस बाह्य आकर्षण का संयोजन अलकार करता है । बाह्य सौन्दर्य को तो वह निखारता ही है आंतरिक सौन्दर्य को निखारने मे भी वह सहायक होता है । वाणी का अलकरण शैली का केवल बाह्य उपादान मात्र नहीं, उसकी जड़ें मानव के अंतरंग से भी सम्बद्ध हैं । अलंकारों के द्वारा सहृदय की वृतियां उद्दीप्त होकर अन्वित होती है । और इस प्रकार अनलंकृत उक्तियों की अपेक्षा उसमें अधिक गहराई आ जाती है । आचार्य शुक्ल ने भी भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति [88] को ही अलंकार माना है ।

रमणीय अनुभूतियों के लिये रमणीय अभिव्यंजना की अपेक्षा होती है । चरमानुभूतियां जब इतनी रसणीय हों कि अभिव्यंजना सौष्ठव के बिना भी रसोत्कर्ष में समर्थ हो तो दूसरी बात है, किन्तु रसनीयता लाने में ऐसी चरमानुभूति विरल ही देखी जाती है । कवि-हृदय ऐसे भावातिरेक में कभी-कभी ही आता है । अत: अलंकरण की अपेक्षा काव्य में होती है । अगर रसानुभूति करने में स्वत: समर्थ उक्तियां भी सजकर आवें तो उनकी शोभा निराली ही होगी । यह कहना उचित अवश्य होगा कि अलंकार का असंतुलन और उसकी अतिशयता नहीं होनी चाहिये । औचित्य का त्याग नहीं होना चाहिये अन्यथा काव्य का सौन्दर्य रमणीय नहीं उपहास्यापद बन जाता है । कहने का तात्पर्य यह कि अगर अलंकार का प्रयोग एक सीमा में हो, भावानुभूति के प्रकाशन में केवल इसे सहायक बनाया जाय तो काव्य की शोभा द्विगुणित हो उठेगी । स्वयं दिनकर ने भी अलंकारों को केवल बाह्य अलंकरण का साधन न मानकर उसे आन्तरिक विकास में सहायक उपकरण माना है ।[89] निष्कर्ष यह कि स्वयं कवि ने भी काव्य में अलंकारों के

उचित प्रयोग का ही समर्थन किया है।

दिनकर के अलंकार-विधान पर अनेक विद्वानों ने विचार किया है। डा० सावित्री सिन्हा ने इनके काव्य में प्रयुक्त अलंकारों की लम्बी सूची दी है।[90] इसी प्रकार डा० विमलकुमार जैन ने भी केवल उर्वशी से ही प्राय: सभी अलंकारो के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।[91] अनावश्यक पिष्टपेषण से बचते हुये मैने दिनकर के केवल उपमानों पर ही विचार किया है क्योंकि सादृश्य मूलक अलकारों मे प्रयुक्त उपमानों की सफलता पर ही काव्य अधिक चित्रमय बन सकता है। रूप और गुण में साम्य उपमानों द्वारा निर्मित चित्रों से ही सत्काव्य की सृष्टि होती है। दिनकर उपमान प्रयोग के क्षेत्र में एक सिद्ध हस्त कलाकार कवि है। उन्होने मुख्य रूप से क्रांन्ति चेतना सम्बन्धी और काम चेतना सम्बन्धी उपमानो द्वारा ही अपनी कविता को अलंकृत किया है। साथ ही बदलते हुये युग के अनुकूल इन्होने उपमानों का संपादन किया है। इस दृष्टि से वे परम्परावादी न होकर एक उदार युग कवि हैं। अत: इसी पृष्ठभूमि में दिनकर के अप्रस्तुत विधान का अध्ययन उचित है।

क्रांति-चेतना सम्बन्धी उपमान

क्रान्ति चेतना की अभिव्यंजना अलंकारों की अपेक्षा नही रखती है। अगर अलंकार आता भी है तो लक्ष्यार्थ बोधक प्रतीक के रूप मे ही। क्रांति सम्बन्धी कविताओं में दिनकर ने लक्ष्यार्थ का अन्वेषण रक्त और आग के आधार पर किया है। दिनकर के काव्य में चितौड़ के जौहर की लपटों का बसत आता है।[92] कवि तप को आग की संज्ञा देता है। और त्याग को ज्वाला की।[93] सभ्यता भी एक ऐसी सुन्दरी है जो रक्त-पथ पर ही चलती है।[94] हुंकार में तो ऐसे उपमानों का बाहुल्य है। केवल स्वर्ग दहन शीर्षक कविता के उपमानों को देखिये तो सर्वत्र ये ही रूप दिखायी पड़ेंगे। कहीं पृथ्वी पर क्रान्ति की वाणी जगती है, कहीं कवि की उसी वाणी से मन्दार तप्त होता है, गन्धवाह जलने लगता है और कही रक्त के प्रत्येक रंन्ध्र में अग्नि अट्टहास करने लगती है। कोई नरक का द्वार खुलता देखने लगता है और किसी को भ्रम होता है कि विरूपाक्ष का अहंकार जग पड़ा है[95] इस प्रकार दिनकर की समस्त क्रान्ति संबंधी कविताओं में ऐसे ही उपमानों का अम्बार लगा हुआ है।

काम चेतना सम्बन्धी उपमान

दिनकर ने छायावाद का रूमानी वातावरण देखा है। उन्हें यह भी ज्ञात

है कि युग की नई बदलती हुयी परिस्थितियां अलंकारों के रूप, अर्थ और सौन्दर्य बोध में परिवर्तन लाती हैं। यद्यपि व्यापक रूप में सौन्दर्य तत्व सार्वभौम और सर्वकालीन है परन्तु प्रत्येक देश और संस्कृति की सौन्दर्य विषयक धारणाओं का निर्माण उस देशगत परिस्थितियों के आधार पर ही होता है। तात्पर्य यह कि कवि-रचनाओं पर, उनमें प्रयुक्त उपमानों पर युग और वातावरण का प्रभाव पड़ता ही है। छायावादी युग के उपमानों से दिनकर की 'रसवन्ती' और 'उर्वशी' पूर्णतः प्रभावित हैं। दिनकर की अप्सरायें कहीं सिमटी हुई चांदनियां हैं।[96] तो कहीं गीत के जल से भरी हुयी गगरिया।[97] कहीं शोणित धारा का रूपक लेता है तो कहीं भावना स्वर्ण तरीका।[98] इसी प्रकार उर्वशी का लोचन दर्पण के रूप में आरोपित हुआ है।[99] फिर उरोज का विश्राम भवन के रूप में आरोपित होना तो और भी रूमानी है।[100] इतना ही नहीं कही पुरुष पर्वत बनता है तो नारी गिरि मल्लिका।[101] कहीं बाहें प्रकाश की किरणों के रूप में आती है तो कहीं कपोल की लालिमा उषा किरण के रूप में।[103] दिनकर द्वारा प्रयुक्त ये सभी उपमान जो कहीं रूपक बने हैं तो कहीं उत्प्रेक्षा कहीं उपमा तो कहीं रूपकातिश्योक्ति-सब के सब छायावादी रूमानी कल्पना से प्रभावित है।

युग बदला। छायावाद और प्रगतिवाद ने अपना पराभव देखा। काव्य में अभिनव प्रयोग प्रारम्भ हुये। दिनकर ने भी युग-चेतना का स्वागत किया और अपने काव्य को नूतन उपमानों से सजाना प्रारम्भ किया। चाँद अब बूढ़ा हो चला था। प्रकृति के परम्परागत वे उपमान अब पुराने हो चले थे। असुन्दर भी अब सुन्दर लगने लगा था। दिनकर ने भी युग की इस रीति को अपनाया। रीति के सदर्भ में उन्होंने एक मान्यता स्थापित की। उन्होंने लिखा—"रीति क्या है? कवि बराबर अपने लिये एक ऐसी राह बनाता है जो पहले नहीं थी, यह रीति है।" कवि अपने काव्य के लिये इसी नयी रीति का अन्वेषण करता है जो उसकी महान उपलब्धि है। हो सकता है कि छायावादी रूमानी अलंकरण में सजी हुयी सच्चिकन कविता-कल्पना को इन अभिनव उपमानो में खुरदरेपन का अनुभव हो किन्तु दिनकर जैसा युग-कवि युग की अवहेलना नहीं कर सकता था। उन्होने स्वयं अपनी छायावादी रूमानी कल्पना को संबोधित करते हुये कहा है—

पहचान कला जग के पवि को
खुरदरे करों वाले कवि को
मत भाग दौड़ कर क्रोध जगा
सीधे चलकर अरु गले लगा।[103]

अस्तु, कवि ने 'नील कुसुम' की रचना से ही नवीन उपमानों की खोज प्रारभ की और इस हेतु न जाने कहां कहां भटके। जो चांदनी छायावादी युग मे किसी की 'हंसी' या 'अभिसारिका' की साड़ी थी वही चादनी आज दिनकर के लिये 'कफन' बन गयी है।[106] दिनकर ने पृथ्वी को 'शर्बत' के रूप मे प्रस्तुत किया है।[107] इसे हम एक विराट कल्पना का आधार कह सकते है पर यह विराटता निराला का विराट योजना से भिन्न है। छायावाद मे 'गीत विहग' था पर दिनकर का गीत 'कौआ' है।[108] आज का आधुनिक युग कोकिल की काकली नही चाहता क्योंकि उसे सुनने के लिये ऋतुराज की प्रतीक्षा करनी होगी। आज के कवि को जीवन का प्रत्येक क्षण प्यारा है। वह न पतझड़ को बिदाई देने के लिये व्यग्र रहता है और न ऋतुराज के स्वागतार्थ आकुल। जब छायावाद मे ही 'पाटल' ने 'कुकुर मुत्ता' का स्थान ग्रहण किया तो 'गीत विहग' का 'गीत के कौये' में बदल जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। युग चेतना के प्रति जागरुक कवि दिनकर हड्डी की मशाल जलाता है।[109] इस हड्डी में दधीचि की हड्डी वाली शक्ति है। रक्त-मास की शक्ति शोषण से समाप्त हो गयी है। अब केवल हड्डी की शक्ति बची है। जिस दिन यह शक्ति जग उठेगी, उसी दिन वज्र की रचना होगी और शोषण का निरंकुश पहाड़ कंपित हो उठेगा। कवि की दृष्टि में यह बिचारी दुनियां भी बुढ़िया हो गयी है, दम तोड़ती हुयी लेटी पडी है।[110] इसी भाव को पंत जी ने 'गुंजन' में 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र' कहा था किन्तु आज कवि इतना शालीन होना नहीं चाहता क्योंकि उसने अपना धैर्य खो दिया है। अब वह प्राचीनता का श्राद्ध कर नवीनता के सहारे जीना चाहता है। दिनकर के ये समस्त उपमान युग प्रसूत है। कवि युग का आंचल छोड़कर पिछड़ना नहीं चाहता है। अस्तु, उपमान-प्रयोग के आधार पर तो दिनकर एक प्रबल युग-कवि कहे जा सकते है। निष्कर्ष यह कि परंपरित कला शिल्प के प्रयोग में भी दिनकर ने युग स्वर को ही प्रधानता दी है।

शब्द–शक्ति

काव्य में प्रयुक्त शब्दों को आचार्यों ने अर्थ की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया है– वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक।[111] शब्दों के इन भिन्न भिन्न अर्थों को व्यक्त करने के लिये भिन्न–भिन्न शक्तियां होती हैं क्योंकि एक ही शब्द विभिन्न अर्थों को एक ही शक्ति से व्यक्त नहीं कर सकता। फलतः आचार्यों ने शब्दों की तीन शक्तियां मानी–अभिधा, लक्षणा और व्यजना।[112] अब संक्षेप में दिनकर के काव्य में प्रयुक्त शब्दों की इन शक्तियों पर अलग-अलग विचार करना ही हमारा अभिप्राय है।

अभिधा विधान

अभिधा को पारिभाषित करते हुये आचार्य मम्मट ने लिखा है– "मुख्यार्थ या सकेतार्थ को प्रकट करने वाले व्यापार को अभिधा कहते हैं।"[113] आचार्य विश्वनाथ ने भी ऐसी परिभाषा दी है।[114] हिन्दी के आचार्यों में देव[115] और पं० रामचन्द्र शुक्ल[116] ने तो काव्य मे अभिधार्थ को ही सर्व सशक्त अर्थ माना है। वस्तुत: अभिधा का सौन्दर्य स्वाभावोक्ति के आश्रय में पनपता है। सूर के काव्य के लावण्य का यही रहस्य है। इन्होंने अपेक्ष कृत अभिधार्थ को ही अधिक प्रश्रय दिया है। फलत: उनका काव्य इतना अधिक सहज और स्वाभाविक हो गया है।

दिनकर जी लक्षणा युग (छायावाद) से गुजरने के उपरान्त भी अभिधार्थ को पकड़े ही रहे है। उन्हें विश्वास है कि अभिधार्थ के सहारे अभिव्यक्त भावों में सहजता, ऋजुता और स्वाभाविकता रहेगी। और यही रहस्य है दिनकर के काव्य की जन प्रियता का। डा० सावित्री सिन्हा के शब्दो में– जाग्रत पौरुष के उच्चार और शृंगार भावना की सहजता दोनों ही प्रकार की कविताओं में भाषा का अभिधात्मक रूप प्रधान है।[117] प्राय: अभिधात्मक अभिव्यक्ति मे नीरसता के समावेश का अधिक भय रहता है। परन्तु दिनकर की सरल और ऋजु अभिधा मे वैसी बात नहीं है। वहाँ भाव और चित्र को संश्लिष्ट कर देने की अद्भुत क्षमता है। उदाहरणार्थ—

"तन प्रकम्पित मुकुलित अनन्त उषाओं की लाली सी"।[118]

यहाँ 'मुकुलित' शब्द का सकेतार्थ मुख्यार्थ ही प्रधान है। इसी प्रकार—

"हिमकण–सिक्त-कुसुम सम उज्ज्वल अग अंग झलमल था"।[119]

प्रस्तुत शब्दावली मे व्याकरणगत सामासिक प्रयोग से इस समस्त पद के वाच्यार्थ में सौन्दर्य आ गया है जो सहज ही बोधगम्य भी है।

दिनकर अप्रस्तुतो के अभाव में भी चित्रांकन करते हैं। वहाँ उनका अभिधा विधान अनुभूति को रसात्मक बनाने मे पूर्ण सक्षम हो जाता है। उर्वशी जैसे गहन काव्य में भी निश्छल और अनलंकृत कथन यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। उर्वशी के निम्न पद को देखिये जहाँ अलंकरण का स्पर्श मात्र है और सौन्दर्य का सारा भार इसमें प्रयुक्त अभिधार्थ को ही है—

"कुसुम और कामिनी बहुत सुन्दर दोनों होते हैं।
पर तब भी नारियां श्रेष्ठ है कहीं कांत कुसुमों से

क्योंकि पुष्प है मूक और रूपसी बोल सकती हैं
सुमन सौन्दर्य और नारियाँ सवाक-सुमन है।[120]

जीवन के चितेरे सशक्त-अभिव्यक्ति वाले कवि को अभिधा प्रिय होती है। जब जन-पदीय शब्दों का अभिधार्थ प्रमुख होता है तो काव्य में एक विशेष विलक्षणता आ आ जाती है। उदाहरण के लिये हम दिनकर की निम्नलिखित पंक्तियों को ले सकते हैं—

"दो प्रेमी हैं एक यहां जब
बड़े सांझ आल्हा गाता है
पहला स्वर उसका राधा को
घर से यहाँ खींच लाता है
चोरी चोरी खड़ी नीम की
छाया में छिप कर सुनती है
हुयो न क्यों मैं कड़ी गीत की
विधना यों मन में गुनती है"।[121]

उपर्युक्त चित्र मे आल्हा और राधा जैसे प्रतीक आकर अभिधा के सौन्दर्य को बढ़ा रहे हैं। शब्दों के मुख्यार्थ द्वारा ही चुपचाप खड़ी रहकर सुनने वाली मार्मिक स्थिति का भव्य चित्रांकन हुआ है। निश्चय ही ऐसा अभिधात्मक प्रयोग हजार लक्षणा और व्यंजना से श्रेष्ठ है।

लक्षणा विधान

जब मुख्यार्थ के बाध होने पर रूढ़ियाँ प्रयोजन से जिस शक्ति द्वारा मुख्यार्थ से ही संबंधित कोई अन्य अर्थ लक्षित होता है वह लक्षणा शक्ति कहलाती है।[122] वस्तुतः अभिधा का धरातल ही सकुचित होकर लक्षणा को ज-म देता है। जब अर्थ विशेष संकुल और स्फीत हो जाता है तब अभिधा की सीमायें उसे सम्हाल नही पाती हैं। उस स्थिति में अभिधार्थ बाधित हो जाता है और लक्ष्यार्थ स्वतत्र सत्ता ग्रहण कर लेता है।

दिनकर उस युग के कवि रहे हैं जिसे लक्षणा प्रधान युग कहा जाता रहा है उस लक्षणा प्रधान युग छायावाद से कवि दिनकर बहुत अश तक प्रभावित भी रहे है। समस्त हिन्दी काव्य साहित्य में वे भक्ति काल के बाद दूसरी क्रान्ति का श्रेय छायावाद को ही देते हैं। फलतः छायावादी लक्षणा-प्रयोग के लोभ को वे कैसे

संवरण कर सकते थे ? अस्तु, इनके काव्य में लक्षणात्मक शैली ने पूर्ण विकास पाया है किन्तु छायावादी कुहेलिका इनकी कविता में नहीं है। उनकी काव्य भाषा में धूमिलता कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। दिनकर के लक्षणा विधान पर टिप्पणी करते हुये श्री विश्वनाथ सिंह ने लिखा है– "छायावाद का लाक्षणिक वैचित्र्य भी दिनकर में है लेकिन उसमें छायावादी वक्रता औचित्य की सीमा के अन्तर्गत रही है।[123] आशय यह कि लक्षणा विधान में भी दिनकर की अपनी मौलिकता सन्निहित है।

'उर्वशी' दिनकर का सर्वाधिक लक्षणा शैली में रचित ग्रंथ है। लक्षणा-प्रयोग के एक से एक सुन्दर उदाहरण हमें उसमें प्राप्त होते है। अतः कुछ उदाहरणों में कवि के इस भाषा–शिल्प को भी देखें—

किंतु पुरूष चाहता भीगना मधु के नवे क्षणों से
नित्य घूमना एक पुष्प अभिसिंचित ओस कणों से।[124]

यहाँ पुष्प का मुख्यार्थ असंगत होने पर 'रमणी' लक्ष्यार्थ है।
इसी प्रका—

"कल्पलता जाने आलिंगन से कब तक तपन हरेगी"।[125]

इस पंक्ति में भी कल्पलता मुख्यार्थ में बाधा आने पर सादृश्य से उर्वशी की ओर लक्ष्य कर रही है।
फिर—

"मुदित चांदनी की अलकें चूमो"।[126]

अलकों का मुख्यार्थ बाल असंगत बैठता है अतः इसका लक्ष्यार्थ रश्मियाँ हैं।

युग आगे बढ़ा। छायावादी मान्यतायें भी तदनुरूप बदलीं। युग कवि दिनकर की यह शैली भी विकासोन्मुख हुयी। आधुनिक युग में जो सामाजिक वैषम्य जीवन को आक्रान्त कर रहा है उसके लिये सिंह, हाथी, भेड़िये जैसे नवीन लाक्षणिक प्रतीक कवि ने लिये हैं।[127]स्वार्थी नेताओं और पूंजीपतियों पर किये गये व्यंग्य में दिनकर ने इन लाक्षणिक प्रतीकों का प्रयोग किया है। दिनकर में लक्षणा विलास का दर्शन सर्वत्र होता है। उन्होंने शिव, नासदीप, अर्द्ध-नारीश्वर, परशुराम, बोधिसत्व आदि पौराणिक प्रतीकों के साथ लाक्षणिक पद्धति से नवीन अर्थों का समावेश किया है। इसके अतिरिक्त स्वनिर्मित लाक्षणिक प्रतीकों यथा—विभापुत्र, आलोक धन्वा, अनल किरीट, दिगम्बरी आदि से भी कवि ने लक्षणा विधान का कोश भरा है।

चित्र विधान के अन्तर्गत जब कवि वाचक शब्दों के स्थान पर लक्षक शब्दों का प्रयोग करता है तो चित्र अधिकाधिक प्रभावोत्पादक तथा अनुभूतिपूर्ण बन जाता है। उर्वशीकार ने भी ऐसे अनेकानेक प्रयोग किये हैं—

रेंगने वाले सहस्रों सांप सोने के रुधिर में
चेतना रण की लहर में डूबने जाती है,
कौन है यह देश जिसकी स्वामिनी निरंतर
वारुणी की धार से नहला रही है। [128]

प्रस्तुत अवतरण में 'सहस्रों सांप' स्नायविकतनाओं को लक्ष्य करते हैं, सोने का रुधिर चेतना में स्फूर्ति प्रवाह की अभिव्यक्ति करता है, वारुणी की धार मादक सौन्दर्य है, कामनाओं से बहकता हुआ हृदय ही ज्वालामुखी है और चांदनी रत्यानुभव। उर्वशी के ऐसे स्थल निश्चय ही कविकला के स्मारक बन गये हैं। दिनकर ने अपने काव्य में सौन्दर्य साधना में ही विशेषकर लक्षणा का प्रयोग किया है।

व्यंजना विधान

जो शब्द वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ व्यक्त करता है वह व्यंजक होता है और वह जिस अर्थ को प्रकट करता है वह व्यंग्यार्थ कहलाता है। जिस शक्ति से यह अर्थ व्यक्त होता है उसे व्यंजना कहते है। आचार्य विश्वनाथ के शब्दों में अपना कार्य सूचित करके अभिधा आदि वृत्तियों के शान्त हो जाने पर जिससे अन्य अर्थ का बोध हो वह शब्द अर्थादिक में रहने वाली वृत्ति व्यंजना कहलाती है।[129] वक्रोक्ति के लिये विशेषत: व्यंजना का प्रयोग किया जाता है।

दिनकर की कविता में इस शक्ति का प्रयोग युग प्रभाव का सूचक है। अत्याधुनिक कृतियों से पूर्व दिनकर की लक्षणा शैली ही प्रधान रही है। किन्तु युग ने जब एक बार पुन: करवट ली तो कवि अभिव्यक्ति में परिवर्तन स्वाभाविक था। युग वैषम्य और शोषण से प्रेरित होकर दिनकर ने इस शब्द-शक्ति का प्रयोग अपनी काव्य विधा में किया। 'कोयला और कवित्व' से ही कवि की इस शब्द शक्ति पूर्ण शैली का परिचय मिलने लगता है जो 'नये सुभाषित' में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंच जाता है। युग ने कवि को व्यंग्य का सहारा लेने के लिये बाध्य कर दिया है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में 'ऐनार्की' शीर्षक कविता तो पूर्णत: इसी शैली में लिखी गयी है। आज के युग में कृत्रिम नेताओं ने गांधी के नाम का खुला दुरुपयोग प्रारम्भ कर दिया है। दिनकर से यह देखा नहीं जाता। वे व्यंग्य करते हुए लिखते हैं—

गांधी को उल्टा घिसो/और जो धूल झरे
उसके प्रलेप से अपनी कुंठा के मुख पर
ऐसे नक्काशी गढ़ों कि/जो देखे बोले
आखिर बापू भी और क्या बात कहते थे।"[130]

कवि को इतने से ही संतोष नहीं होता। वह देखता है कि आज के युग में गांधी की आध्यात्मिकता और उनकी वेशभूषा की भी नकल हो रही है। उनके उच्चादर्शों के कृत्रिम रूप पर भी दिनकर ने व्यंग्य किया है—

कुर्ता टोपी फैंक कमर में भले बांध लो
पांच हाथ की धोती घुटनों के ऊपर तक
अथवा गांधी बनने के आकुल प्रयास में
आगे के दो दांत डाक्टर से तुड़वा लो।[131]

'समर्पण' शीर्षक कविता की एक पंक्ति में कवि हृदय का व्यंग्य और आक्रोश व्यंजना के माध्यम से व्यक्त हुआ है।[132] इसी प्रकार हमने देखा कि दिनकर की भाषा में जो शब्द शक्तियों का वैभव है, उसका जो विकास हुआ है वह भी युगानुकूल ही। युग चेतना का प्रभाव जहां कवि के भाव पक्ष पर भी। दिनकर की प्रारम्भिक राष्ट्रीय कविताओं में अभिधार्थ की प्रधानता रही है, फिर छायावादी लक्षणा विधान से कवि प्रभावित हुये हैं और अन्त में युग परिवर्तन के साथ ही व्यंजना विधान से। अस्तु, युग के विकास विकास की सापेक्षता में ही कवि ने अपनी कविताओं में विभिन्न शब्द शक्तियों से युक्त शैली का विकास किया है।

दिनकर की कविता में छन्द और संगीत

दिनकर की काव्य-रचना का विकास क्रम बड़ा दीर्घ है। उन्होंने छायावाद प्रगतिवाद और प्रयोगवाद तीनों काव्य-युग में रचनाएँ की हैं अतः उनकी रचना-प्रक्रिया पर परम्परा और परिस्थितियाँ दोनों की छाप है। उनके काव्य में नवीनता और प्राचीनता का समन्वय है। दिनकर की कविता का प्रतिपाद्य भावुकता और बौद्धिकता दोनो हैं। अतः उन्होंने परम्परित और नवीन दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया। परम्परित छन्दों में मात्रिक तथा वर्णिक दोनों ही प्रकार के छन्दों का प्रयोग इनके काव्य में मिलता है। इन छन्दों में तुकों की प्रधानता के साथ ही भावों का प्रबल आवेग भी है।

भावों के साथ ज्यों ज्यों बौद्धिकता का समावेश होने लगा कविता में से छंद और

तुक विलुप्त होने लगे। स्वयं दिनकर ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुये कहा है—"राग जैसे-जैसे विचारों से उलझेगा वैसे वैसे ही उसके हृदय में से तुक के पाँव उखड़ते जाएंगे। तुकें भावों की अभिव्यक्ति में बाधा डालती है"।[133] दिनकर युग चेतना के समर्थ कवि हैं इसलिये उन्होंने पुराने छंदों की 'जड़ाऊ पोशाकें' उतार कर नवीन अतुकान्त छंदों की 'बुशर्ट' भी पहनी है। उन्होने युग के साथ अपने छंदों में भी परिवर्तन किये हैं।[134] उन्होंने अनुभव किया कि "जिस युग मे हम जी रहे हैं उसका संगीत टूट गया है। इसका कारण है कि जैसे छदो में काव्य रचना का मैं अभ्यासी था वे छंद अब मुझे अधूरे लगने लगे है। यदि मेरा आत्म विश्वास गलत या अतिरंजित नहीं है कि मेरे हृदय का चेतन यंत्र अभी काल के हृदय की धडकनों को पकड़ सकने में समर्थ है तो मेरा अनुमान है कि जो छद सगीत को अपील करते हैं उनके द्वारा वर्तमान युग का टूटा हुआ संगीत पकड़ा नही जा सकता।[135] यद्यपि अतुकान्त छंदों की योजना कवि ने 'रेणुका' के ही कतिपय गीतों मे की थी तथा 'कुरुक्षेत्र' में ही उनकी इस कला का सम्यक विकास भी हुआ परन्तु, सर्वथा नए छंदों की रचना उन्होंने सबसे पहले 'नील कुसुम' में की। इन छंदो के प्रयोग के बाद कवि ने तृप्ति अनुभव की है।[136] अत: कवि ने 'उर्वशी' 'परशुराम की प्रतीक्षा' 'नए सुभाषित' 'कोयला और कवित्व' की स्वरचित तथा 'आत्मा की आँखें' की अनुदित रचनाओं में इन्हीं नये छंदों का प्रयोग किया है। परन्तु इन सभी छदो मे कवि ने भावानुकूलता के साथ लयात्मकता को सदैव बनाऐ रखा है।[137]

छन्दों के साथ ही दिनकर की कविता के संगीत तत्त्व की चर्चा भी आवश्यक है। काव्य और संगीत का सम्बन्ध भी अभिन्न है। ये दोनों हृदयतत्व से संबधित हैं। ये एक दूसरे के पूरक होते हैं। जिस प्रकार मूर्त्त विधान के लिये कविता चित्र विधा की प्रणाली का अनुसरण करती है उसी प्रकार नाद सौष्ठव के लिये वह संगीत का सहारा लेती है क्योंकि नाद सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है। भारतीय क्या पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों ने भी काव्य के लिये संगीत के महत्त्व को स्वीकार किया है। डा० श्यामसुन्दरदास के अनुसार "पश्चिमी समीक्षकों ने भी संगीत को अभिन्न रूप से कविता का अंग माना है यह उनकी व्याख्याओं से प्रकट होता है। जानसन का मत है—कविता पद्यमय निबन्ध है। कारलायल का कहना है—कविता संगीतमय विचार है। ये सब लक्षण प्रकट करते हैं कि कविता और संगीत का सम्बन्ध है।[139] कहने का आशय यह कि कविता मनोवेग मय और संगीतमय भाषा में मानव अन्त:करण की मूर्त्त और कलात्मक अभिव्यंजना करती है। काव्य गाकर प्रभाव उत्पन्न में अधिक समर्थ होता है और संगीत के

लिये गीत कवि रचता है। तात्पर्य यह कि संगीत और काव्य दोनों मिलकर रसोत्पत्ति में अधिक समर्थ होते हैं।

प्रत्येक छंद का संगीत भी अलग अलग होता है अतः कवि अपने भावों के अनुसार ही छन्दों का चयन करता है। दिनकर भावुक कवि हैं अतः उनके गीतों के छन्दों में भावुकता के कारण सगीत का सहज ही गुण अपने आप मिल गया है। निराला की भांति उन्होंने भी शास्त्रीय राग रागनियों और तालों की योजना अपने गीतों में कहीं नहीं की है। उर्वशी एक गीति नाट्य है। परन्तु, उसमें भी शास्त्रीयता का बंधन कहीं नहीं है।[140] कवि ने सर्वत्र भावों के उत्कर्ष के लिये उपयुक्त छन्दों का सहारा लेकर कविताएँ की हैं। यही कारण है कि उनके छन्द इतने जनप्रिय हो सके हैं। उनके प्रारम्भिक गीतों में ताल, लय आदि मिल जाते हैं। उनमें संगीत की किंचित शास्त्रीयता है भी किंतु बाद के गीतों में उनका सर्वत्र अभाव है। बदलते हुये युग के साथ इनका छंद विधान और इनकी सांगीतिकता भी बदलते गये हैं। छंद एवं संगीतात्मकता की दृष्टि से भी वे युग का प्रतिनिधित्व करते चले हैं। सम्प्रति जो उनके गीत विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आरहे हैं उन्हें तो साठोत्तरी गीतों की कोटि में रखा जा सकता है।[141] निष्कर्ष यह कि छन्द रचना में भी इन्होंने युवा भावना का ही वाणी विधान किया है।

(५) दिनकर की काव्य कला में आधुनिकता का संस्पर्श

दिनकर ने एक ओर तो परम्परागत काव्य-शिल्प का विधान किया है। और दूसरी ओर युग चेतना से प्रभावित होने के कारण नवीन शिल्प विधान किया है। नवीन शिल्प विधान के अन्तर्गत प्रतीक और बिम्ब का विधान तो किया ही है साथ ही अभिनव अलकारों में मानवीकरण के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।

(क) अभिनव अलंकार : मानवीकरण

अभिनव अलंकार से तात्पर्य मुख्य रूप से उन अलंकारों से है जिसे हम पाश्चात्य साहित्य की देन कह सकते हैं। मानवीकरण एक इसी प्रकार का अलंकार है। यद्यपि प्राचीन भारतीय साहित्य में भी जड़ पर चेतन का आरोप किया गया है। कालिदास का मेघदूत इसका एक विशिष्ठ उदाहरण है। किन्तु आज जिस प्रकार जड़ प्रकृति पर मानव भावना का आरोप कर मानवीकरण की सृष्टि हो रही है वैसा उदाहरण प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। हिन्दी साहित्य में मानवीकरण का प्रयोग छायावाद युग से प्रारम्भ हुआ हैं। छायावादी काव्य

शिल्प से वे बहुत अधिक प्रभावित हैं। फलत: दिनकर साहित्य में भी मानवीकरण के प्रयोग का बाहुल्य मिलता है। विशेषकर संध्या और रात्रि के मानवीकरण में तो कवि ने भावों की अचूक व्यंजना की है।

संध्या का मानवीकरण

दिनकर ने संध्या पर अभिसारिका का दृश्य आरोपित किया है–

"षोडशी तिमिराम्बर ! सुकुमार
भू लुण्ठित पुष्पित लता सी म्लान
छिन्नाधार-
साधना सी भग्न स्वप्न विलीन
नि: स्व की आराधना सी शून्य वेग विहीन।"[142]

प्रस्तुत अवतरण में श्यामाभिसारिका का रूप ग्रहण किये संध्या सुन्दरी की उदासी, अनवरत प्रतीक्षा का नैराश्य आदि का मूर्तमान चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है।

मानवीकरण के क्षेत्र में दिनकर जब जड़ प्रकृति पर कोमल भाव का आरोप कर सकते हैं तो उसे भीषण रूप भी दे सकते हैं। इसी संध्या का कवि जब दूसरा मानवीकरण प्रस्तुत करता है तो संध्या के नीरव, निस्तब्ध और उदास वातावरण में कापालिका, रक्त, मदिरा इत्यादि की कल्पना से चित्र को वीभत्स बना देता है-

"जीर्ण वय अम्बर कापालिक शीर्ण वेपथमान
पी रहा आहत विवश का रक्त-मद्य समान
शीथिल मद विध्वल प्रकम्पित वय हृदय हतज्ञान
गिर गया मधु पात्र कर से गिर गया दिनमान"[143]

कवि ने डूबते हुये रवि का यहाँ चाक्षुष्य चित्र अंकित किया है। वही कवि जो ऊपर के मानवीकरण में उसी संध्या पर इतने कोमल भाव का आरोप कर सकता है उसी कवि ने उसी कविता में संध्या का यह वीभत्स रूप भी प्रस्तुत किया है। जिस तरह पंत ने चाँदनी शीर्षक कविता में ही चाँद को सुन्दरी बाला और पुन: रुग्णा बाला कह कर संबोधित किया है उसी प्रकार यहाँ दिनकर ने भी संध्या के दो विरोधी स्वरूप प्रस्तुत किये हैं। कवि के ये मानवीकरण पूर्ण सफल और चित्र सजीव हैं।

रात्रि का मानवीकरण–

कवि ने रात्रि का मानवीकरण करते हुये एक से एक सुन्दर दृश्यों का विधान किया

है। रात्रि का प्रसंग आते ही कवि उसे मानव भावों की साकार-प्रतिमा बना देता है। वय: सन्धि की बाला काले घुंघराले बालों को खोले हुये मस्ती की मधुर ध्वनि गुन गुनाती हुयी जैसे एकाएक प्रवेश करती है ठीक उसी प्रकार नभांगन में रजनी का प्रवेश होता है। मानवीकरण के माध्यम से कवि ने रात्रि का स्वरूप मूर्तिमान कर दिया है-

पहन मुक्ता के युग अवतंस
रक्त गुम्फित खोले कच जाल
बजाती मधुर चरण मजीर
आ गयी नभ में रजनी बाल।[144]

रात्रि का एक दूसरा रूप रश्मिरथी में भी देखा जा सकता है–जिसमें वही रमणीयता है जो हुंकार के उपरोक्त उद्धरण में-

अंबर पर मोती गुथे चिकुर फैलाकर
अंजन उड़ेल सारे जग को नहलाकर
साड़ी में टांके हुये अनंत सितारे
थी घूम रही तिमिराचंल में निशा पसारे।[145]

अगर प्रसाद की संध्या बाला रंग बिरंगी छींट ओढ़े घूमती हैं[146] तो दिनकर की रजनी बाला अनंत सितारे टंकी साड़ी पहन कर। छायावादी कवियों के किसी मानवीकरण से टक्कर लेने की इसमे सार्मथ्य है।

कवि ने रात्रि का एक आलंकारिक मानवीकरण भी प्रस्तुत किया है। 'उर्वशी' में पुरुरवा उर्वशी से कह रहे है–

"साम्राज्ञी विभ्राट कभी जाते इसको देखा है
समारोह प्रागंण में पहने हुये दुकूल तिमिर का।
नक्षत्रों से खचित कूल कीलित झालरें विभा की
गूथें हुये चिकुर में सुरभित दाम श्वेत फूलों के।[147]

मानवीकरण की कला इससे ऊंची नहीं उठ सकती। रात्रि साम्राज्ञी का यह अनुपम शृंगार न केवल प्रशंसनीय है अपितु स्पृहणीय भी है। इसी प्रकार के अन्य मानवीकरण भी दृष्टव्य हैं।[148]

निष्कर्ष यह कि मानवीकरण की कला में दिनकर छायावादी कवियों की तरह प्रौढ़ प्रतीत होते हैं। 'हुँकार' की 'विपथगा' शीर्षक कविता में क्रान्ति का जैसा

मानवीकरण दिनकर ने किया है वैसा दूसरा उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है।

(ख) प्रतीक विधान–

कवि के प्रतीक-विधान को समझने से पूर्व हमें प्रतीक को समझ लेना चाहिये। डा० कैलाश वाजपेयी के शब्दों में- "प्रतीक यद्यपि अलंकार का ही एक रूप माना गया है फिर भी इसका महत्त्व इतना अधिक है कि पाश्चात्य काव्य शास्त्र में इसे शिल्प विधि के महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में स्वीकार किया गया है"।[149] अध्ययन के विभिन्न क्षेत्रों में इसका अर्थ अलग अलग संदर्भो में लिया गया है किन्तु साहित्यिक धारा के अन्तर्गत इसे एक विषय विशेष का प्रतिनिधि माना गया है।[150] प्रतीक को अनेक विद्वानों ने अनेक ढंग से पारिभाषित किया है। "हमारी इन्द्रियों के समक्ष ऐसी वस्तुओं का प्रस्तुतीकरण जो अन्य वस्तुओं का द्योतन कर सके प्रतीक है"।[151] इसे दूसरे शब्दों में जब कहें तो यों कह सकते हैं कि– प्रतीकों द्वारा अप्रस्तुत वस्तुओं का बोध कराया जाता है। प्रतीकों के द्वारा ऐसी वस्तुओं को हमारी इन्द्रियों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है जो अन्य वस्तुओं का बोध करा सके।[152] प्रतीक का जब विश्लेषण करें तो उसमें दो बातों की प्रधानता होगी– एक तो अनुभूतियों के वैविध्य से चुनाव करने की प्रक्रिया का परिज्ञान और दूसरे इन अनुभूतियों की सांकेतिक शक्ति का बोध। निष्कर्ष यह कि अनुभव खण्डों में से प्रतीकों को ग्रहण किया जाना चाहिये जो अभिप्रेत अर्थ को संवेद्य बना सकें।[153] इसका मूल कारण यह है कि प्रतीकों के दो प्रमुख धर्म होते हैं एक तो अनुभव खण्डों को सुव्यवस्थित करना और दूसरे उनमें संप्रषणीयता लाना।[154] आशय यह कि भाव को दृष्टि से प्रतीक का महत्त्व अस्वीकार्य नही हो सकता। यह अभिव्यक्ति का एक अनिवार्य रूप है। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट हो जाना उचित है कि जब तक प्रतीक को चेतना संयुक्त अदृश्य यथार्थ को पा लेने की परम्परागत शक्ति न प्राप्त हो जाय यह सही प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ प्रमाणित होता है।[155] यही कारण है कि युग प्रतीक को वस्तु तत्त्व का आद्य-रूप कल्पना बिम्ब मानता है जो आरंभ में उपचेतना के स्तरों पर प्रतिभासित होता है।[156] इस प्रकार प्रतीक जिनके द्वारा कल्पनाशील साहित्यकार आत्माभिव्यक्ति करता है कलाकार के मन की गहराई से उभरे होते हैं और पाठक के मन पर छायी अदृश्य रिक्तता में गूंज उत्पन्न करते हैं।[157] क्योंकि, पाठक का हृदय सोये हुये अगनित भावों का केन्द्र होता है। और प्रतीक अपनी प्रवृत्ति में व्यग्य अधिक होता है।[158] अतः प्रतीक काव्य में सौन्दर्य का उद्घाटन स्वयं करने लगते हैं।

दिनकर की कविता में प्रतीक–

दिनकर की कविता में भावाभिव्यक्तियों के लिये प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। फ्रेन्च प्रतीकवादियों का सा प्रतीकवाद इनमें अनुपलब्ध है। इनके काव्य में न धूमिलता का आग्रह और न रहस्योन्मुखी प्रवृत्ति। साथ ही इनके काव्य में स्वप्न की जगह यथार्थ का आग्रह ही प्रमुख है। अतः इनके प्रतीक विधान को फ्रेंच प्रतीकवादियों के प्रतीकों से भिन्न समझना चाहिये क्योंकि इनके काव्य में काल्पनिकता के प्रति व्यामोह, अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का प्रकाशन, पलायनवादी निराशा का अतिरेक आदि तत्त्वों का अभाव सा है।

दिनकर के काव्य में जो प्रतीक प्रयुक्त हुये हैं, उन्हें हम मुख्यतः चार भागों में रख सकते हैं– (१) सांस्कृतिक प्रतीक, (२) ऐतिहासिक प्रतीक, (३) प्रकृति-प्रतीक, और (४) काम प्रतीक। इन चारों प्रतीकों में भी दिनकर में ऐतिहासिक और काम प्रतीक के प्रति अधिक अनुराग भाव व्यंजित हुआ है।

दिनकर के काव्य में सांस्कृतिक प्रतीक-

क्रान्ति और राष्ट्रीय चेतना के कवि होने के कारण दिनकर ने अपने समस्त काव्य साहित्य में सांस्कृतिक प्रतीकों को प्रश्रय दिया है। इन्होंने पौराणिक तथा धार्मिक प्रतीकों के सहारे अनेकानेक स्थलों पर भावाभिव्यक्ति की है। पौराणिक प्रतीकों में भी महाभारत कालीन प्रतीकों ने कवि को अपेक्षाकृत अधिक लुभाया है। उदाहरण स्वरूप कवि ने युधिष्ठिर को शान्ति और अहिंसा का प्रतीक माना है तथा अर्जुन और भीम को शक्ति एवं पौरुष का-

"रे रोक युधिस्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर
पर फिरा हमें गांडीव गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।[159]

कवि ने यत्र तत्र पौराणिक प्रतीकों के साथ ऐतिहासिक प्रतीकों का भी संगम प्रस्तुत किया है-

"कितनी द्रुपदा के बाल खुले
कितनी कलियों का अंत हुआ
कह हृदय खोल चितौड़ यहाँ
कितने दिन ज्वाल वसंत हुआ।[160]

प्रस्तुत अवतरण में द्रुपदा आधुनिक संत्रस्त नारियों का सांस्कृतिक प्रतीक है तथा चित्तौड़ ऐतिहासिक प्रतीक। ये प्रतीक एक प्रकार से अन्याय, युद्ध और यंत्रणा की ओर संकेत करते हैं। ये दोनों प्रतीक क्रमशः पुराख्यान और इतिहास की दो घटनाओं को अभिव्यक्त करते हैं।

भारतीय जन जीवन का चित्रण करते हुये दिनकर ने भारतीय रूढ़ियों, त्यौहारों रीति-रिवाजों आदि की अभिव्यक्ति भी सांस्कृतिक प्रतीकों के सहारे की है।

उदाहरणतः—

वन तुलसी के गंध के लिये हल्कीं पुरवैया आती है
मंदिर की घंटा ध्वनि युग-युग का संदेश सुनाती है
टिम टिम दीपक के प्रकाश में पढ़ते पोथी निज शिशु गन
परदेशी की प्रिया बैठ गाती यह विरह गीत उन्मन।[161]

डा० कैलाश वाजपेयी के शब्दों में-तुलसी का वृक्ष यद्यपि प्रकृति प्रतीकों के अन्तर्गत आता है किन्तु भारतीय धर्म साधना के इतिहास में अत्यधिक पवित्र होने के कारण उसे धार्मिक प्रतीकों के अन्तर्गत ले लिया गया है। 'मन्दिर' भी धार्मिक प्रतीकों की श्रेणी में ही आता है। पुरवैया, दीपक आदि लोक संस्कृति के वे उपादान हैं जिन्हें मानव जीवन से परम्परागत आस्था प्राप्त है।[162]

ठीक उसी प्रकार दिनकर ने 'सेन्दुर और 'पीली चीर' को सुहाग का प्रतीक और 'सोलह फूलों वाली' को षोड़शी नव बाला का प्रतीक मानकर भारतीय ग्रामीण जीवन के सांस्कृतिक पक्ष का निदर्शन किया है—

माथे में सेन्दुर पर छोटी दो बिन्दी चमचम सी
पीली चीर कोर में जिसके चममक गोटा जाली
चली पिया के गांव उमर के सोलह फूलों वाली।[163]

ऐतिहासिक प्रतीक

दिनकर ने राजनीतिक जागृति और राष्ट्र भावना को उद्दीप्त करने के लिये ऐतिहासिक प्रतीकों का सहारा लिया है। वर्तमान समाज की दुर्दशा को अंकित करने के लिये विरोध स्वरूप प्राचीन वैभव और समृद्धि को पृष्ठभूमि में रखकर दिनकर ने इतिहास के प्रसिद्ध चरित नायकों को भी प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है—

दुनियां के नीरों सावधान
दुनियां के पापी जार सजग
जाने किस दिन फुंकार उठे
पद दलित काल सर्पों के फन ।[164]

नीरो और जार दोनों ऐतिहासिक प्रतीक हैं। दोनों को कवि ने अन्यायी और शोषक के प्रतीक के रूप में यहां ग्रहण किया है। ये दोनों इतिहास के कलंक हैं। इन दोनों प्रतीकों द्वारा कवि ने वर्तमान युग के शासकों को चुनौती है।

इसी प्रकार राष्ट्र के लिये मर मिटने वाले महाराणा प्रताप का सांकेतिक प्रतीक प्रस्तुत करते हुये कवि ने वर्तमान युग के युवकों को प्रेरणा दी है—

"सूख रही है बोटी बोटी
मिलती नहीं घास की रोटी
गढ़ते हैं इतिहास देश का
सहकर कठिन क्षुधा की मार ।[165]

घास की रोटी एक ऐतिहासिक प्रतीक है। इसे अभावग्रस्त स्थिति का प्रतीक कह सकते हैं जो राष्ट्र की रक्षा के लिये कुर्बानी करते समय राष्ट्र को सहज ही सहनी पड़ती है।

सन १९३५ में जब इटैलियन फासिस्टों ने अबीसिनिया पर क्रूर आक्रमण किया था तो दिनकर पर उसकी तत्काल प्रतिक्रिया हुयी थी। उन्होंने हिटलर को अत्याचारी आक्रमण कारी तथा शोषक शासक के प्रतीक के रूप में तथा यहूदी को दलितों के प्रतीक के रूप में लिया था—

"राइन तट पर खिली सभ्यता
हिटलर खड़ा कौन बोले
सस्ता खून यहूदी का है
नाजी निज स्वस्तिक बोले ।[166]

निष्कर्ष यह कि अपनी क्रान्ति चेतना से संबंधित कविताओं में कवि ने भावाभिव्यक्ति के लिये इसी प्रकार के अनेकानेक ऐतिहासिक प्रतीकों का सहारा लिया है।

प्रकृति प्रतीक-

दिनकर के काव्य में प्रकृति प्रतीक के भी अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं।

प्रकृति प्रतीकों का अधिकांश प्रयोग उर्वशी में हुआ है। उदाहरणत: निपुणिका और मदनिका में पुरुरवा तथा उर्वशी के प्रेम को लेकर संवाद चल रहा है। निपुणिका उर्वशी के सौन्दर्य का वर्णन कर रही है और मदनिका उर्वशी के भाव जानना चाहती है। वह पूछती है–

"पर तुम कहो कथा आगे की पूर्ण चंद्र जब आया
अचल रहा अथवा मर्यादा छोड़ सिंधु लहराया।"[167]

यहाँ उर्वशी के लिये पूर्णचन्द्र और पुरुरवा के लिये सिंधु का प्रतीक प्रयुक्त हुआ है। पूर्ण चन्द्र को देखकर सागर अचल नहीं रह सकता। अपनी लहरों की बाहें फैलाकर उसके आलिंगन के लिये वह लहराता ही है। यहाँ इन दो प्रकृति प्रतीकों द्वारा उर्वशी और पुरुरवा के पारस्परिक आकर्षण भाव की व्यंजना की गयी है। एक दूसरा उदाहरण भी द्रष्टव्य है –

"एक ही आशा मरुस्थल की तपन में
ओ सजल कादिम्बनी सिर पर तुम्हारी छांह है
एक ही सुख है उरस्थल से लगा लूं
ग्रीव के नीचे तुम्हारी बांह है।"[168]

इस उदाहरण में 'मरुस्थल' प्रतीक है निराशा, अभाव ग्रस्त और पिपासाकुल प्रेमी पुरुरवा का और कादिम्बिनी प्रतीक है उर्वशी की।

प्रकृति प्रतीक का एक अन्य उदाहरण सुकन्या के संवाद से लिया जा सकता है। सुकन्या नारियों को उपदेश देती हुयी कहती है कि जब तक यौवन का आकर्षण है तभी तक उसका स्थान पुरुषों की नजर में है। इसी हेतु इस आकर्षण वय में ही एक की बनकर जीवन का सुख सुरक्षित कर लेना चाहिये–

"इसी लिये कहती हूँ जब तक हरा भरा उपवन है
किसी एक के साथ बांध लो तार निखिल जीवन का
न तो एक दिन वह होगा जब गलित म्लान अंगों पर
क्षण भर को भी किसी पुरुष की दृष्टि नहीं विरमेगी
बाहर होगा विजन निकेतन भीतर प्राण तर्जेंगे
अन्तर के देवता तृषित भीषण हाहाकारों में।"[169]

प्रथम और पंचम पंक्ति में क्रमश: यौवनावस्था के लिये हरे भरे उपवन तथा बुढ़ापे के लिये विजन निकेतन का प्रतीक बड़ा ही भाव व्यंजक है।

प्रकृति प्रतीक के ऐसे उदाहरणों से उर्वशी भरी पड़ी हैं।

काम प्रतीक

काम प्रतीक की योजना दिनकर ने उर्वशी में की है । यद्यपि दिनकर का यह क्षेत्र अपना नहीं है, किन्तु रेणुका में जिस शृंगारिक भावना की हल्की-सी झांकी मिली थी उसका पूर्ण विकास उर्वशी में आकर हुआ है । उर्वशी की भावभूमि मनोवैज्ञानिक है और आज के मनोविज्ञान पर फ्रायड का प्रत्यक्ष प्रभाव है । फलतः उर्वशी में काम का सुन्दर विश्लेषण हुआ है । नर-नारी के पारस्परिक आकर्षण और प्रेम परक सम्बन्ध की पूर्ण मीमांसा हुयी है । फलतः उर्वशी में कवि ने जिन प्रतीकों का प्रयोग किया है उनमें अधिकांश काम प्रतीक ही कहे जा सकते हैं । यद्यपि उर्वशी की भूमिका में ही दिनकर ने उर्वशी को सनातन नारी और पुरुरवा को सनातन पुरुष का प्रतीक माना है ।[170] इस आधार पर तो संपूर्ण उर्वशी में सांसकृतिक प्रतीकों का बाहुल्य होना चाहिये । किन्तु, अपनी मान्यता का स्पष्टीकरण करते हुये स्वयं कवि ने लिखा है—"उर्वशी चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक तथा श्रोत्र की कामना का प्रतीक है, पुरुरवा, रूप, रस, गध स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखों से उद्वेलित मनुष्य का ।[171] कवि उपरोक्त विचार से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण काव्य का आधार मनोविज्ञान ही है । 'उर्वशी' की चित्रलेखा पुरुष मनोविज्ञान का विश्लेषण करती हुयी कहती है—

सहधर्मिणी गेह में आती कुल पोषण करने को
पति को नहीं नित्य नूतनमादकता से भरने को
किन्तु पुरुष चाहता भींगना मधु क नये क्षणों से
नित्य चूमना एक पुष्प अभिसिंचित ओस कणों से ।[172]

उपरोक्त पंक्तियों में 'मधु के नये क्षण' नित नूतन अभिनव प्रेम के लिये और 'अभिसिंचित ओस कण' नव यौवन के सरस आकर्षण का प्रतीक बनकर आया है । उपरोक्त ये तीनों प्रतीक पुरुष की नित नूतनता प्रिय शृंगारिक प्रवृत्ति पर प्रकाश डालते हैं।

उर्वशी के तृतीय अंक में उर्वशी और पुरुरवा का सरस संवाद चल रहा है । दोनों एक दूसरे में समा जाना चाहते हैं । पुरुरवा से उर्वशी कहती है—

आ मेरे प्यारे तृषित शान्त अन्तः सर में मज्जित करके
हर लूंगी मन की तपन, चांदनी फूलों से सज्जित करके
रसमयी मेघमाला बन कर मैं तुम्हे घेर छा जाऊंगी
फूलों की छांह तले अपने अधरों की सुधा पिलाऊंगी ।[173]

उपरोक्त अवतरण में तपन पुरुरवा की अतृप्त प्रेम पीड़ा के लिये तथा 'चांदनी फूल' उर्वशी के स्निग्ध प्रेम के लिये तथा 'रसमयी मेघ माला' अनवरत सरस प्रेम की वर्षा करने वाली उर्वशी के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुये हैं। उपरोक्त सभी प्रतीक तो प्रकृति प्रतीक के उदाहरण हैं किंतु अर्थ व्यंजना में काम भावना के प्रतीक बन जाते हैं। अतः उन्हें काम प्रतीक कहना ही उपयुक्त होगा। दिनकर की सुकन्या एक पतिव्रता आदर्श रमणी है। वह गृहणी और अप्सरा का अन्तर स्थापित करती हुयी उस नारी के मनोविज्ञान का विश्लेषण करती है जो सतत नवीन रस पाने के हेतु नव पुरुषों की खोज में रहती है। वह कहती है—

"शिखर, शिखर उड़ने में जाने कौन प्रमोद लहर है।
किन्तु, एक तरु लग सारी आयु बिता देने में
जो प्रफुल्ल घन गहन, शान्ति है, वह क्या कभी मिलेगी
नये नये फूलों पर नित उड़ती फिरने वाली को।"[174]

'शिखर-शिखर' और नये-नये फूल यहां नये पुरुषों के प्रतीक हैं तथा 'एक तरु' एक विशिष्ठ पुरुष अथवा पति के लिये आया है। इसी तरह अन्तिमपंक्ति उस नारी की प्रतीक है जो नित्य नये पुरुष प्रेमियों की खोज में रहती है। उपरोक्त प्रतीकों द्वारा विशिष्ठ नारी मनोभाव का विश्लेषण तो हुआ ही है साथ ही उसके उद्दाम काम भाव की भी व्यंजना हुयी है।

निष्कर्ष

उपरोक्त समस्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि दिनकर के प्रतीक आधुनिकता के संस्पर्श के परिचायक हैं। यद्यपि प्रतीक-प्रयोग भारत में अर्वाचीन काल की ही देन नहीं है वरन प्राचीन काल के कवियों ने भी किया है। जायसी का पद्मावत तो सम्पूर्णरूपेण प्रतीक काव्य ही है।[175] कबीर ने भी प्रतीकों के सहारे अपने भावों की अभिव्यंजना की है।[176] किन्तु जायसी और कबीर के प्रतीक उनकी आध्यात्मिक भावना के द्योतक हैं क्योंकि इन कवियों का जीवन दर्शन, इन पर पड़े प्रभाव तथा उनके युग की चेतना सबके सब आध्यात्मि पृष्ठभूमि से निर्मित थे। किन्तु, दिनकर ने जिन प्रतीकों के सहारे अपने भावों की अभिव्यक्ति की है वे दिनकर की युग की चेतना से प्रसूत हैं। दिनकर ने आधुनिक युग बोध को ही प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया है—चाहे वे प्रतीक सांस्कृतिक हों या ऐतिहासिक। यही कारण है कि इनके प्रतीकों का अध्ययन आधुनिक कला शिल्प के अन्तर्गत किया गया है, परम्परागत काव्य शिल्प के अन्तर्गत नहीं।

(ग) बिम्ब विधान

बिम्ब शब्द की परिभाषा अनेक प्रकार से अनेक विद्वानों ने दी है । काव्य में बिम्बवाद के प्रवर्तक ह्यूम ने लिखा है—"लोग कविता से अपेक्षा करते हैं कि वह उन्हें किसी से परे ले जायगी और रोमान्टिक काव्य ने तो हमारे साथ यहां तक छल किया है कि बिना अस्पष्टता या विविक्त से हम उत्कृष्ट काव्य को भी अस्वीकार कर देते हैं ।[177] ह्यूम के अनुसार कविता कवि की भाषा को व्यक्त करने का माध्यम है । यह भाषा संवेदना को देह प्रदान करती है ।[178] इसी हेतु कविता में बिम्ब न केवल सज्जा का उपकरण मात्र है बल्कि मन की भाषा का सार भी ।[179]

साहित्य में बिम्ब से तात्पर्य होता है साहित्यकार की उस शक्ति से जिसकी सहायता के वह बीती हुई घटनाओं और विषय वस्तु का रंग, ध्वनि, गति आकार प्रकार सहित देश काल परिस्थिति को ध्यान में रखकर शब्द चित्रों में वर्णित कर देता है और यह शब्द चित्र ठीक उसी प्रकार का होता है जैसे कि उस घटना या वस्तु का स्वरूप था ।[180] निष्कर्ष यह कि बिम्ब चित्रण केवल शब्दों में रूप खड़ा करना मात्र न होकर पाठक के विचार और मनोवेगों को उद्वेलित करने वाली कला पूर्ण क्रिया है ।[181] सी० डी० लेविस ने बिम्ब पर विचार करते हुए उसे परिभाषा में बांधने का प्रयास किया है । उन्होंने लिखा है काव्य बिम्ब एक प्रकार से ऐन्द्रिय शब्द चित्र है जो कुछ अंशों तक अलंकार पूर्ण होता है जिसके संदर्भ में मानवीय संवेदनायें निहित होती है तथा पाटक के मन में विशिष्ट रागात्मक भाव उद्दीप्त करता है ।[182] जेम्स आर० क्रूजर ने भी बिम्ब को पारिभाषित किया है। उनके मतानुसार जो मनोवृति बिम्ब विधान के पीछे सक्रिय रहती है वह भावावेगमय विचारों और वस्तुओं के कल्पित रूप को इन्द्रिय ग्राह्य बनाने की चेष्टा है ।[183] तात्पर्य यह कि कोई भी ऐसी अभिव्यक्ति जो ऐन्द्रियता को संस्पर्श कर सके बिम्ब के अन्तर्गत आ सकती है । जहाँ तक काव्य में बिम्ब की उपयोगिता का प्रश्न है बिम्ब के सहारे काव्य में मुख्यार्थ तक पहुँचने में बड़ी ही सरलता होती है ।[184]

अब प्रश्न उठता है कि बिम्ब की उत्पति का क्या आधार है ? वस्तुतः इसकी उत्पत्ति का मूल कारण जीवन की मूलभूत समस्याओं से संबंधित है । मनुष्य के मन में शैशव से ही जीवन गत अनुभवों एवं शिक्षा के प्रभावों से अनेकानेक धारणायें संस्कार रूप में उसके अवचेतन में विद्यमान रहती हैं । ये ही धारणायें बिम्ब सृजन में सहायक होती हैं ।[185] आशय यह कि मनुष्य स्वभावतः घटना और वस्तु को

बिम्ब रूप में ग्रहण करता है और फिर रूपकों, बिम्बों और प्रतीकों द्वारा अपने आपको अभिव्यक्त करता है। अतः बिम्ब काव्य का एक महत्वपूर्ण तत्व बन जाता है।

अब संक्षेप में बिम्ब और प्रतीक का अन्तर भी स्पष्ट हो जाना चाहिये। सी० डी० लेविस ने इस पर गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार प्रतीक मे सक्षिप्तता और सांकेतिकता होती है। वह वस्तु विशेष का प्रतिनिधित्व करता है। फलतः प्रतीक का अर्थ सब के लिये समान होता है। इसके अतिरिक्त प्रतीक पूर्ण रूपेण परम्परा सापेक्ष्य भी होता है। ठीक इसके विपरीत बिम्ब यथातथ्य पूर्ण और संवेगीण होता है। वह अविछिन्न वस्तु व्यापार का प्रतिपादन करता है। बिम्ब का अर्थ हर व्यक्ति अपने अनुभव के आधार पर कम या अधिक तीव्रता से अनुभव करता है। बिम्ब को नितान्त आकस्मिक माना गया है। इस तरह बिम्ब प्रतीक का ठीक विपरीत होता है।[186] उपरोक्त अन्तर को देखते हुये यह कहना आवश्यक हो जाता है कि बिम्ब प्रतीक की अपेक्षा काव्य का अधिक जीवन्त तत्व है। बिम्ब विधान में जीवन के किसी भी क्षेत्र या अवस्था का समावेश हो सकता है क्योंकि बिम्ब योजना द्वारा मानव की रागात्मक वृतियों की गहराई का पता चलता है।[187] आशय यह कि जीवन के सभी क्षेत्रों से बिम्ब लिये जा सकते हैं। यही कारण है कि बिम्ब का कोई भी विभाजन अन्तिम नही हो सकता।[188] इसका क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसे विभाजन के क्षेत्र में बांधना उचित नहीं। यहाँ हम केवल उन्ही बिम्बों की चर्चा करेंगे जिनको दिनकर ने अभिव्यक्ति का साधन बनाया है।

युगीन परिस्थितियों में परिवर्तन होने से जिस प्रकार काव्य की विभिन्न प्रवृतियाँ बदल जाती हैं उसी प्रकार राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक कारणों से रचना शिल्प की विधि भी बदल जाती है। छायावादी काव्य में सूक्ष्म कल्पना चित्रण के कारण भाव एवं सान्द्र बिम्बों का बाहुल्य था। किन्तु प्रगतिशील युग में यथार्थ वादी और बौद्धिक दृष्टिकोण की प्रधानता होने के कारण दृष्य, विवृत एव वस्तु बिम्बों की प्रधानता मिली। दिनकर के काव्य में बिम्बों की अपेक्षा चित्रों की अधिक योजना हुयी है। काव्यगत दृष्टिकोण में दिनकर प्रगतिशील युग के प्रतिनिधि के रूप में अधिक मुखर हुये हैं। फलतः अभिधार्थ के सहारे यथार्थ चित्रांकन मे इनकी अधिक रूचि रही है। हाँ आधुनिक शिल्प विधि से प्रभावित होने के कारण यत्र तत्र कुछ बिम्बों का भी विधान हो गया है जिस पर विचार करना आवश्यक है।

दृश्य बिम्ब–

इस बिम्ब विधान में रंग, रूप और विभिन्न चेष्टाओं के चित्रांकन की सृष्टि रहती है। दिनकर के काव्य में ऐसे अनेक दृश्य बिम्ब देखने को मिलते हैं। प्रतिष्ठान पुर के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन करते समय दिनकर ने दृश्य बिम्ब का प्रयोग किया है—

"नीचे पृथ्वी पर बसंत की कुसुम विभा छायी है
ऊपर है चन्द्रमा द्वादशी का निर्भेद्य गगन में
खुली नीलिमा पर विकीर्ण तारे यों दीप रहे हैं
चमक रहे हों नील चीर पर बूटे ज्यों चाँदी के
या प्रशान्त निस्सीम जलधि में जैसे चरण चरण पर
नीलवारे को फोड़ ज्योति के द्वीप निकल आये हों"।[189]

प्रस्तुत अवतरण में कवि ने शुक्ल पक्ष की एकान्त रात्रि के चित्र को इस तरह बिम्बित किया है कि उस रात्रि की समस्त सुषुमा अपने सम्पूर्ण आकर्षण के साथ सजीव हो उठी है।

'उर्वशी' के नायक पुरुरवा उर्वशी के समक्ष उसके रूप की श्लाघा कर रहे हैं। उर्वशी सौन्दर्य का चित्रांकन करते हुये वे कहते हैं–

"इन कपोलों की ललाई देखते हो ?
और अधरों की हँसी यह कुंद सी जूही कली सी
गौर चपक चष्टि सी वह देह श्लथ पुष्पा भरण से
स्वर्ण की प्रतिमा कला के स्वप्न साँचे में ढली सी"।[190]

उपरोक्त पंक्तियों में अधरों की हँसी के लिये 'कंद सी' तथा 'जूही की कली सी' बिम्ब का प्रयोग किया गया है। साथ ही पुष्पाभरण से भूषित चंपक सी गौर देह के लिये कला के स्वप्न साँचे में ढली हुयी स्वर्ण प्रतिमा का बिम्ब और भी रमणीय है। यह बिम्ब रंग योजना के आधार पर विनिर्मित है। अधर, कपोल और देह तीनों का सौन्दर्य निखर उठा है जो अनायास ही पाठक की ऐन्द्रियता को स्पर्श करता है।

अलंकृत बिम्ब-

डा० कैलाश वाजपेयी के मतानुसार इस वर्ग के बिम्ब में परम्परा का आग्रह अधिक होता है। इसीलिये इनमें एक प्रकार का चमत्कार और ऊहात्मकता ही देखने

को मिलती है। इनके प्रयोग की पृष्ठभूमि में उक्ति वैचित्र्य रूपक निर्वाह तथा शिल्प सज्जा का भाव अधिक होता है।[191] दिनकर की उर्वशी में ऐसे बिम्बों का अधिक प्रयोग हुआ है। उदाहरणतः

महाराज ने देख उर्वशी को अधीर अकुला कर
बाहों में भर लिया दौड़ गोदी में उसे उठा कर
समा गयी उर बीच अप्सरा सुख संभारनता सी
पर्वत के पंखों में सिमटी गिरि मल्लिका लता सी[192]

पुरुरवा की बाहों में समायी हुयी उर्वशी के लिए पर्वत पंखों में सिमटी गिरि मल्लिका लता सी का विम्ब पूर्णतः आलंकारिक है। यह उपमान अपने आप में परम्परित है। अतः इसे अलंकृत विम्ब के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

अलंकृत बिम्ब के अन्तर्गत प्रगतिशील कवियों के वे चित्र भी आ जाते है जिनमें नवीन उपमानों की खोज और उनके उपयुक्त प्रयोग पर अधिक बल दिया जाता है। प्रगतिशील कवियों के अलंकृत बिम्ब पर प्रकाश डालते हुये डा० कैलाश वाजपेयी ने कहा है—"प्रगतिशील युग ने काव्य के समस्त उपकरणों में नवीनता के आग्रह ने कवियों को नवीन उपमानों की खोज और उनके उपयुक्त प्रयोग के लिये प्रेरित किया है।[193] दिनकर द्वारा प्रयुक्त बिम्बों में ऐसे उदाहरणों की अधिकता है।

उर्वशी के प्रकट होने का वर्णन निपुणिका कर रही है। वर्णन क्या है चित्रांकन है जिसका प्रत्येक बिम्ब अभिनव उपमानों से युक्त है। उदाहरण स्वरूप—

प्रकटी जब उर्वशी चांदनी में द्रुम की छाया से
लगा सर्प के मुख से जैसे मणि बाहर निकली हो
या कि स्वयं चांदनी स्वर्ण प्रतिमा मे आन ढली हो।[194]

द्रुम छाया से प्रकट होती हुयी उर्वशी के लिये कवि ने सर्प मुख से निकलती हुयी मणि तथा चांदनी की स्वर्ण प्रतिमा का विम्ब प्रस्तुत कर अलकृत बिम्ब का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है।

अभिनव उपमानों से युक्त एक आलंकारिक बिम्बका उदाहरण 'सामधेनी' से दिया जा सकता है। जीर्ण, शीर्ण इस दुनियां के लिये दम तोड़ती हुयी बुढ़िया का उपमान प्रस्तुत कर कवि की कला ने सत्य और कल्पना के सहारे एक यथार्थ विम्ब अंकित किया है—

"बृद्ध सूर्य की आँखों पर माड़ी सी चढ़ी हुयी है ।
दम तोड़ती हुयी बुढ़िया सी दुनियाँ पड़ी हुयी है" ।[195]

भाव बिम्ब–

दिनकर के काव्य में बौद्धिकता और यथार्थ दृष्टि के प्रति आग्रह भाव होने से भाव बिम्ब का प्रायः अभाव सा है। जहाँ तहाँ एकाध उदाहरण उपलब्ध भी होता है तो उसमें छायावादी भाव बिम्बों की तरह धूमिलता तथा कल्पना शीलता का अभाव सा है। डा० कैलाश वाजपेयी के शब्दों में– छायावाद के भावात्मक बिम्बों में अस्पष्ट एवं सूक्ष्म चित्रण से उदभूत-प्रभाव को भावात्मक बिम्बों की श्रेणी में रखा गया था जबकि प्रगतिशील युग में स्थूल चित्रण तथा तर्क पूर्ण संगतियों के कारण पड़ने वाले प्रभाव को इस वर्ग के बिम्बों के अन्तर्गत रखा गया है।[196] दिनकर के भाव बिम्बों में यह स्थूल चित्रण तथा तर्क पूर्ण संगतियों के कारण पड़ने वाले प्रभाव बिम्बित हुये हैं–

स्तब्ध को भेद बार बार
आ रहा है क्षीण हाहाकार
यह हृदय द्रावक करुण
वैधव्य की चीत्कार
यह किसी बुढ़े पिता की भग्न आर्त पुकार
यह किसी मृत वत्सला की आह
आ रही करती हुयी दिव दाह ।[197]

डा० कैलाश वाजपेयी के अभिमत से युद्ध के विनाश कारी प्रभाव को कवि ने बड़े ही वेग से बिम्बित किया है। यह बिम्बि तत्काल करुणा की सृष्टि करता है । तथा साथ ही एक स्पष्ट सी अनुभूति के साथ युद्ध की संध्या का आभास देता है ।[198]

भाव बिम्ब का दूसरा उदाहरण 'उर्वशी' में देखा जा सकता है–

"कबरी के फूलों का सुवास आकुंचित अधरों का कंपन
परिरंभ वेदना से विभोर कंटकित अंग मधुमय नयन
दो प्राणों से उठने वाली वे झंकृतियाँ गोपन मधुमय
जो अगरु धूम सी हो जाती ऊपर उठ एक अपर में लय" ।[199]

प्रेमी प्रेमिका जब प्रेम के रंग में रंग कर एकाकार हो जाते हैं तो वे दोनों

अपना पृथकत्व खो देते हैं। पुरूरवा और उर्वशी दोनों प्रेम के महामिलन में एकाकार हो जाते हैं। कवि इसके लिये अगरु धूम का बिम्ब प्रस्तुत करता है जो अपर में जाकर लय हो जाता है। इस भाव बिम्ब की रूमानी कल्पना ठीक छायावादियों जैसी है।

विवृत बिम्ब

इस वर्ग के बिम्ब का गुण विराट कल्पना और भावों के प्रसरण में निहित है। इस वर्ग के बिम्बों में कवि की कल्पना विवरण के साथ ही भावों के अटूट जाल बिखराती हैं।[200] प्रगतिशील काव्य में ऐसे बिम्ब अधिक मिलते हैं। दिनकर के काव्य में भी इसके दर्शन अनेक स्थलों पर होते हैं। सामधेनी का एक ऐसा ही बिम्ब द्रष्टव्य है।

"समस्त सूर्यलोक एक हाथ में लिये हुये
दबा के एक पाँव चन्द्रमाल पर दिये हुये
खगोल में धुआँ बिखेरती प्रलयश्वास से
भविष्य को पुकारती हुयी प्रचण्ड हास से
उछाल दैव लोक को मही से तौलती हुयी
मनुष्य के प्रताप का रहस्य खोलती हुयी
विराट रूप विश्व को दिखा रही जवानियां।"[201]

डा० कैलाश वाजापेयी के विचार से गत्यात्मक चित्रमयता से युक्त विप्लव की विराट कल्पना को कवि ने यहाँ बिम्बित किया है।[202] इसे विवृत बिम्ब का सफल उदाहरण कहा जा सकता है।

उपरोक्त वर्णित बिम्बों के अतिरिक्त दिनकर के काव्य में प्रणय संबन्धी[203] तथा दैनिक जीवन संबंधी[204] कई अन्य छोटे छोटे बिम्ब भी उपलब्ध होते हैं जिनके संयोजन से काव्य में चित्रात्मकता और अधिक बढ़ गयी है।

दिनकर का बिम्ब विधान यद्यपि व्यापक नहीं है किन्तु जो भी बिम्ब अंकित किये गये हैं– उनमें न क्लिष्टता है, न दुरूहता और न कल्पना की अतिशयता ही। आधुनिक युग के प्रतिनिधि कवि होने के कारण दिनकर की शिल्प-विधि ने बिम्ब-योजना द्वारा आधुनिक कला शिल्प का संस्पर्श किया है। मुख्य रूप से बिम्बों का विधान उर्वशी के अन्तर्गत ही हुआ है।

(६) दिनकर की भाषा संचेतना

मानव अपने विचार प्रकशन के निमित्त भाषा के प्रयोग करता है। भाषा का निर्माण, वर्ण,शब्द और वाक्यों के सहयोग से होता है। शब्द-रचना की दृष्टि से भाषा में वर्ण विन्यास का महत्त्व है किन्तु अर्थ की दृष्टि से शब्दों का सर्वाधिक महत्व होता है। जब सार्थक शब्दों के द्वारा व्याकरण सम्मत वाक्य बनते हैं तभी वे भाव प्रकाशन में सहायक होते हैं। अतएव किसी भी कवि की भाषा की परीक्षा करने में सर्व प्रथम उस कवि के शब्द-प्रयोग की सफलता पर ही विचार होना चाहिये।

शब्दों पर दो प्रकार से विचार किया जा सकता है। सर्व प्रथम यह देखा जाय कि कवि ने किस प्रकार की शब्दावली का अधिक प्रयोग किया है। शब्द तत्सम हैं या तद्भव,देशज हैं या विदेशज। फिर शब्दों के प्रयोग में स्थानीय प्रभाव(लोकल कलर) का विवेचन करना चाहिये। इसी के साथ उसकी व्याकरण निष्ठता पर भी विचार होना चाहिये।

अस्तु, दिनकर की भाषा संचेतना की परीक्षा भी इसी कसौटी पर की जाय तो उचित है।

दिनकर आधुनिक युग के कवियों में भाषा की दृष्टि से सर्वाधिक सशक्त है। छायावादी कवियों की अपेक्षा भी इनकी भाषा-सचेतना प्रौढ़ है।[205] कथन में जो चातुर्य दिनकर में है उसका दूसरा उदाहरण अभी नहीं मिलता। डा० सावित्री सिन्हा के शब्दों में दिनकर की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है अभिव्यक्ति की स्वच्छता। इस अभीष्ट की प्राप्ति उन्होने सर्वत्र ऋजु,सहज,सार्थक और भावानुकूल शब्दों के प्रयोगों द्वारा की है। चाहे उनकी भाषा हुंकार की आग बरसा रही हो, रसवन्ती के रस की अभिव्यक्ति के लिये शब्द खोज रही हो,जीवन के वैषम्यों और कठोर यथार्थ को व्यक्त करने के लिये अकुला रही हो अथवा कुरुक्षेत्र और उर्वशी को रूप देने की चेष्टा कर रही हो उसकी गतिमयता,सरसता और प्रसन्न गभीरता में अन्तर नहीं आता।[206] डा० सिन्हा की तरह अनेक विद्वानों ने मुक्त कंठ से इनकी भाषा की सराहना की है।[207] वस्तुतः भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से दिनकर बेजोड़ हैं। अपनी अनुभूति को यथावत सप्रेषण करने में दिनकर जी की भाषा प्रशसनीय ही नहीं स्पृहणीय भी है। शब्दों की अन्तरात्मा से कवि का निकट का परिचय है। अपने भावों को शब्दों में भरने का अच्छा परिज्ञान है। दिनकर अपने शब्दों के कुशल प्रयोग से अनुकूल वातावरण का सृजन करते हैं।

दिनकर के काव्य में प्रयुक्त-तत्सम शब्दावली

दिनकर ने लाक्षणिक प्रयोगों में प्राय: तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया है । यह दिनकरजी की निजी विशेषता है कि वे संस्कृत के क्लिष्ट और दुरूह शब्दों के प्रयोग से बचते रहते हैं । किन्तु, जहाँ वे शब्दों के द्वारा भाव, चित्र और वातावरण तीनों का मिश्रित स्वरूप प्रस्तुत करना चाहते हैं । वहां तत्सम शब्दों का विशेष प्रयोग करते हैं । 'आलोक धन्वा' शीर्षक कविता में स्वयं शीर्षक भी तत्सम शब्दावली है । कवि ने क्रांति के वाहक के आलोक पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण तत्सम शब्दावली में ही किया है । फलत: व्यक्तित्व की आत्मा और प्रखता स्वत: निखर उठी है ।[208]

प्राय: कवि नाद सौन्दर्य और ओज गुण लाने के लिए तत्सम शब्दावली का अधिक प्रयोग करता है । महाप्राण निराला के काव्य में इस कला ने उन्नत विकास पाया था । दिनकरजी ने भी ओज उत्पन्न करने के निमित्त तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है । सम्पूर्ण 'हिमालय' कविता में तत्सम शब्दों द्वारा ही ओज लाने का प्रयास किया गया है ।[209]

तत्सम शब्दों का बाहुल्य उर्वशी में अधिकता से देखने को मिलता है । उर्वशी की प्रबन्धोचित गरिमा और तदनुरूप वातावरण सृष्टि के लिये ही कवि ने तत्सम शब्दावली के प्रयोग पर इतना बल दिया है । वहां ओज और तरल दोनों प्रकार की उक्तियों के लिये कवि ने तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है यो राष्ट्रीय कविताओं में प्रयुक्त तत्सम शैली का चरम उत्कर्ष कुरुक्षेत्र में मिलता है, जहां केवल ओज गुण लाने के लिये कवि ने ऐसा विधान किया है । उर्वशी में अधिकांशत: तरल और कोमल भावों की अभिव्यक्ति में ही कवि ने तत्सम शब्दों का सहारा लिया है । ऐसे स्थलों पर तत्सम शब्दावली की क्लिष्टता और दुरूहता के दोष से बचकर अभिव्यति शैली स्वच्छ और स्पष्ट है ।

मैं कला चेतना का मधुमय प्रच्छन्न स्रोत
रेखाओं में अंकित कर रंगों के उभार
भंगिमा तरंगित वर्तुलता, वीचियां लहर
तन की प्रकान्ति रंगों के लिए उतरती हूँ ।[210]

\+ + +

दो प्राणो में उठने वाली झंकृतिया गोपन मधुमय

जो अगरू धूम सी हो जाती ऊपर उठ एक अपर में लय
जो द्वीपों की सम्मिलित ज्योति वह एक शिखा जब गाती है
मन के अगाध रत्नाकर मे यह देह डूबने लगती है।[211]

उर्वशी के अधिकांश स्थल इसी प्रकार की प्रसन्न, स्वच्छ और प्रफुल्ल तत्सम शब्दावली में चित्रित है।

दिनकर के काव्य में कुछ ऐसे तत्सम शब्दों के प्रयोग भी मिलते हैं जिसके लिये कवि को आलोचकों का तीखा प्रहार भी सहना पड़ा है। कुरुक्षेत्र के प्रथम सर्ग के प्रथम छद में श्वेत के लिये कवि ने 'वलक्ष' शब्द का प्रयोग किया[212] जिसका अर्थ जानने के लिये शब्द कोष की शरण मे जाना निश्चित है। साथ ही शब्दार्थ जानकर भी वातावरण प्रस्तुत करने में यह शब्द सर्वथा असमर्थ रहा है। यद्यपि बड़े बड़े अन्य कवि भी जब बुद्धि तत्वमय स्वरूप में कुछ विचित्र शब्दावली देना चाहते है तो वलक्ष जैसे शब्द लिख जाते हैं। महाकवि सूर ने भी एक जगह 'रोली' के लिये 'वन्दन' का और गोस्वामी तुलसीदास ने जल के 'वन' का प्रयोग किया है[213]किन्तु ऐसा प्रयोग जिस किसी भी कवि का क्यो न हो-आलोचना का विषय बनेगा ही।

दिनकर ने उर्वशी में भी कुछ ऐसे क्लिष्ट तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है। 'अयस्कांत' जैसे शब्दो को उद्धृत करके भगवत शरण उपाध्याय ने दिनकर जी को आड़े हाथों लिया है।[214] ऐसे ही प्रतिध्वान, त्रिदिव, सुरत्वर्म, विभावसु, जैसे अन्य शब्दो को क्लिष्ट और दुरूह कहा जा सकता है।[215]

दुरूहता के इन कतिपय उदाहरणो के अतिरिक्त अन्यत्र शैली सदा प्रफुल्ल ही रही है। उर्वशी को छोड़ कर अन्यत्र किसी भी रचना को अधिकार पूर्वक तत्सम प्रधान नहीं कह सकते हैं। उनके समस्त काव्य मे तत्सम शब्दो के प्रयोग में सतुलन और औचित्य का निर्वाह हुआ है। भाषा मे लाक्षणिक भाव गाभीर्य, अर्थ गरिमा, चित्रात्मकता का सशिलष्ट प्रयोग इसी शब्दावली युक्त शैली में सर्वाधिक हो सका है।

तद्भव और देशज शब्द

सरल और सहज भाषा लिखने वाला प्रत्येक कवि तद्भव और देशज शब्दों का प्रयोग करता ही है। दिनकर ने भी तत्सम के साथ इन शब्दो का प्रयोग कर भाषा को सरल और सर्वबोध गम्य बना दिया है। ऐसे शब्दों का प्रयोग कवि ने बिना किसी झिझक के किया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने दिनकर की भाषा की प्रशंसा करते हुये लिखा है– "दिनकर की भाषा चलते शब्दों का तिरस्कार नहीं

करती। उसमें संकेत ग्रह के विचार से प्रान्तीय शब्द भी बेखटके रख दिये गये हैं।[216] जिसमें प्रवाह में सहजता आ गयी है। दिनकर की भाषा की जनप्रियता का यही रहस्य है। सच्चे अर्थों में वह साहित्यिक रहकर भी जन हृदय के अधिक निकट पड़ती है, क्योंकि स्थानीय शब्दों के प्रयोग के कारण इसमें कृत्रिम शृंगारिकता के लिये प्रयुक्त शब्दाडम्बरों का सर्वथा अभाव ही है। प्रो० प्रकाश चन्द गुप्त के शब्दों में– "दिनकर के काव्य को अधिक शृंगार और शब्दाडम्बर से अरुचि है। उनके काव्य का मुख्य गुण स्वाभाविकता और गतिमयता है; सरलता, ओज और प्रवाह उसके लक्षण हैं..... इनकी कविता इसीलिये तीव्र लालसा रखते हुये भी खेतो और खलिहानों के स्वर में बोलती है।[217] अपनी बात का निष्कर्ष उन्होने केवल इतना ही कहकर दिया है कि दिनकर की भाषा अधिक सिगार पटार की कायल नहीं, वह सरल और बोधगम्य है। साधारण पढ़ा लिखा पाठक भी अनायास ही उसके प्रभाव में आ जाता है।[218] उपरोक्त उद्धरणों में दिनकर की भाषा की जिस सहजता और सरलता की इतनी प्रशंसा की गयी है उसका सारा श्रेय उनके द्वारा प्रयुक्त स्थानीय शब्दावली को है। अतः हम उदाहरणों द्वारा दिनकर की इस शब्दावली की विशिष्ठता पर विचार करेंगे।

रसवंती में उस किशोरी का कवि ने चित्र खींचा है जो अभी अभी वधू बन कर जाने वाली है। कवि लिखता है–

> "माँ की दीठ दुलार पिता की ओ लजवंती भोली
> ले जावेगी हिया की मणि की अभी पिया की डोली।[219]

प्रस्तुत अवतरण में लजवंती, हिया और प्रिया शब्द को निकाल कर अगर उनकी जगह क्रमशः लाजवन्ती, हृदय और प्रिय शब्द रखे जांय तो निश्चय ही इस काव्यांश के चमत्कार और प्रभाव दोनों घट जायेंगे। भावोपयुक्त शब्दों के प्रयोग मे वे सिद्ध-हस्त कलाकार है। उदाहरण के लिये– 'खेम कुशल' 'माझेठा'[220] अटके बनवारी [221], छिगुन छिगन[222], टीस [223], ओदी आँच, [224] जोग रही, [225] पपनी, [226] महमह [227] आदि जैसे शब्दों के प्रयोग की मार्मिकता ने दिनकर की कविता को जन काव्य के पद पर प्रतिष्ठित किया है। इन शब्दों ने भावों को मर्म तक पहुँचाने मे अद्भुत सफलता पायी है। दिनकर जैसे विशाल शब्द भंडार वाले कवि चाहते तो इन शब्दों से बच सकते थे, किन्तु इनके प्रयोग की योजना कवि ने समझ बूझ कर की है। उन्हें विश्वास है कि इन शब्दों के सहारे ही हम भाव गहनता लाने में समर्थ हो सकेंगे। यही कारण है कि उर्वशी की

तत्सम शैली के अन्तर्गत भी इन्होंने यदा कदा ऐसे प्रयोग किये है।[228] इसका एक मात्र कारण यह है कि वे शब्दकोश की सीमा लेकर चलने वाले कवि नहीं है। भावानुकूलता भाषा प्रयोग में इनका विश्वास है। यही कारण है कि अनुभूतियों की ऋजुता, सहजता और सरलता के लिये वे स्थानीय शब्दों का अधिकाधिक सफल प्रयोग करते हैं।

विदेशी शब्दावली–

दिनकर ने अपनी भाषा में उर्दू, फारसी और अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है। किन्तु, इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य यह है कि उर्दू के ऐसे शब्दों में भी सामान्य शब्द ही अधिक प्रयुक्त हुये हैं जिनका प्रयोग अधिकाधिक प्रचलन में हैं। साथ ही इन शब्दों का प्रयोग उन्होंने अपनी भाषा के व्याकरणानुसार किया है। उदाहरण स्वरूप हम कुछ शब्दों की सूची यहाँ प्रस्तुत कर रहें हैं।

उर्दू फारसी शब्दावली-

मशाल[229], मातम[230], शौक[231] खौफ[232], कैद,[233], तकदीर[234], बुत[235], शेखी[236], महफिल[237], आलीशान[238], जुल्म[239], तकदीर[240], बाजी[241], कदम[242], ईमान[243], आखिरी[244], रोशन,[245], हिम्मत[246], इन्साफ[247], तराना[248], आशिक[249], कयामत[250] जमाना[251], कलेजा[252], जौहर[253], बागी[254], गम[255], दुनिया[256], सौदा[257], आदि। इन कतिपय शब्दों के अतिरिक्त भी कवि ने अन्यान्य शब्दों का प्रयोग भी किया है।

उपर्युक्त शब्दावली पर जब गंभीरता पूर्वक विचार किया जाता है तो अधिकांश शब्द ऐसे मिलते हैं जो उत्तेजक या ओजपूर्ण भाव के प्रकाशन में सहायता पहुँचा सकते हैं। दूसरी बात यह थी कि स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में जहाँ हिन्दी में मैथिली शरण गुप्त, नवीन, भारतीय आत्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान आदि की रचनायें जन जागरण का काम कर रही थीं वही इकबाल और जोश जैसे उर्दू शायरों में भी ओज का राग फूटा था। राष्ट्रीयता की भावना हिन्दुस्तानी में व्यक्त होने जा रही थी फिर दिनकर जैसा कवि युग की अवहेलना कैसे कर सकता था। इन्होंने भी खुलकर उर्दू शब्दों का प्रयोग किया। फलतः उर्दू शब्दावली प्रधान इनकी कवितायें जनता में और अधिक लोकप्रिय हुयी। अपनी समाजवादी यथार्थ वादी रचनाओं में दिनकर ने जब हिन्दी उर्दू मिश्रित शैली में भावाभिव्यक्ति की है तो भाषा में गत्यात्मयता का पूर्ण समावेश हो गया है।[258]

अंग्रेजी शब्दावली-

अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग हिन्दी में भारतेन्दु युगीन गद्य से ही होने लगा था ये लेखक बहुधा व्यंग्यात्मक प्रसंगों में ऐसे शब्दों का प्रयोग करते थे। किन्तु स्वदेशी आंदोलन काल में ऐसा प्रयोग कम हो गया। पुनः स्वतंत्रता के बाद जब उसे हमने अपनी भाषा की तरह व्यवहार करना प्रारंभ किया तो अंग्रेजी शब्द हमारे प्रयोग में पुनः आने लगे। दिनकर की प्रारंभिक कृतियों में अंग्रेजी के शब्दों का अभाव सा है। 'नील कुसुम' से एकाध अंग्रेजी शद इनके काव्य में आने लगे। 'परेड' [259] इसका उदाहरण है। किन्तु 'कोयला और कवित्व' तथा 'परशुराम की प्रतीक्षा' में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग कुछ अधिक मात्रा में हुआ है। 'एनार्की' 'डेमोक्रेसी' 'कम्यूनिस्ट' सोशलिस्ट आदि शब्दों का कवि ने बेखटके प्रयोग किया है।[260]

इस प्रकार हमने देखा कि दिवकर के काव्य में सभी प्रकार के शब्दों का भावानुकूल प्रयोग हुआ है। उर्वशी की तत्सम बहुल भाषा, कुरुक्षेत्र की प्रसाद पूर्ण भाषा, रसवन्ती की कोमल शब्दावली, नये सुभाषित तथा एनार्की, ऐसी कविताओं की चलती हुयी जन-भाषा, समस्त जन-मानस पर अपना अमिट प्रभाव डाल रही है। अपने समस्त काव्य में इन्होंने अभिव्यक्ति की सफाई पर ही ध्यान रखा है। शब्दो का चयन इन्होने रूप के कारण नही उनकी सामर्थ्य के कारण किया है। यही कारण है कि उनके हृदय से उबलती हुयी आग को भाषा ने इस योग्य बना दिया है कि उसकी उष्णता पाठकों को भी अनुभूत हो।

लोकोक्तियां एवं मुहावरे

लोकोक्तियों एव मुहावरों के प्रयोग से भाषा सशक्त और प्रभावशाली हो जाती है। कहावतों का सम्बन्ध जनमानस से निकट का होता है। यही कारण है कि काल की सीमा का अतिक्रमण कर इनमे जीवित रहने की शक्ति आ जाती है। प्रायः देखा यह गया है कि जब साहित्य जनोन्मुखी हुआ है तब शैली में मुहावरों और कहावतों को अधिकाधिक स्थान मिला है। छायावादी काल में यद्यपि भाषा की लाक्षणिक अभिव्यंजना शक्ति का पूर्ण विकास हुआ और तत्सम शब्दों और प्रतीकों की भीड़ में लोकोक्तियों और मुहावरों को स्थान नहीं मिल पाया किन्तु, राष्ट्रीय काव्य में इनका प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ। दिनकर ने भी अपनी अभिव्यजना शैली में मुहावरों और कहावतों का प्रयोग किया है। सर्वप्रथम हम उनके मुहावरों का चमत्कार देखें—

कवि ने हुंकार से लेकर उर्वशी तक सभी ग्रन्थों में मुहावरों का प्रयोग

किया है। झंडा उड़ाना[261] उंगली पर खंजर की जंग छुड़ाना[262], तलवों से कांटे निकालना,[263] फूंक फूंक कर चलना[264], घाव पर नमक छिड़कना[265], आकाश की छाती फाड़ना,[266], पानी में आग लगाना[267], आदि मुहावरों का जैसा चमत्कारिक प्रयोग दिनकर ने किया है हिन्दी के कवियों में ऐसा उदाहरण कम ही प्राप्त होता है। इस दृष्टि से तो इनकी भाषा कथाकार प्रमचन्दजी की भाषा के निकट पहुँच गयी है। दिनकर प्रयुक्त कुछ मुहावरे तो हिन्दी कविता में कहावतों का रूप लेते जा रहे हैं। इस संदर्भ मे कुछ पंक्तियां प्रस्तुत हैं—

"पी अपमानों के गरल घूंट जब शासित होंठ चबाते हों
+ + +
मालिक जब तेल फूलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं।
+ + +
हुआ विधाता वाम जनेवा
बीच सुधी चकराते हैं
बुझा रहे ज्वाला सांसो से
कर से आंच लगाते हैं।[268]

लोकोक्तियाँ

दिनकर ने अपनी भाषा में मुहावरों की तरह लोकोक्तियों को भी आत्मसात किया है। लोकोक्तियो के बहुविधि प्रयोग से भाषा जहां अर्थ गर्भित भी हुयी है वहीं प्रफुल्ल और गतिशील भी। लोकोक्तियों का यथार्थवत प्रयोग इनकी कला की सबसे बड़ी विशेषता है। उदाहरण स्वरूप कुछ लोकोक्तियों को देखा जा सकता है—

"नं माया ही जिन्हें मिलती न जिनको राम मिलते हैं।[269]
जगता तभी जहांन उसे जब विपद जगाती है।[270]
गर्दन ऊंची रही न हिन्दुस्तानी की।[271]
"है फर्क मगर काशी में जब वर्षा होती
हम नहीं तानते छाते बरसाने में।[272]

दिनकर जी ने कई लोकोक्तियों को स्वनिर्मित उदाहरणों से भी सजाया है। एक घाट पर बंधे रहना का अर्थ होता है व्यवहार में एक निष्ठ होना। कवि ने इसे राज वर्ग पर घटना कर कथन में मर्म का समावेश किया है-

"एक घाट पर किस राजा का रहता बंधा प्रणय है।[273]

इसके अतिरिक्त दिनकर ने कहीं–कहीं लोकोक्तियों की आत्मा ग्रहण कर उसके आधार पर नवीन उक्ति का सृजन भी किया है। शुतुरमुर्ग पर जब आपत्ति आती है तो वह अपनी चोच जमीन मे गाड़कर अपनी सुरक्षा की भ्रामक कल्पना कर लेता है। कवि ने उस कथा का बडा ही व्यंग्यात्मक आधारग्रहण किया है-

"ओ सिकता में चंचु गाड़ कर सुख से सोने वालो।[274]

इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण पंचतंत्र में आने वाली कथा से सम्बन्धित भी है। बूढ़े सिंह आदर्शवादी बनकर कगन दान देने बैठ थे। दिनकर ने इस कथा का बड़ा चमत्कारिक प्रयोग किया है–

"थके सिंह आदर्श ढूंढते व्यंग्य बाण सहते है"।[275]

इस प्रकार सम्पूर्ण दिनकर काव्य साहित्य का जब इस दृष्टि से अध्ययन किया जाता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने अपनी राष्ट्रीय कविताओं में और पुन: नये सुभाषित, नील कुसुम, 'कोयला और कवित्व' आदि जैसी अत्याधुनिक कविताओं में मुहावरों तथा लोकोक्तियों का विशेष प्रयोग किया हैं। तत्सम बहुल शैली में तो इस लोक प्रचलित शैली को कदाचित ही स्थान मिल पाया है। किन्तु जहाँ कही भी इन्होने इस शैली का प्रयोग किया है वहाँ ये लोकोक्तियाँ और मुहवारे अनुभूति के साथ मिलकर एकात्मक हो गये हैं। ऐसे स्थलों पर लगता है जैसे विषय वस्तु और अभिव्यंजना का पार्थक्य मिट गया हो।

(७) निष्कर्ष

समस्त अध्याय के विवेचन से मुख्य रूप से दो बातें निकलती है– एक तो यह कि दिनकर ने परम्परागत शैली का त्याग नहीं किया है। चाहे प्रबन्धात्मकता हो या गीतात्मकता, चाहे चित्रात्मकता हो या अलंकार प्रियता– कवि ने परम्परित शैली का सर्वथा त्याग कहीं भी नही किया है। किन्तु इन परम्परित शैलियों के विकास में कवि ने युग परिवर्तन को ध्यान में अवश्य रखा है। उनके प्रबन्धत्व पर भी युग की छाप है और गेयत्व पर भी। चित्रात्मकता और अलंकार योजना में भी नवीन और पुरातन का संयोजन है। वे नये होकर भी पुराने और पुराने होकर भी नये हैं। परम्परित शैली मेंभी उनकी मौलिकता और नवीनता सन्निहित है।

इसके बाद एक दूसरा पक्ष है कवि की युग चेतना से प्रसूत सर्वाधिक अभिनव शैली के प्रयोग का। यहाँ उन्होंने बिम्ब, प्रतीक मानवीकरण आदि की योजना पूर्णत: युग को ध्यान में रखकर की है। कवि की काव्य-भाषा भी युग-चेतना

को अभिव्यक्त करने में पूर्ण समर्थ और सशक्त है। युग-परिवर्तन के साथ ही साथ उनकी काव्य-भाषा में भी परिवर्तन हुआ है। भाषा शिल्प की दृष्टि से भी दिनकर का साहित्य युग मुकुर है। डा० सावित्री सिन्हा के शब्दों में—दिनकर की भाषा जीवन की कठोर, कोमल, सम, विषम आत्मगत और विश्वगत सुन्दर और कुरूप सभी प्रकार की स्थितियों को व्यक्त करने में समान रूप से समर्थ है।[276] वस्तुतः दिनकर की भाषा इतनी सशक्त है कि तलवार की झनझनाहट और नूपुर की रुनझुन को एक साथ लेकर चल सकती है। उसमें यदि परशुराम को चित्रित करने की सामर्थ्य है तो यह बारीकी से उर्वशी का रूप चित्रण भी कर सकती है। हम सुप्रसिद्ध पाश्चात्य कवि-समीक्षक टी० एस० इलियट के इस कथन से सहमत हैं कि सफल रचना वही है जो अपनी समग्र श्रेष्टता और सामर्थ्य के साथ युग-भाषा और युग-संवेदना को प्रभावित कर सके।[277] दिनकर का समग्र कृतित्व युग भाषा और युग-संवेदना को किसी न किसी स्तर पर अवश्य स्पर्श करता है।

—

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

१. साहित्यालोचन : पृ० २-३ २. चिंतामणी-भाग २ : पृ० १०४
३. रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण : पृ० ३३ ४. काव्यालंकार–१-२
५. काव्यादर्श, ३।१६३ ६. डा० गुलाबराय, सिद्धान्त और अध्ययन : पृ० ५७
७. जयशंकर प्रसाद–काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : पृ० ४२
८. नाट्य शास्त्र-१।११३-११४ ९. डा० गोविन्द त्रिगुणायत, शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत भाग १, पृ० ५० १०. ब्यूचर्स ऑफ पोइट्री बाई अरस्तु १-४-९
११. तालस्ताय–वाट इज आर्ट : पेज ११२ १२. एस्थेटिक : पेज २१
१३. दी एस्थेटिक : इन्सटीट्यूशन एण्ड आर्ट : पृ० २६
१४. साहित्य और सौन्दर्य : द्वितीय प्रकरण : पृ० २५
१५. प्रिन्सीपल आफ सायकोलोजी : चेप्टर ९ पेज १२५
१६. डा० गोविन्द त्रिगुणायत-शास्त्रीय समीक्षा सिद्धांत, भाग १ : पृ० ३६
१७. साहित्यालोचन : पृ० ३० १८. साकेत : पृ० १४९
१९. जायसी ग्रन्थावली प्रथम संस्करण का व्यक्तत्व : पृ० ६८
२० अग्नि पुराण अध्याय ३३७ २१. काव्यादर्श: प्रथम परिच्छेद: १४:१९
२२. काक शास्त्र : डा० भागीरथ मिश्र २३. साहित्यालोचन : ९४
२४. डॉ० नगेन्द्र : कामायनी का महा काव्यत्व : पृ० १२४
२५. एस० के० पद्मावती : कवि दिनकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व : पृ० १५-१६
२६. कुरुक्षेत्र ; पृ० २७. कुरुक्षेत्र : पृ० कुरुक्षेत्र : पृ० २८
२९. "धर्मराज कर्मठ मनुष्य का पथ संन्यास नहीं है
नर जिस पर चलता है वह मिट्टी है आकाश नहीं है। —कुरुक्षेत्र : पृ०
३० युग चारण दिनकर : २९१ ३१. वही : २९१
३२ प्रो० नलिन विलोचन शर्मा : कुरुक्षेत्र : १०६
३३ कुरुक्षेत्र : ११४ ३४. वही : १११
३५. दिग्भ्रमित राष्ट्र कवि : पृ० ७९ ३६. दिग्भ्रमित राष्ट्र कवि दिनकर : ६०
३७. जन कवि दिनकर नामक ग्रंथ से : समीक्षा बिन्दु : पृ० १७
३८. प्रतीक : पावस ३९. डॉ० सावित्री सिन्हा : युग चारण दिनकर : पृ० २९०
४०. कुरुक्षेत्र : निवेदन : पृ० १ ४१. रश्मिरथी की भूमिका : पृ० १
४२, दिग्भ्रमित राष्ट्र कवि : पृ० १०७ ४३. वही : पृ० १०८
४४. युग चारण दिनकर : पृ २९० ४५. महाकवि दिनकर उर्वशी और अन्य कृतियाँ : २३५ ४६. नाट्य शास्त्र १८:१०:१२

४७. साहित्य दर्पण : ६ ७:११ ४८. डॉ० विमल कुमार जैन : महाकवि दिनकर उर्वशी तथा अन्य कृतियाँ : २३६

४९. दि इलस्ट्रेड वीकली ऑफ इण्डिया : १५ अक्टूबर १९६१ : पृ० २१

५०. युगचारण दिनकर : २९२ ५१. वही : २९२ ५२. वही : पृ० २९३

५३. कवि दिनकर व्यक्तित्व और कृतित्व : २८१

५४. दिनकर के काव्य मे भाषा और संगीत : (प्रो. कपील द्वारा सम्पादित दिनकर और उनकी काव्य कृतियाँ मे सग्रहीत) : पृ० १८७

५५. समय ढूहकी और सिसकते मेरे गीत विकल धाये
आज खोजने उन्हें बुलाने वर्तमान के पल आये ।

× × ×

मेरी पायल झनकार रही तलवारो की झनकारों में
अपनी आगमनी बजा रही मैं आप क्रुद्ध हुंकारों मे
मै अहकार सी कड़क उठी हँसती विद्युत की धारा मे
बन काल हुताशन खेल रही पगली मैं फूट पहाड़ों में
अंगड़ाई में भूचाल सांस मे लका के उनचास पवन —हुंकार, विपथगा

५६. युगचारण दिनकर : पृ० २८४ ५७. युगचारण दिनकर : पृ० २८५

५८. सामधेनी : सम्पादक प्रो. कपिल : १२३ ५९. रेणुका : पृ० १४

६०. युगचारण दिनकर : पृ० २८५

६१ सामधेनी : पृ० ८२ ६२. वही : पृ० ८०

६३. इस घमासान अंधियारे से
आशा का दीपक एक शेष
जनता के ज्योतिनयन ! तुम्हे ही
देख-देख जी रहा देश। —नीम के पत्ते : पृ० ३२

६४. पं० रामचन्द्र शुक्ल- चितामणि भाग १, : पृ० १७९

६५ काव्य की भूमिका- : पृ० १३, ९, ७८, १००, १०१ आदि।

६६. वही : पृ० ८० ६७. डा० नगेन्द्र के अन्तर्मथन का काव्य उर्वशी नामक निबन्ध से उद्धृत- समीक्षा बिन्दु : पृ० ३४ ६८. रेणुका : पृ० १३

६९ हुंकार : पृ० ७२

७०. अपनी आगमनी बजा रही मै आप क्रुद्ध हुंकारो में
मैं अहकार सी कड़क उठी हँसती विद्युत की धारो मे
बन काल-हुताशन खेल रही पगली मे फूट पहाडो मे

अगड़ाई में भूचाल सांस में लंका के उनचास पवन। —हुंकार : पृ० ७२

७१. हुंकार : पृ० ३ ७२ चक्रवाल : पृ० २३१

७३ (क) स्वर्णांचल अहा। खेतों में उतरी सन्ध्या श्याम परी।
रोमन्थन करती गायें आ रही रौंदती घास हरी
घर घर से उठ रहा धुआ जलते चूल्हे बारी बारी
चौपालों में कृषक बैठ गाते—कह अटके बनवारी।
पनघट से आ रही पीत-वसना युवती सुकुमार
किसी भाँति ढोती गागर यौवन का दुर्वह भार।
बनूंगी मैं कवि इसकी माँग
कलश काजल सिन्दूर सुहाग।

(ख) बन-तुलसी की गंध लिये हल्की पुरवैया आती है
मन्दिर की घंटा ध्वनि युग युग का सन्देश सुनाती है
टिम टिम दीपक के प्रकाश में पढ़ते निज पोथी शिशुगन
परदेशी की प्रिया बैठ गाती यह विरह गीत उन्मन
भैया! लिख दे एक कलम खत मो बालम के जोग
चारो कोने खेम कुशल माझे माँ मोर वियोग। —रेणुका : पृ १४

७४. रसवती : पृ० ८८ ७५. रेणुका : पृ० २१

७६. श्रीमती एस० के० पदमावती, कवि दिनकर व्यक्तित्व और कृतित्व : पृ० २३१

७७. युगचारण दिनकर : पृ० २४७ ७८. रसवती : पृ० ८

७९. रसवंती : पृ० १४

८०. (क) माथे में सेंदुर पर छोटी
दो बिन्दी चम चम सी
पपनी पर आँसू की बूंदे
मोती सी शबनम सी
पीला चीर कोर में जिसकी
चम चम मोटा जाली
चली पिया के गाँव
उमर के सोलह फूलों वाली —रसवंती : पृ० १२

(ख) आंखों में आंख हेरती
है उसकी जब संखिया
मुसुकी आ जाती मुख पर

हँस देती रोती अंखियाँ
पर समेट लेती शरमाकर
बिखरी सी मुस्कान
मिटटी उकसाने लगती है
अपराधिनी समान। —रसवंती : पृ० १६

८१. रसवंती : पृ० ४६

८२. कुर्ता टोपी बांध कमर में भले बांध लो
पाँच हाथ की धोती घुटनो से ऊपर तक
अथवा गांधी बनने के आकुल प्रयास में
आगे के दो दांत डाक्टरो से तुड़वा लो। —नये सुभाषित : पृ० ४५

८३. उर्वशी : पृ० ३० ८४. उर्वशी : पृ० ३९ ८५. नाटय शास्त्र : पृ० १६:६

८६. भामह काव्यालकार : १।३६, काव्यादर्श : दंडी, २:१, ध्वन्यालोक: आनन्द-वर्धन २८६ काव्यप्रकाश : मम्मट : ८:६७, साहित्य दर्पण विश्वनाथ १:३। कवि प्रिया–केशव ५।१ ८७. हिस्ट्री आँफ एसथेटिक : पृ० १७८

८८. पं० रामचन्द्र शुक्ल . चितामणि भाग १, : पृ० १७८

८९. चक्रवाल की भूमिका : पृ० ७३ ९०. युग चारण दिनकर : पृ० २७३:२७५

९१. महाकवि दिनकर उर्वशी तथा अन्य कृतियाँ : पृ० २४८

९२. कह हृदय खोल चितौड़ कहाँ
कितने दिन ज्वाल वसत हुआ। — रेणुका : पृ० ६

९३. तप की आग त्याग की ज्वाला
में प्रबोध संधान किया। —वही : पृ० १७

९४. खींच रहे शोणित के पथ में —वही : पृ० ३२

९५. हुंकार-स्वर्ग दहन

९६. कुसुम बन यही हों जैसे चाँदनियाँ सिमट सिमट कर। उर्वशी : पृ० ७

९७. लगता है आकंठ गीत के जल से भरी-भरी हैं। वही : पृ० ९

९८. लगता है कोई शोणित में स्वर्णतरी खेता है। वही : २१

९९. ये लोचन जो किसी अन्य जग के नग के दर्पण हैं। वही ९४

१००. और वक्ष के कुसुम कुंज सुरभित विश्राम भवन ये। वही : ९१

१०१. पर्वत के पंखों में सिमटी गिरि मल्लिका लता सी। वही : ३१

१०२. अंधेरी रात में ज्यों बह रही हो ज्योति की जर गाम। नील कुसुम : पृ० १३०

१०३. ये कपोल जिसकी द्युति में तैरती किरण-ऊषा की। उर्वशी : पृ० ९१

१०४ नील कुसुम की भूमिका १०५. मृति तिलक : पृ० ५४
१०६. चाँदनी मचलने लगी कफन बन जाने को। कोयला और कवित्व : पृ० ३६
१०७ वसुधा जो हर बार काल का शरबत बन जाती है। वही : पृ० २
१०८. मानो गीत नहीं ये कौये बैठ कान को सहलाते है। नील कुसुम, : पृ० ६५
१०९. अपनी हडडी की मशाल से। सामधेनी : पृ० १६
११०. दम तोड़ती हुयी बुढिया सी दुनियाँ पड़ी हुयी है। सामधेनी : पृ० १५
१११. आचार्य विश्वनाथ-साहित्य दर्पण : २०२ ११२. वही : पृ० २-३
११३. मम्मट-काव्य प्रकाश : २-८ ११४. विश्वनाथ-साहित्य दर्पण : २-४
११५. शब्द रसायन : ६-७२ ११६. चिंतामणि: पृ० : १८३
११७. युगचारण दिनकर : पृ० २३० ११८. उर्वशी : पृ० २४
११९. वही : पृ० ३० १२०. उर्वशी : पृ० ८७
१२१. रसवंती : पृ० १७:१८ १२२. मम्मट-काव्यप्रकाश : १-४,
आचार्य विश्वनाथ-साहित्य दर्पण : २-५
१२३. विश्वनाथ सिंह 'हुंकार'- प्रो० कपिल द्वारा संपादित दिनकर और उनकी काव्य कृतियों से : पृ० ७३ १२४. उर्वशी : २२
१२५. वही : पृ० २४ १२६. वही : पृ० ८
१२७. सिंहों पर अपना अतुल भार मत लादो
हाथियों स्वयं अपना तुम बोझ संभालो। —परशुराम की प्रतीक्षा : पृ० ८

\+ \+ \+

कौन पाप ? है याद भेडिये जब टूटे थे
तेरे घर के पास दीन दुर्बल भेड़ों पर। —वही : पृ० ५५

१२८. उर्बशी :पृ० ५२ १२९. आचार्य विश्वनाथ-साहित्य दर्पण : पृ० २,१२-१३
१३०. नये सुभाषित : पृ० ४५ १३१. नये सुभाषित :पृ० ४५
१३२. धधका दो सारी आग एक झोंके में
थोड़ा थोड़ा हर रोज जलाते क्यों हो ?
क्षण में जब यह पिघल सकता है
तिल तिल कर मेरा उपल गलाते क्यों हो
मैं चढ़ा चुका निज अहकार चरणों पर
हो छिपा कहीं कुछ और उसे भी ले लो
चाहो मुझको लो पिरो कहीं माला में
चाहो तो कन्दुक बना पांव से खेलो — नये सुभाषित : पृ० ४५

१३३. चक्रवाल की भूमिका पृ० ७०
१३४. वही : पृ० ६९ १३५ चक्रवाल की भूमिका : पृ० ६८ १३६ वही : पृ० ६८
१३७. डा० सावित्री सिन्हा-युगचारण दिनकर : पृ० २८२
१३८ पं० रामचन्द्र शुक्ल-चितामणि-भाग १ : पृ० १७९
१३९. साहित्या लोचन : पृ० ८२
१४०. डा० विमल कुमार जैन-महाकवि दिनकर उर्वशी तथा अन्य कृतियाँ : पृ० २६
१४१. (क) प्रभो, तुम्हारा नाम बाती है शरीर दिया है, वेदना तेल है
तीनों का कितना अच्छा मेला है ।

\+ + +

साप्ताहिक हिन्दुस्तान १९ अप्रेल ७० तथा २९ जून और २६ जुलाई के अंक में प्रकाशित कविताये ।

(ख) लेन देन का हिसाब लम्बा और पुराना है
जिनका कज हमने खाया था उनसे हम अपना हक पाने आये है

\+ +

धर्मयुग २८ जून १९७० तथा २८ दिसम्बर १९६९ के अंक में प्रकाशित ३ कविताये ।
१४२. रसवन्ती : पृ० ८७ १४३ वही : पृ० ४३-८६ १४४. हुंकार पृ० ३
१४५. रश्मिरथी : पृ० १०० १४६. कामायनी पृ० ४० १४७. उर्वशी पृ० ६८
१४८. अन्तर्वासिनी--रसवन्ती १४९. आधुनिक हिन्दी कविता म शिल्प : पृ० ५१
१५०. दा अमेरिकन बुक मेन X (१९४४) : पृ० १०३-१०४
१५१. डा० शभूनाथ चतुर्वेदी—नया हिन्दी काव्य और विवेचना- : पृ० ३७२
१५२. एडिन बेवन : सिम्बोलिज्म एण्ड बिलिफ : पेज ११
१५३. ए० एन० व्हाइटहेड : सिम्बोलिज्म : इट्स मिनिग एण्ड इफेक्ट : पेज ९
१५४. विलियम यॉर्क टिनडल; दी लिटेटरी सिम्बौल : पेज १९३
१५५. आर्थर सिमोन्स : दी सिम्बोलिस्ट मुमेंट इन लिटरेचर : पेज २
१५६. जुंग सी० जी : कॉन्ट्रीब्यूटेशन टू एनालिटिकल फिजिकलोजी : पेज २३५
१५७. बाडूइन : फिजी-एनालसिस एण्ड इस्टेटिक्स : पेज ९
१५८. फिलिप व्हीलवेट : दा बर्निग फाउटेन : पेज १९ १५९. हुंकार-हिमालय-४
१६०. हुंकार : पृ० ५ १६१. वही—वन फूलों की ओर कविता ।
१६२. आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प : पृ० २०८-२०९
१६३. रसवंती-बालिका से वधू : १५ १६४. हुंकार-विपथगा : पृ० ५४
१६५. हुंकार—प्रणति १६६. वही : पृ० ४३ १६७. उर्वशी : पृ० ३१

१६८. वही : पृ० ५५ १६९. उर्वशी : पृ० १०९ १७० उर्वशी : पृ० ख
१७१. वहीं १७२. वही : पृ० २२ १७३. उर्वशी : पृ० ५७
१७४. वही : पृ० १०८ १७५. पं० रामचन्द्र शुक्ल-जायसी ग्रंथावली की भूमिका : पृ० १३, २१, ३१। १७६, 'झीनी झीनी बीनी चदरिया'
१७७. टी० ई० हेलाइन : स्पेक्लेशन : पेज १२७
१७८. वही : पृ० १३४ १७९. वही : पृ० १३५
१८०. स्टेफन जे० ब्राउन : वर्ड आफ इमेजनरी : पेज १. २.
१८१. डॉ० कैलाश वाजपेयी : आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प : पृ० ७९
१८२. सी० डी० लेविस : पोइटिक इमेज : पेज २२
१८३. जेनिस आर० काउजर : एलिमेंटस आफ पोइटरी : पेज ११९
१८४. लुईस मैकनाइस : मार्डन पोइटरी : पेज ९०
१८५. बेस्ड ऑफ टाइप्स ऑफ इमेजेज बाई बादकन : I और II चेप्टर
१८६. सी० डी० लेविस : पोटीक इमेज : पेज १३
१८७. टी० एस० इलियट : सलेक्टेड प्रोज : पेज ९५ १८८. आ. हिन्दी कविता में शिल्प : पृ० ८० १८९. उर्वशी : पृ० ५ १९०. उर्वशी : पृ० ५०
१९१. आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प : पृ० १५०
१९२. उर्वशी : पृ० ३१ १९३. आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प : पृ० २२४
१९४. उर्वशी : पृ० ३० १९५. सामधेनी : पृ० १९.
१९६ आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प : पृ० २२३
१९७. सामधेनी : कलिंग विजय १९८. आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प : पृ० २२४ १९९: उर्वशी : पृ० ९९
२००. आधुनिक हिंन्दी कविता में शिल्प : २२७ २०१. सामधेनी-जवानियां : पृ. ६०
२०२. आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प : पृ० २२८ २०३. उर्वशी : पृ० १०७
२०४. तट पर लगी अचल नौका सी जो अदृश्य में जाकर
दृश्य जगत के लिये सार्थ जीवन का ले आती हो
और रिक्त होकर पुकार से जब अशेष तन्द्रा में
याद कर रही हो धुंधली बातें अदृश्य के तट की। वही : पृ० ११७
फिर किसी का स्पर्श पाने को तृषा चीत्कार करती
मैं न रूक पाता कहीं, फिर लौट आता हूं पिपासित
शून्य से साकार सुषुमा के भवन में
युद्ध से भागे हुये उस वेदना विह्वल युवक सा

जो कहीं रुकता नहीं, बेचैन जो गिरता प्रकुंठित
तीर सा सीधे प्रिया की गोद में —वही : पृ० ५१

२०५. हिन्दी काव्य पर मार्क्सवादी प्रभाव- डा० जनेश्वर वर्मा : पृ० ४५४

२०६. युग चारण दिनकर : पृ० २१८ २०७. पं० देवेन्द्रनाथ शर्मा-सामधेनी पृ० १५० (दिनकर और उनकी काव्य कृतियां, प्रो० कपिल से संग्रहित), वही : पृ० ६०, नलिन विलोजन शर्मा पृ० १०३ २०८. हुंकार : पृ० ४

२०९. वही : पृ० ५३ २१०. उर्वशी पृ० ९७ २११. वही : पृ० ९८

२१२. कुरुक्षेत्र : पृ० १ २१३. सूरसागर (ना. प्र. स.) १० पृ० ७०४, कवीतावली अयोध्या कांड छ. ७ २१४. कल्पना एप्रिल १९६३ ई०

२१५. उर्वशी–९५ २१६. प्रो. कपील द्वारा सम्पादित दिनकर और उनकी काव्य कृतियां : पृ० २९ २१७. प्रो. प्रकाशचन्द्र गुप्त-दिनकर की भाषा और शैली : पृ० १९१ २१८. वही : पृ० १८९ २१९. रसवन्ती : पृ० २१

२२०. वही : पृ० ३ २२१, वही : पृ० ३२ २२२. रेणुका : पृ० ५५

२२३. रसवन्ती : पृ० २३ २२४. वही : पृ० २१ २२५. हुंकार : पृ० ५०

२२६. रसवन्ती : पृ० १५ २२७. वही : पृ० १७ २२८. उर्वशी : पृ० ९७, उर्वशी : पृ० ६, उर्वशी पृ० ७५ २२९. सामधेनी : पृ० ११

२३०. नील कुसुम : पृ० २९, २३१. वही : पृ० ५, २३२. वही पृ० २३

२३३. वही : पृ० १, २३४. वही : पृ० १, २३५. परशुराम की प्रतीक्षा : पृ० ६२,

२३६. वही : पृ० ६२, २३७. वही : पृ० ६१, २३८. वही : पृ० ६१,

२३९. वही : पृ० ४८, २४०. हुंकार : पृ. ६९, २४१. परशुराम की प्रतीक्षा पृ. ३८

२४२. वही पृ० ३८ २४३. वही २४४. वही पृ० ३७ २४५. वही : पृ. २७

२४६. हुंकार : पृ० २८, २४७. वही, २४८. वही : पृ० २१ २४९. वही : २७

२५०. वही : पृ० २५, २५१. वही : पृ० १५, २५२. वही : पृ० २४

२५३. रेणुका : पृ० ४४ २५४. वही : पृ० ३६ २५५. वही : पृ० ९, २५५. वही

२५७ वही २५८. नीम के पत्ते : पृ० १८, द्वन्द्व गीत : पृ० ५३

२५९. नीलकुसुम : पृ० ६९ २६०. परशुराम की प्रतीक्षा-एनार्की : पृ० ६१-६२.

२६१-२६४. हुंकार : पृ० २७ २६५. दिल्ली : पृ० १ २६६. वही : पृ० ५

२६७. हुंकार : पृ० २७ २६८. कामेश्वर शर्मा-दिग्भ्रमित राष्ट्र कवि : पृ० ३०

२६९. नील कुसुम पृ० ३३ २७०. परशुराम की प्रतीक्षा : पृ० ४७

२७१. वही : पृ० ४५ २७२. चक्रवाल : पृ० २४३ २७३. उर्वशी : पृ० २२

२७४. नील कुसुम : ८४ २७५. कुरुक्षेत्र : पृ० ५६

२७६. युगचारण दिनकर : पृ० २३७ २७७. मूल्यांकन-मार्च६६, संपादकीय : पृ० ४

दिनकर की युग-चेतना तथा अन्य आधुनिक कवियों की युग चेतना—एक तुलना

कवि युग का संदेशवाहक होता है। वह युग और जीवन को जितनी दृढता से पकड़ता है उसकी कृतियों में उतनी ही जीवन-शक्ति का समावेश होता है। एक ही युग में अनेक कवि युग-प्रभाव ग्रहण कर अपनी रचनाओं की सृष्टि करते हैं, किन्तु व्यक्तित्वगत विभिन्नताओं के कारण उन कवियों के दृष्टिकोण में किंचित अन्तर आ जाता है। यही अन्तर प्रत्येक कवि का मौलिक स्वरूप होता है। यही कारण है कि किसी भी युग विशेष के अनेकानेक कवि समकालीन होकर भी तथा एक ही काव्यधारा से सम्बन्ध रखने पर भी एवं एक ही प्रवृत्ति विशेष को लेकर चलने पर भी पृथक नजर आते हैं क्योंकि समकालीन परिवेश के प्रति हर कवि की प्रतिक्रियायें एक जैसी नहीं होती। परन्तु इस वैषम्य के उपरान्त भी समकालीन रचनाकारों की कृतियों में जो युग-बिम्ब होते हैं उनमें अन्तर होते हुये भी साम्य का मूल कहीं न कहीं मिल जाता ही है। युगीन प्रवृत्तियां क्रियात्मक या प्रतिक्रियात्मक रूप में समरूपेण प्रकट हो ही जाती हैं। यही साम्य और एकता का क्षीण सूत्र समकालीन रचनाकारों की तुलना का आधार बनता है। रचनाकारों के पारस्परिक उत्कर्ष के मूल्यांकनार्थ इसी साम्य-सूत्र का निरीक्षण परीक्षण करना पड़ता है। अस्तु, इसी आधार पर युग-कवि दिनकर की तुलना उनके अन्य समकालीन कवियों के साथ करना अभिप्रेत है। यद्यपि तुलना में प्रायः पूर्वाग्रह से प्रेरित होने के कारण अनेकानेक दोष आ जाने की संभावनाएँ आ जाती हैं, किन्तु प्रयास किया जाना चाहिये कि तथ्य और तत्त्व की यथार्थता पर दृष्टि रखते हुये तटस्थ होकर ही तुलना की जाय। प्रस्तुत अध्याय में पूर्वाग्रहों से बचकर तथा तटस्थ रहकर प्रवृत्तियों के आधार पर दिनकर की तुलना अन्य समकालीन कवियों से की गयी है तथा यह देखा गया है कि कवि ने युगल काव्य में युग-चेतना का कहाँ तक वाणी-विधान किया गया है।

१- प्रसाद और दिनकर

प्रसाद और दिनकर एक ही युग और परिवेश के कवि कहे जा सकते हैं।

दोनों का काव्य रचना–काल भारतीय उत्थान का युग रहा — राजनीतिक दृष्टि से विदेशी दासता से मुक्ति के लिये सघर्ष का युग और साहित्यिक दृष्टि से परम्परागत रूढ़ियों से मुक्ति का युग। फलत: दोनों की रचनाओं में युग–चेतना को ही अभिव्यक्ति मिली है। दोनों की रचनाओं में भारतीय जन समाज की आशायें, निराशायें और महत्वाकांक्षायें प्रतिबिम्बत हुयी हैं। प्रसाद के 'कंकाल' और 'तितली' का यथार्थ उस युग का सम्यक स्वरूप लिए प्रस्तुत हुआ है। ठीक उसी प्रकार उनके नाट्य साहित्य में युगीन समस्याओं को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने और समझने का प्रयास किया गया है। इसी प्रकार उनके काव्य में भी युग की मूल चेतनाओं का आभास मिलता है। दूसरी ओर दिनकर का समस्त काव्य साहित्य ही युग-चेतना से अनुप्राणित है। अस्तु, दोनों कलाकारों की युग-चेतना का प्रवृत्ति मूलक तुलनात्मक अध्ययन किया जाना अपेक्षित है।

(क) राष्ट्रीयता और उद्‌बोधन गान

भारतीय संस्कृति और इतिहास के प्रति कवि प्रसाद के अनुराग के मूल में मुख्यत: उनका राष्ट्र प्रेम ही व्यंजित हुआ हैं। वे ऐसे युग में उत्पन्न हुये थे जो विदेशी दासता से मुक्ति के लिये संघर्ष रत था। फलत: दिनकर की तरह कवि प्रसाद ने भी राष्ट्रगान गाये किन्तु दिनकर की राष्ट्रीयता से कुछ भिन्न रूप में। दिनकर की राष्ट्रीयता में शासक के प्रति प्रबल आक्रोश है। उनकी क्रान्ति-देवी 'संहार लपट का चीर पहन" कर नृत्य करने लगती है।[1] किन्तु प्रसाद केवल राष्ट्र–प्रेम एवं राष्ट्रीय वैभव के गीत गाकर ही सन्तोष कर लेते हैं। राष्ट्रीय गरिमा राष्ट्रीय सौन्दर्य और राष्ट्रीय वैभव के वर्णन से प्रसाद का काव्य-साहित्य भरा पड़ा है।[2] उनके राष्ट्र पुत्र ही केवल राष्ट्र गान नहीं करते [3] विदेशी भी 'अरुण यह मधुमय देश हमारा[4]' का नारा लगाते है। 'कामायनी' के सघर्ष सर्ग मे विलासी यायावर शासक के प्रति क्षोभ एवं उसके विरुद्ध जो जन क्रान्ति का स्वर मुखरित हुआ है उसे हम पराधीन भारत को स्वाधीन जीवन की ओर अग्रसर करने की प्रेरणा कह सकते हैं। इतना ही क्यों—'चन्द्रगुप्त' नाटक का जो उद्‌बोधन गीत है[5] उसकी तुलना हम दिनकर के किसी भी उद्‌बोधन गीत से कर सकते है। यह गीत प्रसाद का सर्वोत्कृष्ट राष्ट्र गीत है। सैनिकों के लिये एक प्रयाण गीत के रूप में इसकी रचना हुई है।

दिनकर ने हिमालय को राष्ट्रोद्‌बोधन के लिये जगाया है—

"ओ मौन तपस्वी लीन यती, पल भर तो कर दृगोन्मेष।
रे! ज्वालाओं से दग्ध विकल है तड़प रहा पद पर स्वदेश"।

और प्रसाद ने हिमालय के उत्तुंग शिखर से स्वतंत्रता का स्वर निनादित किया है। दिनकर का हिमालय सोया है जिसे वे जगाना चाहते हैं। उनका हिमालय मौनव्रती है जिसे कवि ललकार कर उद्‌बुद्‌ करता है किन्तु प्रसाद के हिमालय से स्वयं स्वतंत्रता देवी भारत पुत्रों को अमर्त्य पुत्र कह कर 'बढ़े चलो–बढ़े चलो' का संदेश देती हैं। अस्तु, परिमाण की दृष्टि से दिनकर की अपेक्षा प्रसाद के राष्ट्रगीत कम अवश्य हैं किन्तु महत्व की दृष्टि से उनका स्थान कम नहीं है। प्रसाद ने दिनकर की तरह भावुकता से भरे सैकड़ों राष्ट्रगीत नही लिखे, अपने हुंकार से विदेशी शासकों को भयभीत करना नही चाहा। क्रान्ति के हेतु शंकर का 'ताडव' प्रस्तुत कर आंतक का वातावरण प्रस्तुत नही किया। उन्होंने अतीत के वैभव और संस्कृति से प्रेरणा ग्रहण कर अपने युग-समाज को नवीन शक्तिमय बनाकर स्वाधीनता सग्राम के लिये कटिबद्ध किया। इस दृष्टि से प्रसाद को हम राष्ट्रीय भावना का एक प्रबल कवि कह सकते हैं। अगर प्रसाद को दिनकर की राष्ट्रीयता का प्रेरक कहें तो अत्युक्ति नही होगी। प्रसाद छायावाद के प्रणेता और पोषक कवि थे और राष्ट्रीयता छायावाद की प्रमुख प्रवृतियों मे एक है। स्वयं दिनकर भी आधुनिक हिन्दी-साहित्य-क्रान्ति में छायावाद को ही प्रथम स्थान देते हैं।[7] अत: दोनों ही रचनाकारो को राष्ट्र प्रेम के गीतों का गीतिकार कहा जा सकता है। जनमानस मे राष्ट्र-प्रेम और राष्ट्रीय गौरव को जगाने का प्रयास दोनों ने किया है।

(ख) इतिहास तथा संस्कृति-प्रेम

प्रसाद और दिनकर दोनो ऐतिहासिक चेतना के कवि रहे हैं। दोनों ने राष्ट्र की निराशा को समाप्त करने के लिये अतीत के सुनहरे पृष्ठों से प्रेरणा लेने का प्रयास किया है। प्रसाद की दृष्टि में बौद्ध काल, गुप्त काल आदि प्रेरणा के स्रोत है। 'कामायनी' को छोड़कर उनके समस्त नाट्य साहित्य की कथा वस्तु ऐतिहासिक है। कहानियों की रचना में भी इन्होंने इतिहास को ही प्राथमिकता दी है। "इतिहास के भग्नावशेषों से उन्होने कथावस्तु ग्रहण की और उसी के माध्यम से जातीय गौरव स्थापित किया"।[8] 'महाराणा का महत्व' 'अशोक की चिंता' प्रलय की छाया' आदि का प्रेरणा–स्रोत भी इतिहास ही है। नाट्य साहित्य में भारतीय वैभव को चित्रित करने के अतिरिक्त अपने महाकाव्य 'कामायनी' की पृष्ठभूमि के लिये भी उन्होंने भारतीय इतिहास की ओर देखा है। स्कदगुप्त का भारतगीत[9] और कार्नेलिया का 'अरुण यह मधुमय देश हमारा'[10] में भी देश के ऐतिहासिक महत्व को कवि ने मूर्तमान कर दिया है। इन्होंने न केवल ऐतिहासिक कथावस्तु को

अपनी रचनाओं का आधार बनाया अपितु भारतीय इतिहास और संस्कृति से अनेक प्रतीकों को भी उभारा। बाबा रामनाथ, दाण्डायन, चाणक्य, चन्द्रगुप्त, स्कंदगुप्त आदि ऐसे ही प्रतीक पात्र हैं। उनकी श्रद्धा' भी भारतीय प्राचीन गौरवमयी नारी का प्रतीक है। 'मनु' तो आदि मानव के रूप में भारतीय संस्कृति के प्रतीक बन कर आये ही हैं। अस्तु, प्रसाद ने अतीत के प्रति प्रेम जगाकर वर्तमान के ह्रासोन्मुख जन-मानस में नवीन गौरवमय शक्ति का संचार किया है। सांस्कृतिक पुनरुत्थान की योजना उनके समस्त साहित्य में विद्यमान है।

दिनकर का इतिहास प्रेम भी इसी कोटि का है। वर्तमान से निराश कवि सतत इतिहास से प्रेरणा लेता है। जनता से आग्रह करता है कि वह अवध से पूछे कि राम कहां हैं वृन्दावन बताये कि घनश्याम कहां हैं ? [11] कवि उदास गंडकी से विद्यापति का गान सुनना चाहता है।[12] गंगा से कवि प्रश्न करता है कि क्या तुम्हीं में विजयी चन्द्रगुप्त ने अनेक बार 'चन्द्रहास' धोया था।[13] कवि 'वैभव की दीवानी दिल्ली' के आधुनिक स्वरूप पर व्यंग्य-करते हुये इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुर का समस्त गौरवमय इतिहास खोल देता है।[14] कवि हिमालय से याचना करता है कि युधिष्ठर को स्वर्ग जाने दे किंतु गदाधारी भीम और गांडीवधारी अर्जुन को लौटा दे।[15] कहने का आशय यह कि कवि अपने मुक्तकों की प्रेरणा भी इतिहास से ही ग्रहण करता है। प्राचीन इतिहास की सांस्कृतिक गरिमा से अनुप्राणित कर भारतीय जनता में जोश उत्प न करना उनका प्रमुख लक्ष्य है।

दिनकर के प्रबंध भी ऐतिहासिक काया में ढ़ले समसामयिक प्राण शक्ति से अनुप्राणित हैं। 'रश्मिरथी', 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' की समस्त समस्यायें युगीन हैं जिसका विस्तृत विवेचन यथा स्थान हो चुका है। तात्पर्य यह कि दोनों ही कवि प्रेरणा के लिये भारतीय इतिहास के सांस्कृतिक गौरवमय पक्ष को लेते हैं किन्तु युग की समस्याओं को भी झुठलाते नहीं। 'चन्द्रगुप्त' ध्रुवस्वामिनी आदि नाटनों की समस्यायें पूर्णतः आधुनिक हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में अलका का उद्बोधन गीत गाते हुये सैनिकों के आगे चलना स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने वाली कर्मठ महिलाओं का प्रतीक है। यह गांधीयुग की नारी की नवीन शक्ति और चेतना का प्रतीक है। उसी प्रकार ध्रुवस्वामिनी द्वारा क्लीव तथा कापुरुष पति रामगुप्त का परित्याग तथा महा प्रतापी देवर चन्द्रगुप्त का वरण आधुनिक प्रगतिशील नारी का चित्र माना जा सकता है। दूसरी ओर दिनकर की 'रश्मिरथी' का आदर्श नायक कर्ण प्राचीन पात्र होकर भी आधुनिक युग-बोध का प्रतीक बन गया है। 'उर्वशी' के नारी-पुरुष संबध की समस्त व्याख्या आधुनिक मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि पर आधारित है। कुरुक्षेत्र

के भीष्म और धर्मराज भी आधुनिक युगीन समस्याओं (युग और शान्ति) के समाधान में लीन दृष्टिगोचर होते हैं। निष्कर्ष यह कि दोनों ही कवि अतीत से प्रेरणा तो लेते हैं किन्तु युग कवि होने के कारण युगचेतना के चित्र को उभारना ही अपना लक्ष्य समझते हैं। इस दृष्टि से दोनों के काव्य साहित्य को युग-साहित्य कहा जा सकता है।

(ग) कर्मवादी भावनाएँ

प्रसाद और दिनकर दोनों के काव्य में कर्मवाद का संदेश मिलता है। दोनो ने अपने काव्य में कर्मठ जीवन की महता प्रतिपादित की है। प्रसाद छायावाद के आधार स्तभ रहकर भी पलायन के समर्थक नहीं हैं। समस्त प्रसाद-काव्य मे कर्मठ प्रवृति का मंडन है। 'कामायनी' मे आदि से अत तक इसी कर्मवाद की प्रतिष्ठा की गयी है। 'कामायनी' की 'श्रद्धा' निराश एवं अकर्मण्य 'मनु' को कर्म का संदेश देती है। श्रद्धा के 'शक्तिशाली हो विजयी बनो'[16] तथा 'डरो मत अरे अमृत सतान. अग्रसर है मंगलमय वृद्धि[17] आदि वाक्य कर्मठता के प्रेरणा-स्त्रोत बन गये। इन वाक्यों ने मनु का जीवन दर्शन ही बदल दिया। जीवन को जगत की ज्वालाओं का मूल समझने वाले मनु को श्रद्धा ने सिखाया कि यह ज्वालाओं का मूल नही वरन'ईश का रहस्यमय वरदान है।[18] जीवन से पलायन करने वाले तपस्वी मनु को 'श्रद्धा' ने फटकार कर समझाया कि 'तप नही केवल जीवन सत्य' है।[19] और श्रद्धा ने कर्मवादी दर्शन को स्पष्ट करते हुये घोषणा की—

कर्म का भोग भोग का कर्म, यही जड़ का चेतन आनन्द।[20]

'श्रद्धा' विश्वास पूर्वक 'मनु' को भी विश्वस्त करती हुई कहती है–

"कर्म यज्ञ से जीवन के सपनों का स्वर्ग मिलेगा।[21]

प्रसाद के इस कर्मवाद में केवल सिद्धान्त ही नहीं व्यवहार का भी समावेश है। 'श्रद्धा' तथा 'मनु' परस्पर सहयोग से कृषि कर्म, पशु पालन, धान्य, कुटीर-निर्माण आदि जीवन गत सत्य का व्यवहारिक स्वरूप भी प्रस्तुत करते है।[22] कहने का आशय यह कि प्रसाद के कर्मवाद का एक व्यावहारिक पक्ष भी है– केवल सिद्धान्त की बाते ही नही।

दिनकर के समस्त काव्य साहित्य में भी इसी कर्मवाद की महत्ता प्रतिपादित की गयी है। कवि पलायन का सर्वत्र खंडन करता नजर आता है। अपनी प्रारभिक कविताओं में वे एकाध स्थल पर पलायनवाद से प्रभावित प्रतीत होते हैं परन्तु यह सभवत: छायावादी प्रवृति के कारण।[23] किन्तु उत्तरोतर उनमें कर्मवाद के प्रति आकर्षण बढ़ता ही गया। जीवन के प्रबल कवि दिनकर अपने समस्त काव्य-साहित्य

में कर्मवादी बन गये। 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म जीवन से निराश होकर पलायन करने वाले धर्मराज को कर्मठ मनुष्य का पथ निर्देश करते हैं तथा कल्पना जगत से लौटा कर उन्हें जीवन के यथार्थ में प्रतिष्ठित कराते हैं।[24] दिनकर के शब्दों में जीवन-युद्ध में जम कर संघर्ष करने वाला ही विजयी होता है-

"जीवन उनका नहीं युधिष्ठिर जो डरते हैं
वह उनका जो चरण रोप निर्भय होकर लड़ते हैं।[25]

'रश्मिरथी' के कर्ण का सम्पूर्ण चरित्र कर्मठता का प्रतीक है। काव्य-जगत में ऐसा कर्मठ चरित-नायक विरल ही मिलता है। परशुराम की प्रतीक्षा में तो कर्म की महत्ता का अनुभव कवि ने सारे देश को करना चाहा। अकर्मण्य होकर जीने वाले निकम्मे नेताओं की उन्होने भर्त्सना की है और कर्म के प्रतीक परशुराम का आह्वान किया है।[26] कहने का आशय यह कि दिनकर का जीवन-दर्शन तो कर्ममय है ही क्योंकि संघर्षमय पथ पर चलना ही उनका चरम लक्ष्य है। उनकी काव्य-रचनाएँ कर्म-चेतना को निरतर जगाती रहती है।

प्रसाद और दिनकर के इस कर्मवाद पर भले ही प्राचीन दर्शन की छाप खोजी जाए, गीता और उपनिषद का प्रभाव दिखाया जाए, परन्तु मेरी समझ से यह वस्तुत: युग को कर्मपथ की ओर अग्रसर करने का महान प्रयास है। गांधी-युग के प्रभाव स्वरूप दोनों ही रचनाकारों की रचनाओं मे कर्म-चेतना को प्रमुखता मिली है। वह युग जागरण का युग था। चतुर्दिक कर्मठता का संदेश झंकृत हो रहा था। फलत: प्रसाद और दिनकर दोनों ने राष्ट्रीय स्वाधीनता के लक्ष्य की सिद्धि के लिये कर्मठता का संदेश दिया है।

(घ) मानवतावादी दृष्टिकोण

प्रसाद और दिनकर दोनों ही मानवतावादी कलाकार हैं। दोनों के काव्य में मानवतावाद की सृष्टि हुई है। प्रसाद की व्यापक विचार-धारा के मूल में मानवतावादी स्वर है। जीवन के शाश्वत और चिरंतन उपादानों से इन्होंने अपने काव्य की सृष्टि की हैं। युग बदल जाता है, समाज बदल जाता है किन्तु मानवीय भावनाओं में आमूल क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं आता है। जो कलाकार जीवन को जितना अधिक प्रश्रय देता है उसकी कला उतनी ही चिरस्थायी होती है। प्रसाद के 'मनु' मानवता के प्रतीक हैं। 'श्रद्धा' द्वारा दिये गये 'मनु' के संदेशों में समस्त पथ-भ्रष्ट मानवता को सुपथ पर ले जाने वाला संदेश है। 'कामायनी' में कवि ने "विजयनी मानवता हो जाय" की कामना की है।[27] उनकी अभिलाषा निम्न-

लिखित पंक्तियों में व्यक्त हुई है--

"आज से मानवता की कीर्ति, अनिल, भू, जल में रहे न बंद" ।।[28]

प्रसाद की 'कामायनी' मानवता के विकास की कथा है कि जिसमें मानवता के विकासार्थ सभी अपेक्षित साधन चित्रित हैं। 'कर्म सर्ग' में कवि का मानवतावादी दर्शन चरम सीमा पर प्रकट हुआ है। वहाँ वैयक्तिक सुख की सीमा को खंडित कर सबको सुखी बनाने का संदेश दिया गया है।[29] कहने का आशय यह कि 'कामायनी' में मानवतावादी दृष्टिकोण का विकास पराकाष्ठा पर हुआ है।

दिनकर का मानवतावादी दृष्टिकोण प्रसाद की तरह व्यापक है। समाजगत वैषम्य, अत्याचार और दमन को मिटाकर मानव मात्र को वे सुखी बनाना चाहते हैं।'कुरूक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' की समस्यायें संपूर्ण मानव समाज की समस्यायें हैं। इन काव्य-ग्रंथों में समस्त मानव समाज के उत्थान की कामना की गयी है। दिनकर उस दिन की आशा में पलक पाँवडे बिछाये हुये हैं जबकि मानवों की आयु केवल मानवों के हेतु अर्पित हो सकेगी।[30] दिनकर के मानवतावाद पर गांधी और मार्क्स दोनों का प्रभाव है। छायावाद का मानवतावाद गांधीवाद से प्रभावित है और प्रगतिवाद का मार्क्सवाद से। दिनकर का काव्य-साहित्य दोनों ही मानवतावादों से प्रभावित है।

अस्तु, प्रसाद और दिनकर दोनों के मानवतावादों पर चाहे जिस किसी का भी प्रभाव हो, दोनों की महानता स्तुत्य है, स्पृहणीय है। दोनों ही कवियों ने मानवतावाद की प्रतिष्ठा कर अपने काव्य का मूल्य शाश्वत कर लिया है। दोनों के मानवतावादी दृष्टिकोणों पर युग-परिवेश का व्यापक प्रभाव है।

उपरोक्त तुलना के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि कवि अपने युग के प्रति सतत जागरूक रहे हैं। प्रसाद जो मूलत: प्रेम, सौन्दर्य और कल्पना के कवि थे— युग के दारुण यथार्थ को उपेक्षित नहीं कर सके हैं। 'आँसू' जो एक प्रेम परक काव्य है उसमें भी प्रसाद ने युग-चित्र प्रस्तुत करते हुये लिखा है-

"चुन-चुन ले रे कन कन से, जगती की सजग व्यथायें"।
+ + +
सबका निचोड़ लेकर तुम सुख से सूखे जीवन में,
बरसो प्रभात हिमकण सा आँसू इस विश्व सदन में"।

इसी प्रकार 'लहर' के गीत "बीती विभावरी जागरी", "जागो जीवन के प्रभात" तथा "उठ-उठ री लघु लोल लहर" का युगबोध उनके काव्य की युग-चेतना का

प्रतीक है। ठीक इसी तरह दिनकर का काव्य-विकास भी युग सापेक्ष है जिसका वृहत विवेचन यथा स्थान हो चुका है। आधुनिक युग की बौद्धिकता, भौतिकवाद और विज्ञानवाद से त्रस्त मानवता के उद्धार की कामना 'कामायनी' और 'कुरुक्षेत्र दोनों में अभिव्यक्त हुयी है। तात्पर्य यह कि अपनी सम्पूर्ण-सृष्टि में दोनों ही कवि' युग-चेतना के गायक रहे हैं।

(ख) पंत और दिनकर

पंत जो छायावादी सुकुमार कल्पना के कवि है और दिनकर पौरुष के चारण। फलत: दोनों के काव्य–स्वर में अन्तर का आना स्वाभाविक है। किन्तु दोनों के काव्य में एक ऐसा साम्य है जैसा समकालीन अन्य कवियों के काव्य मे नहीं। दोनों ही युग-चेतना के समर्थ कवि है। युग के विकास के साथ इनके काव्य भी विकसित हुये हैं। दोनों ही रचनाकारो के काव्य का विकास युग से प्रभावित है।

दोनों ही कवियों ने युग की सापेक्षयता मे काव्य-रचनाएँ की है। इनकी काव्य-रचना का युग राष्ट्रीय जागरण का युग था। राजनीति के क्षेत्र मे उस समय गांधीवाद और मार्क्सवाद का विकास हो रहा था। फलत: साहित्य और समाज के क्षेत्र में भी ये दोनों धारायें प्रवहमान होने लगी थीं। छायावाद गांधी-दर्शन से और प्रगतिवाद मार्क्सदर्शन से प्रभावित हैं। परन्तु १९३५-३६ तक स्वयं छायावादियों का स्वर भी बदल गया। 'कामायनी' में प्रगति की चेतना मुखर हो उठी। "परिमल" का युग 'तुलसीदास' और 'पल्लव' का देश 'ग्राम्या' का देश बन गया। विकास के इसी प्रवाह में छायावादियों ने भी मार्क्सवाद से प्रेरणा ग्रहण की। तात्पर्य यह कि गांधी और मार्क्स के विचारों से उस युग के कलाकार भी पूर्णत: प्रभावित थे। ये दोनों ही धारायें युग की प्रमुख चेतना बन गयी थीं। इन दोनों धाराओं ने पंत और दिनकर दोनों को प्रभावित किया है। दोनों ने अपने काव्य में तत्कालीन युग की प्रचलित चेतनाओं को स्वर दिया है। अत: इसी आधार पर दोनो कवियों की काव्य-चेतना का यहाँ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जायगा।

(क) गांधीवादी धारा

१९३६ के बाद जब प्रगतिशील आंदोलन ने छायावाद के स्वप्नदर्शी कवियों को झकझोर कर जगाना प्रारंभ किया तो पंत भी जागे। छायावादी रंगीन चादर उतारकर उन्होंने अपने आस–पास के यथार्थ-जगत पर दृष्टिपात किया। उन्हें सर्वत्र दुख दैन्य से त्रस्त मानवता का दारुण दृश्य दिखाई पड़ा। अत: 'युगान्त' में कवि ने ऐसे विकृत समाज के विनाश की कामना करते हुये नवयुग का आवाहन किया—

गा कोकिल बरसा पावक कण
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन
ध्वंस भ्रंश जग के जड बंधन
हो पल्लवित नवल मानव मन।[3]

कवि का यह नवयुग गांधी का सपना है। 'बापू' के प्रति शीर्षक कविता में भी कवि गांधी की प्रशस्ति गाता है। उसे विश्वास है कि इस 'जर्जर जग' का कल्याण बापू ही कर सकेंगे।[32] कवि बापू को मानव-संस्कृति का प्राण कहता है।[33] युगान्त की रचनाओं में पंत ने सामाजिक वैषम्य और दैन्य के लिये सिर्फ पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था को ही नहीं अपितु जनता के आध्यात्मिक ह्रास को भी दोषी ठहराया है।

दिनकर अपनी आरंभिक रचनाओं में गाधीवाद से अधिक प्रभावित नही रहे हैं। उनकी भावना सदैव क्रान्तिकारी युवकों के साथ रही है। वे गांधी के सत्य और अहिंसा से देश में स्वतन्त्रता लाने के पक्ष में नहीं हैं। गांधी के प्रति उनका सर्वाधिक आकर्षण नौआखाली में बापू के अदम्य साहस-प्रदर्शन से ही हुआ था। इसी प्रकार १९३५ मे जब पेशावर गोली कांड में गांधी के प्रभाव स्वरूप लोगो ने अहिंसात्मक रुख अपनाया तो दिनकर भी उस से प्रभावित हुये। फिर भी कवि ने बापू की पूजा रोली और अक्षत से न करके 'अंगारों' से की है। उन्होंने स्वयं समझा कि उनके 'अंगारों' से बापू की महिमा ऊपर है। यह दूसरी बात है कि चीन-युद्ध के प्रसंग में वे गांधीवाद के आलोचक बन गये। इसे भी हम युग-चेतना का ही प्रभाव कह सकते हैं। निष्कर्ष यह कि पंत और दिनकर दोनों के ही काव्य पर गांधीवाद का प्रभाव है। पंत मूलत. अध्यात्मवादी हैं इसीलिये 'बापू' के प्रति वे सदैव श्रद्धावान रहे हैं, किन्तु दिनकर क्रान्ति के कवि हैं इसलिये क्रान्ति में शैथिल्य आने पर वे गांधी वाद के आलोचक हो जाते हैं। वे राष्ट्रीय-चेतना के उन्मुक्त गायक हैं। राष्ट्र को गौरव प्रदान करने वाली प्रत्येक विचारधारा के वे प्रशंसक रहे हैं।

(ख) मार्क्सवादी विचारधारा

युगवाणी' के रचना-काल में पंत ने अनुभव किया कि गांधीवाद से देश का परित्राण संभव नहीं है। दूसरी ओर प्राय: उसी समय उनका परिचय मार्क्सवाद से हुआ। उन्होंने उसका गंभीर अध्ययन किया। फलत: 'युगान्त' कालीन स्वर क्षीण हो गये और वे भौतिक उत्कर्ष के लिये मार्क्सवाद के समर्थक बन गये--

रूढ़ि रीतियां जहां न हो आधारित
श्रेणी वर्ग में मानव नहीं विभाजित,

धन बल से हो जहाँ न श्रम शोषण,
पूरित भव जीवन के निखिल प्रयोजन ।[34]

पत की कला अब नव समाज की स्थापना के लिये साम्यवाद का स्वागत करने लगी-

अस्त आज साम्राज्यवाद, धनपति वर्गों का शासन,
प्रस्तर युग की जीर्ण सभ्यता मरणासन्न समापन ।
साम्यवाद के साथ स्वर्ण-युग करता मधुर पदार्पण,
मूल निखिल मानवता करती मानव का अभिनंदन ।[35]

अब क्रान्ति के समर्थक कवि पंत ने कहा कि विश्व क्षितिज पर क्रान्ति के भयंकर मेघ छा गये हैं। उनकी रक्त-वर्षा से नव संस्कृति पल्लवित होगी। नवयुग के प्रभात होने पर साम्राज्यवाद सहित पूंजीवाद की निशा समाप्त हो जायगी ।[36] कहने का आशय यह कि 'युगान्त' के गांधीवादी कवि पन 'युगवाणी' मे मार्क्सवादी बन गये। यद्यपि 'ग्राम्या' की रचनाओं में पंत ने पुन: इस बात पर संदेह प्रकट किया कि केवल आर्थिक व्यवस्था से ही मानव कल्याण नहीं हो सकता। 'ग्राम्य।' मे उन्होंने यह घोषणा की कि आज विश्व के सम्मुख एक सांस्कृतिक समस्या भी है। और इसी संदर्भ में उन्होंने गांधी और मार्क्स के समन्वय की चर्चा की और कहा कि केवल अर्थ साम्य से ही मानव-जीवन की समस्याओं को नही मिटाया जा सकता। जग के समक्ष आज एक वृहत सांस्कृतिक समस्या भी उपस्थित है।

दिनकर की काव्य–कला के विकास का भी यही इतिहास है। 'रेणुका' के रचनाकाल से ही उनम मार्क्सवादी दर्शन के प्रभाव परिलक्षित होते है। 'सामधेनी' और 'कुरुक्षेत्र' तक आते-आते तो कवि वैचारिक रूप से मार्क्सवाद के अत्यन्त ही निकट आ जाता है और मार्क्सवाद का गायक बन जाता है। इसी पृष्ठभूमि मे रूस की प्रशसा मे उन्होने 'दिल्ली और मास्को' कविता की भी रचना की।[37]

कवि ने गाधीवादी शान्ति के कारणो का विश्लेषण करते हुये कहा कि साम्य ही शान्ति का आधार हो सकता है–

शान्ति नही तब तक जब तक
सुख भाग न नर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो
नहीं किसी को कम हो।[33]

निष्कप यह कि पत की तरह अपने काव्य विकास मे ये कभी गांधीवाद और कभी मार्क्सवाद से प्रभाव ग्रहण करते हैं।[39] जैसे पत कभी गांधीवाद का समर्थन करते

है[40] तो कभी मार्क्सवाद का[41] और कभी दोनों का समन्वय,[42] ठीक उसी प्रकार दिनकर भी।

इस सम्बन्ध में यहाँ एक स्पष्टीकरण आवश्यक है कि पंत और दिनकर की इस परिवर्तित विचार-धारा का क्या रहस्य है। जहाँ तक पंत का प्रश्न है उनके गहरे अध्यात्मवादी संस्कार उन्हें मार्क्सवादी दर्शन की भौतिकवादी परिधि में पूर्णत: प्रवेश नहीं करने देते। वे अध्यात्मवाद और मार्क्सवाद के दो विरोधी आकर्षण केन्द्रों के बीच खड़े होकर यह निर्णय नहीं कर पाते कि किसको छोड़ें और किसको ग्रहण करें। मार्क्सवाद की ओर जाना अवश्य चाहते है किन्तु आध्यात्मिकता की बलि चढ़ा कर नहीं। यही कारण है कि वे ठोस निर्णय पर नही पहुँच पाते।

अब रही दिनकर की बात। दिनकर में वैचारिक दृढ़ता का सदा अभाव रहा है। डा० जनेश्वर वर्मा के शब्दों में– "दिनकर एक अच्छे कलाकार होते हुये भी अच्छे विचारक नहीं है। और यही उनके काव्य का सबसे निर्बल पक्ष है। उनके पास आरंभ से ही सुस्पष्ट विचार शृंखला और सुनिश्चित जीवन-दर्शन का अभाव रहा है।[44]

दिनकर मार्क्सवादी सिद्धान्तों से परिचित है परन्तु वे यह निर्णय करने मे सर्वथा असमर्थ रहते है कि गांधीवाद और मार्क्सवाद में से किसे अपनाया जाए। अत: कभी वे मार्क्सवाद और कभी गांधीवाद और कभी दोनो के समन्वय का विचित्र प्रयास करते दिखाई देते हैं।

(ग) स्वातंत्र्योत्तर युग-चेतना

स्वातंत्र्योतर युग की काव्य-रचना मे पंत और दिनकर का दिशा-परिवर्तन भी एक जैसा ही है। युग कवि पंत ने 'युगान्त' मे युग (छायावादी) का अंत किया था। 'युगवाणी' में युग को वाणी दी थी किन्तु वही युग कवि 'स्वर्ण-किरण' मे स्वर्ण धूलि बटोरने लगा। 'लोकायतन' में वे एक बार पुन: युग चेतना की 'रश्मि' मे जागृत हुये और उन्होंने युग का प्रतिनिधित्व किया। इसी प्रकार दिनकर ने 'हुंकार' के रचना-काल में 'भूख' से बिलखते हुये बच्चों से दूध लाने का वादा किया था, स्वर्ग लूटने की धमकी दी थी[45] उसी दिनकर की 'वैभव की दिवानी दिल्ली' ने जब उनके (स्वयं) लिये ऐश्वर्य रूपी दूध का प्रबन्ध करा दिया तो वे 'रसवंती' के आँचल से मुख ढँक कर 'उर्वशी' को गोद मे विश्राम लेने लगे। जीवन के गायक दिनकर 'शुद्ध कविता की खोज' करने लगे। किन्तु 'परशुराम की प्रतीक्षा' में उन्हें पुन: युग ने जगाया और वे युगचारण होकर शंख-ध्वनि कर उठे। पंत और दिनकर का यह साम्य–समस्त काव्य विकास की दृष्टि से- दोनों को प्रबल

युग-कवि घोषित करता है। विचारधारा में दोनों ही कवि एक ही केन्द्र बिंदु पर आ मिले हैं।

(३) निराला और दिनकर

युग-चेतना की दृष्टि से निराला और दिनकर दोनों बहुत निकट हैं। दोनों की काव्य–रचनाओं में प्रमुख रूप से पौरुषमय स्वर की प्रधानता है। दोनों ने राष्ट्र में क्रान्ति को जगाने का प्रयास किया है। दोनों ने राष्ट्र के नवीन ज्योतिर्मय भविष्य की रूप-रेखा प्रस्तुत की है।

(क) राष्ट्र की वर्तमान दुर्दशा का चित्रण

निराला और दिनकर दोनों ने अपने काव्य में वर्तमान-दुर्दशा के यथार्थ चित्र अंकित किये हैं। राष्ट्र की गरीबी, राष्ट्र की विषमता, जीर्णता आदि के चित्र दोनों ने अंकित किये है। निराला के काव्य में इस दुर्दशा के प्रति पूर्ण विक्षोभ भी प्रकट किया गया है। इसके निवारणार्थ उन्होंने नव-उषा का आगमन भी चाहा है।[46] निराला जी की सम्वेदना का मानसिक और भौतिक कोष सदैव इन दुखियों और दलितों के लिये खुला रहा है। स्वामी दयानंद ने समकालीन भारत की दुर्दशा से पीड़ित होकर कहा था— "इन बेचारे दीन जनों को, भारत के इन पद दलित मनुष्यों को उनका वास्तविक स्वरूप समझना होगा। जाति, वर्ण तथा सबलता व दुर्बलता के भेद-भाव को छोड़कर सभी स्त्री पुरुष एवं प्रत्येक बालक-बालिका को सुना दो तथा सिखा दो कि सबल दुर्बल, ऊंच नीच सभी के हृदय में अनन्त आत्मा मौजूद है।[47] स्वामी जी की इस प्रेरणा ने निराला-काव्य में मूर्त रूप पाया है। 'अपरा' के 'दलित जन पर करो करुणा।'[48] कविता में कवि ने भारत के इसी वर्ग के प्रति करुणा की वर्षा की है। कवि की 'विधवा'[49] भिक्षुक,[50] पत्थर तोड़ने वाली मजदूरिन'[51] आदि कवितायें भारतीय दैन्य के प्रशस्त किन्तु दारुण चित्रों का विशाल चित्रपट है। दिनकर के काव्य में दूध के लिये बिलखते बच्चे[52] ब्याज चुकाने के लिये बेचे जाने वाली युवतियों के 'लज्जा वसन'[53] आदि युग के दैन्य स्वरूप को व्यजित करते हैं। निराला के भिक्षुक, विधवा और पत्थर तोड़ने वाली मजदूरिन के ये काव्य-चित्र भी करुणा के सागर में हृदय को सराबोर कर देते है। दोनों कवियो ने अपनी रचनाओं में युग-जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्ति दी है।

भारतीय दैन्यावस्था के दो भुक्तभोगी हैं–कृषक और मजदूर। निराला और दिनकर दोनो ने कृषकों और मजदूरों की दुर्दशा पर मनो व्यथा-प्रकट की है। निराला ने 'कुत्ता भौंकने लगा,'[54] 'छलांग मारता गया,'[55] 'डिप्टी साहब'[56] आदि कविताओं में कृषकों की दुर्दशा के दयनीय किन्तु यथार्थ चित्र अंकित किये हैं। इसी

प्रकार दिनकर ने भी कृषक जीवन की दुखान्त कथाएँ अपनी कविताओं में कही हैं।[57] किसानों और मजदूरों पर कहर ढाने वाले आभिजात्य वर्ग के जमीदारों और पूंजीपतियों के अत्याचारों के चित्र भी दोनों कवियों ने अंकित किये हैं।[58] निष्कर्ष यह कि कवि युगल ने युग की वर्तमान विभिषीका का यथार्थ रूप अपने काव्य में अंकित किया है। दोनों की काव्य रचनाएँ युगचेतना से प्रभावित हैं।

(ख) अतीत से प्रेरणा एवं प्राचीन संस्कृति के प्रति मोह–

निराला और दिनकर केवल वर्तमान की हीनावस्था पर भारतेन्दु की भाँति आंसू ही नहीं बहाते अपितु स्वर्णिम अतीत से अभिप्रेरित होकर नवीन भविष्य के निर्माण के लिये इन्होंने युग को भी तैयार किया है।

वर्तमान को भव्य बनाने की कामना से आशावान कवि निराला भव्य अतीत से प्रेरणा ग्रहण करने की सलाह देते हैं। अतीत जहाँ सलोना लगता है वहीं हमारी नसों में उत्तेजना भरता है, उचित मार्ग का निर्देशन करता है। इसी अतीत-दर्शन की अभिव्यक्ति कवि ने 'यमुना के प्रति खंडहर', 'सहस्त्रावधि' 'दिल्ली', मही आदि कविताओं में की है। इसे निराला की काव्यधारा का सांस्कृतिक पक्ष कह सकते है जिस पर स्वामी विवेकानन्द के जागरण–स्वर का प्रभाव है। यमुना को देखते ही कवि को पुरातन वैभव की स्मृति आ जाती है।

"वह नयनों का स्वप्न मनोहर, हृदय सरोवर का जलजात,
एक चन्द्र निस्सीम व्योम का, वह प्राची का विमल प्रभात।
वह राका की निर्मल छवि, गौरव रवि कवि का उत्साह
किस अतीत से मिला आज वह, यमुने! तेरा सरस प्रवाह"।[59]

'यमुना' की मधुर ध्वनि में जहाँ अतीत के सौभाग्य की गौरवगाथा है वही खंडहर में गौरवमय आख्यान के साथ-साथ नव स्फूर्ति की संवेदना भी है।[60] इसी प्रकार 'सहस्त्रावधि' में भी ऐतिहासिक चेतना और राष्ट्रीय जागरण को वाणी मिली है। कवि ने गौरवमयी 'उज्जयनी' और 'पाटलिपुत्र' की गौरव-गरिमा एवं कालिदास की कला की स्मृति से प्रेरणा लेने का संदेश दिया है।[61] दिनकर ने भी कभी वैशाली का स्मरण किया तो कभी प्राचीन पाटलिपुत्र की गंगा का और कभी विद्यापति के कलगान का।[62] 'दिल्ली' शीर्षक कविता में निराला ने अपनी 'वीर-पूजा-भावना' को व्यक्त किया है। यह सच है कि दिनकर की 'दिल्ली' शीर्षक कविता की तरह निराला की 'दिल्ली' कविता में प्रखर व्यंग्य नहीं है किन्तु ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में दोनों ही कविताएँ लिखी गयी हैं। अतीत के गान के

सदर्भ में ही कवियों ने अतीत के गौरवशाली चरित नायकों का स्मरण किया है। निराला ने तुलसीदास, शिवाजी, रामकृष्ण, भगवान बुद्ध, कालिदास आदि का स्मरण किया है तो दिनकर ने चन्द्रगुप्त, अशोक, धर्मराज, भीष्म, कर्ण, बुद्ध आदि चरित नायकों का।[63] तात्पर्य यह कि इन महान पौराणिक ऐतिहासिक चरित नायकों को प्रेरणा का आधार दोनों ही कवियों ने बनाया है।

इस प्रसंग में यहाँ यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि दोनों ही कवियों ने अतीत से प्रेरणा ली है, वर्तमान का चित्रण किया है और भविष्य के लिये आशा का संदेश भी दिया है।[64]

(ग) सामयिक राष्ट्रीय जागरण की चेतना

निराला और दिनकर दोनों के ही काव्य में समसामयिक राष्ट्रीयता को अभिव्यक्त किया गया है। निराला और दिनकर दोनों ने राष्ट्र वंदना की है।[65] दिनकर के राष्ट्रगीत देश-काल की सीमा से ऊपर उठकर सार्वभौम रूप ग्रहण करते है। निराला के 'भारति जय विजय करे' प्रसाद के 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' के समकक्ष के राष्ट्र गीत हैं। निराला के ऐसे ही राष्ट्रीय गीतों से प्रभावित होकर आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने उन्हें राष्ट्रीय चेतना का अन्यतम कवि कहा है।[66] डा० गंगा प्रसाद तथा श्री धनजंय वर्मा ने भी निराला को राष्ट्रीय चेतना का संवाहक कवि माना है।[67]

निराला के काव्य में समसामयिक राष्ट्रीय क्रान्ति का स्वर भी फूटा है। दिनकर की तरह निराला ने भी मुर्दों में प्राण तत्व संचारित करने वाले उद्‌बोधन गीत गाये हैं। 'जागो फिर एक बार' इसका ज्वलंत उदाहरण है।[68] कवि के इस उद्‌बोधन गान की पृष्ठभूमि में राष्ट्रीय परतंत्रता की पीड़ा है।[69] इसी हेतु क्रान्ति-दूत निराला 'बादलराग' की सृष्टि करते हैं जिसमें दिनकर की तरह क्रान्ति का स्वर ही मुखरित किया गया है।[70] दिनकर ने भी 'हुंकार' में ऐसी ही क्रान्ति का आवाहन किया है।[71] दिनकर जैसे 'विपथगा'[72] में क्रान्ति देवी का भयंकर एवं प्रलयंकारी स्वरूप प्रस्तुत करते हैं, 'ताण्डव'[73] में शिव का नृत्य प्रस्तुत करके वातावरण में आंतक एवं विप्लव प्रस्तुत करते हैं ठीक उसी प्रकार 'आवाहन'[74] में निराला भी 'श्यामा' का 'काली' रूप प्रस्तुत कर क्रान्ति और विप्लव का वातावरण प्रस्तुत करते हैं। महाप्राण निराला और युग कवि दिनकर ने इन कविताओं में युग-पुकार को मुखरित कर दिया है। दोनों कवियों ने राष्ट्रीय पुरुषों की वंदना भी की है। निराला ने विजयलक्ष्मी पंडित[75] उनके पति आर० एस० पंडित,[76] स्वामी-प्रेमानंद महाराज,[77] परमहंस श्री रामकृष्ण देव[78] आदि राष्ट्रीय पुरुष तथा

दिनकर ने बापू,[79] जवाहर,[80] जय प्रकाश[81] आदि के प्रति अपनी श्रद्धाजंलि अर्पित की है।

स्वातंत्र्योत्तर युग की राजनीतिक असफलता से क्षुब्ध होकर दोनों ही कवियों ने देश के नेताओं की कटु आलोचना की है। दिनकर ने 'नीम के पत्ते' तथा 'परशु-राम की प्रतीक्षा' में इन नेताओं की खबर ली और निराला ने 'नये पत्ते' में। 'अनामिका' की 'बन-वेला' कविता में कवि ने नेहरू पर शिष्ट व्यंग्य किया और 'नये पत्ते' में इन्होने राष्ट्रीय नेताओं व गांधीवादी नीति पर तीखा पर शिष्ट प्रहार[82]। 'तारे गिनते रहे'[83] कविता में उनकी राष्ट्रीय युग-चेतना का प्रगतिशील रूप देखने को मिलता है। इसी भाँति 'नीम के पत्ते' में दिनकर का भी यही रूप निखरा है।

दोनों ही राष्ट्रीय कवियों का स्वर अन्ततः मानवतावादी बन जाता है। निराला की राष्ट्रीयता मानवतावाद में परिणत हो जाती है। मानव मात्र को दुखी देखकर कवि-हृदय फूट पड़ता है—

"जहाँ मनुष्य बैल, घोड़ा है कैसा तन मन का जोड़ा है
देख रहा है विज्ञ आधुनिक वन्य भाव का कोड़ा है
पक पक कर ऐसा फूटा है जैसे सावन का फोड़ा है।[84]

दिनकर के काव्य में तो यह स्वर पहले से ही विद्यमान रहा है। 'कुरूक्षेत्र' मे कवि ने 'मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु' की घोषणा की है। सम्पूर्ण 'रश्मिरथी' में अभिनव मानवतावाद की परिकल्पना की गयी है। निराला ने 'अणिमा' मे आकर एक नूतन विश्व संस्कृति की कल्पना की है जहाँ मानवतावाद पराकाष्ठा पर पहुँच गया है।[85] इसी प्रकार दिनकर ने प्राचीन जीर्ण-शीर्ण सस्कृति को ध्वस्त कर एक अभिनव मानव-संस्कृति के निर्माण की आकांक्षा प्रकट की है।[86]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि दोनों ही रचनाकारों पर युग-जीवन, युग-परिवेश और युग-चेतना का पर्याप्त प्रभाव है।

नवीन और दिनकर

नवीन के काव्य की मूल प्रवृत्तियाँ हैं—राष्ट्र प्रेम और शृंगार। दिनकर के काव्य की भी ये दो मूल वृत्तियाँ हैं। परन्तु दोनों के शृंगारपरक काव्य में बहुत अन्तर है। दोनों के सौन्दर्य बोध में भी असमानता है। एक संयोग शृंगार का चितेरा है और दूसरा वियोग का। हाँ, राष्ट्रीयता की दृष्टि से दोनों ही युग चेतना के प्रबल आख्याता कवि हैं। अतः दोनों को राष्ट्रीय चेतना प्रधान कवि कहा जा सकता है। इन दोनों की रचनाओं में युग-चेतना के स्पष्ट चित्र उभरे हैं।

(क) जागरण और अभियान गीत

असहयोग आंदोलन के समय नवीन जी ने अनेक जागरण एवं अभियान गीत लिखे।[87] दिनकर का समस्त राष्ट्रीय साहित्य अभियान गीत ही है। दोनों ही कवियों के इन गीतों में युग के प्रतिबिम्ब है। १९४२ की क्रान्ति के समय नवीन जी ने अनेक कवितायें लिखी जिनमे 'मेरे जन नायक की वाणी का'[88] विशेष महत्व है। क्रान्ति के इन सवेदनशील क्षणों मे कवि ने जागृति के गीत गाये। जनता को पराधीनता की शृंखलायें तोड़ने को उद्यत किया।[89] 'ओ तू मेरे प्यारे जवान'[90] में भी कवि ने संघर्ष के लिये जवानी को सम्बोधित किया है। दूसरी ओर दिनकर ने 'रेणुका', 'हुंकार' और 'सामधेनी' के राष्ट्र गीतों द्वारा भारतीय जनता को क्रान्ति के लिये तैयार होने मे योगदान किया है। वस्तुत: दोनो ही कवियों ने इन अभियान गीतों में जनमानस को प्रतिबिम्बित किया है।

(ख) राष्ट्रीय दुर्दशा

कवि द्वय ने राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति के साथ-साथ सामाजिक तथा आर्थिक दुर्दशा का चित्रांकन किया है। डा० विश्वभंरनाथ उपाध्याय ने इस सदर्भ में लिखा है— 'श्याम नारायण पाण्डेय, आनद मिश्र, दिनकर और नवीन ने खड़ी-बोली के कोमल युग में उग्र भावनाओं का वर्णन करके वैविध्य को सुरक्षित रखा है।[91] दिनकर की तरह नवीन जी ने कृषक तथा श्रमिकों की दुर्दशा का अनुभव किया और उन्हें जागृत करने का प्रयास किया।[92] समाज की दैन्यावस्था से पीड़ित नवीन जी ने 'नगे भूखों का यह गाना' शीर्षक कविता लिखी।[93] उन्होंने येन-केन प्रकारेण जीने वाले कृषक और मजदूर की दुर्दशा का बड़ा ही करुण चित्र अकित किया है—

"जिनके हाथों में हल बक्खर
जिनके हाथों में घन है
जिनके हाथों में हसिया है
वे भूखे है निर्धन हैं।[94]

दिनकर की 'हाहाकार' शीर्षक कविता के दारुणभाव और दयनीय चित्रों से इस चित्र का करुण भाव कम हृदय विदारक नहीं है। ठीक इसी प्रकार नवीन जी ने 'बूढ़े-पत्ते'[95] कविता में युग के यथार्थ को अंकित कर युगकवि होने का प्रमाण-पत्र अर्जित किया है। निष्कर्ष यह कि दिनकर जी की तरह नवीन जी के काव्य में भी अपने समय की दयनीय दशा का यथार्थांकन हुआ है।

(ग) युग पुरुषों की प्रशस्ति

नवीन जी ने स्वामी दयानंद सरस्वती,[96] गणेश शंकर विद्यार्थी,[97] तिलक,[98] गांधी,[99] आदि युग पुरूषों की प्रशस्ति गायी है। गांधी के ऋण को स्वीकार करते हुये स्वयं कवि ने लिखा है— "मै लक्षाधिक नारी–नरों में एक हूं जिनका जीवन गांधी रूपी आकाश के तले पनपा। गांधी रूपी सूर्य के ताप से उदग्रीव हुआ। गांधी रूपी धरित्री पर टिका और गाँधी रूपी 'मेघ धारा से सरस हुआ।[100] इसी प्रकार नवीन ने जवाहरलाल की प्रशस्ति गायी।[101] कवि दिनकर ने भी युगपुत्रों में गांधी, जवाहर, जयप्रकाश आदि महान पुरूषों की प्रशस्ति गायी है।[102] इस दृष्टि से दोनों ही कवियों मे पूर्ण साम्य है।

(घ) राष्ट्रीय चेतना

राष्ट्रीय गीतों से तात्पर्य क्रान्तिकारी गीतों से है जिनमें कवि ने क्रान्ति का आवाहन किया है। नवीन जी ने 'प्रलंयकर की क्रान्ति'[103] और 'विषपान'[104] शीर्षक कविता में राष्ट्रीय उत्थान का स्वर ऊँचा किया है। क्रान्ति का आवाहन करते हुए कवि लिखता है—

आओ क्रान्ति बलायें ले लूं
अनाहूत आ गयी भली
बास करो मेरे घर आंगन
विचरो मेरी गली–गली
सड़ी गली परिपाटी मेरी
उसे भस्म तुम कर जाओ।[105]

प्रस्तुत गीत में क्रान्ति का आवाहन 'हुँकार' के गीतों की तरह है तथा अतनवादी रूढ़ियों को नष्ट करने की कामना भी। नवीन जी की क्रान्ति वाहिका कविताओं के स्वरों में शोले बरस रहे हैं। उनमें विद्रोह की आग है, विप्लव की गर्जना है। और, उस गर्जना से पर्वत तथा सागर तक दहल उठते हैं।

दुर्लभ रण चंडी चेत उठे,
कर महा प्रलय सकेत उठे।
सर्वस्व नाश का रूद्र रूप,
नव-नव निर्माण समेत उठे।[106]

नवीन जी की इन्हीं उग्रवादी कविताओं के आधार पर आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'दःस्साहसिकता[107] तथा लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'अति साहसिकता[108] विशेषण से

उन्हें विभूषित किया है। नवीन जी की ये कविताएँ दिनकर की 'विपथगा 'तांडव' शीर्षक कविताओं के समकक्ष रखी जा सकती हैं—

ले अगड़ाई हिल उठे धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद
तू शैल राज हुंकार भरे
फट जाए कुहा भागे प्रमाद।[109]

दिनकर के 'जोश' ने हिमालय को चुनौती दी है, स्वर्ग लूटने की धमकी दी है नवीन जी की कविता 'विप्लव गायन' जो प्रलंयकर तथा 'कुकुंम' दोनों में सं दिनकर की 'विपथगा' की तरह बहु चर्चित है। तात्पर्य यह कि क्रान्ति रचना मे कवि द्वय समर्थ एव सफल हैं। अपने युग के युवा वर्ग की विद्रोह, दोनों की कविताएँ भरी पड़ी है।

(ड़) विश्व प्रेम

स्वातत्र्योत्तर युगीन काव्य-रचना में दिनकर की तरह नवीन जी भ मानवतावाद से प्रभावित हुये हैं। डा० नगेन्द्र ने इस सम्बन्ध में अपना अ व्यक्त करते हुये लिखा है— 'हिन्दी के इस विषय (विश्व-मैत्री) पर अनेक ने अनेक रचनायें की हैं जिनमें सबसे प्रबल स्वर पत, सियाराम शरण गुप्त और दिनकर का रहा है। पत और सियाराम शरण मे जहाँ देश की मुक्त का पवित्र उल्लास है वही नवीन और दिनकर मे उसका सात्विक ओज है।[111] ने अपनी अनेक कविताओं में विश्वप्रेम–भाव व्यजित किया है।[112] जिस दिनकर ने पंचशील, सह-अस्तित्व आदि से प्रभावित होकर विश्व मानवताव सृष्टि अपनी रचनाओं मे की है[113] उसी प्रकार नवीन जी की काव्य कृतियों विश्व मानवतावाद का स्पष्ट प्रभाव दिखायी पड़ता है।

(च) विनोवा स्तवन

युग-चेतना से दिनकर और नवीन दोनों ही प्रभावित रहे हैं। दो कविताओं पर विनोबा का पर्याप्त प्रभाव है। दो ो ने ही 'भूदान' आंदोलन व अपनी कविताओं में की है। नवीन जी ने लिखा है कि राष्ट्र की सहज बुद्धि और विनोबा में एकत्व के दर्शन कर रही है।[114] नवीन जी ने ठीक दिनक तरह विनोवा के संदेशों का प्रतिपादन अपने काव्य में किया है–

"नित्य सनातन नित्य पुरातन,
अति करुणायन नित्य नवीन।

'दानम सम विभाजनम' उसका
यह अदभुत संदेश 'अवीन'।[115]

ःकर्ष यह कि दिनकर[116] और नवीन दोनों ने 'भूदानयज्ञ' को अपने काव्य मे ाणत कर युग-चेतना का स्वर विधान किया है।

उपरोक्त समस्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कवि द्वय युग-यथार्थ प्रति जागरूक रहे हैं। युग के प्रति ईमानदार रहकर दोनों ने काव्य-सृष्टि की है। ० माखनलाल चतुर्वेदी के शब्दों में– "युग का गायक युग के परिवर्तनो से आँखें ं कर अपनी कला को पुरुषार्थमयी नहीं रख सकता।[117] भारतीय आत्मा की यह ि क नवीन और दिनकर दोनों के लिये सटीक है क्योंकि दोनों ही युग-चेतना के र्थ कवि हैं।

(घ) निष्कर्ष

उपरोक्त विभिन्न सम-सामयिक युग कवियों से दिनकर की तुलना करने पर ह निष्कर्ष निकलता है कि दिनकर का युग-स्वर किसी भी अन्य युग–कवि को ेक्षा अशक्त नहीं है। यह सच है कि वे स्वतंत्रता संग्राम के सक्रिय कार्यकर्ता नहीं रहे, यह भी सच है कि इनके काव्य में भावुकता का उद्वेग अपेक्षाकृत अधिक ं विप्लव का राग और आक्रोश की प्रधानता अधिक है किन्तु यह भी सच है कि हीं स्वरों में युग-चेतना का सम्यक प्रतिनिधित्व जितना दिनकर के काव्य में हुआ । अन्य कवियों के काव्य में नहीं। युग ने अपने समस्त वैभव के साथ इनके काव्य में निखार पाया है। दिनकर–काव्य में जो सुस्पष्ट एवं सुदृढ विचार शृंखला का अभाव पाया जाता है, उसका भी यही रहस्य है। युग-चेतना का वाणी विधान करना इनका कवि-धर्म है। युग परिवर्तनशील होता है। फलतः इनके काव्यभाव भी परिवर्तित होते जाते हैं। साथ ही वे किसी पूर्व योजना के अनुसार कविता नहीं लिखते। इनके काव्य की प्रेरणा भूमि 'युग-पटल' पर जैसे-जैसे परिवर्तन नर्तन करता है ठीक उसी के अनुरूप इनकी सरस्वती के स्वर बदल जाते हैं। यही कारण है कि इनके काव्य में यत्र-तत्र स्व-खंडन की प्रवृत्ति भी मिल जाती है। किन्तु, यह तो कवि का काव्य दर्शन है, उनके काव्य का लक्ष्य है। अस्तु, युग-चेतना का इतना सशक्त और सफल कलाकार हिन्दी काव्य में विरल ही देखा जा सकता है।

———

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

१. हुंकार–विपथगा : पृ० ७७ २. कामायनी : पृ० २३, ६३, ८२, २५७, २५८ २८२, २८७ आदि। ३. स्कन्दगुप्त : पृ० १६३
४. चन्द्रगुप्त : पृ० ८६ ५. चन्द्रगुप्त : पृ० १७०
६. हुंकार–हिमालय : पृ० ४९ ७. दिनकर-मिट्टी की ओर-साहित्य और राजनीति निबंध। ८. डा० प्रेमशंकर–प्रसाद का काव्य : पृ० २५४
९. स्कंदगुप्त : पृ० १६२ १०. चन्द्रगुप्त : पृ०
११. हुंकार-हिमालय : पृ० ५० १२. वही : पृ० ५०
१३. इतिहास के आंसू : पृ० ४५ १४. दिल्ली : पृ० ५०
१५. हुंकार : पृ० ५० १६. कामायनी : पृ० ६५ १७ वही : पृ० ६६
१८. कामायनी : पृ० ६१ १९, वही : पृ० ६३ २०. वही : पृ० ६४
२१. वही : पृ० १२१ २२. वही : पृ० ९२, १४१, १४९, १५०।
२३. रेणुका : पृ० ८६ २४. कुरुक्षेत्र : पृ० १२७ २५. वही : पृ० १५२
२६. परशुराम की प्रतीक्षा : पृ० १६ २७. कामायनी : पृ० ६७
२८. वही : पृ० ६७ २९. कामायनी : पृ० १४०
३०. कुरुक्षेत्र : पृ० ११८ ३१. पंत-युगपथ : पृ० १०
३२. युगपथ : पृ० ५७ ३३. वही : पृ० ५९ ३४. युगवाणी : पृ० ६
३५. वही : पृ० २७ ३६ वही : पृ० २८ ३७. सामधेनी : पृ० ६६-६
३८. कुरुक्षेत्र : पृ० ३१ ३९ देखिये अध्याय ४
४०. युगवाणी : पृ० १-२९ ४१. युगवाणी : पृ० २६-२९
४२. वही : पृ० २९ ४३. देखिये अध्याय ४
४४ आधुनिक हिन्दी कविता पर मार्क्सवाद का प्रभाव : पृ० ४३४
४५. हुंकार-'हाहाकार' शीर्षक कविता। ४६. अपरा : पृ० २६
४७. सत्येन्द्र मजुमदार-विवेकानन्द चरित : पृ० १८ ४८. अपरा : पृ० १५०
४९. वही : पृ० ४७-४८ ५०. वही : पृ० ५८
५१. वही : पृ० १८-१९ ५२. हुंकार : पृ० ७८ ५३, वही : पृ० ७८
५४. नये पत्ते : पृ० ५४ ५५. वही : पृ० ८५ ५६. वही : पृ० ८६
५७. हुंकार हाहाकार : पृ० ७१ ५८. हुंकार-हाहाकार : पृ० ७८
५९. अपरा : पृ० ८८ ६०. वही : पृ० १२२-२३ ६१. अपरा : पृ० १६९

६२. हिमालय-रेणुका : पृ० ४७ ६३. वही : पृ० ४८
६४. वही : पृ० ४८ दिनकर-नील कुसुम ६५. अपरा : पृ० ९
६६. आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी-मध्य प्रदेश दीपावली विशेषांक-४ नवम्बर १९६१
६७. महाप्राण निराला : पृ० २८१ ६८ अपरा : पृ० ९-१०
६९. गीतिका : पृ० ८१, अपरा : पृ० ९ ७०. अपरा : पृ० ३
७१. हुंकार : विपथगा पृ० ८१ ७२. वही : पृ० ७०
७३. रेणुका : पृ० ४९ ७४. निराला-कवि श्री : पृ० १६
७५. अणिमा-विजयलक्ष्मी पंडित के प्रति ७६. नये पत्ते-तिलांजलि
७७. अणिमा-स्वामी प्रेमानन्द के प्रति ७८. नये पत्ते-युगावतार परमहंस देव के प्रति ७९. दिनकर-बापू काव्य संग्रह।
८०. नीम के पत्ते : पृ० ३१ ८१. सामधेनी-जय प्रकाश : पृ० ७९
८१. सामधेनी-जयप्रकाश : पृ० ७९ ८२ निराला-नये पत्ते : पृ० ९९
८३. वही : पृ० ३३ ८४. गीतिका : पृ० ६
८५. अणिमा-उदबोधन गीत ८६. नील कुसुम : पृ० ७
८७. रामराज्य-१ जून १९४५ पृ० ९ ८८. प्रलयंकर : पृ० ४१
८९. वही : ४५ ९०. वही छठी कविता
९१. आधुनिक हिन्दी कविता-सिद्धान्त और समीक्षा : पृ० ४५
९२. प्रलयंकर-ओ मजदूर किसान उठो-५६वी कविता
९३. मैं इनसे मिला-दूसरी किश्त : पृ० ५४
९४. विशाल भारत कस्त्वं को हमप्-१९
९५. मैं इनसे मिला-दूसरी किस्त : पृ० ५४
९६. कुंकुम-ऋषि दयानन्द की पुण्य स्मृति मे : पृ० ४१
९७. प्राणापर्ण-काव्य ९८. कहां मेरा-साप्ताहिक प्रताप-तिलक स्मृति अंक ९ अगस्त १९२० : पृ० १०-दीप निर्वाण साप्ताहिक प्रताप-६ दिसम्बर १९२० पृ० : ८
९९. गांधी अभिनन्दन ग्रंथ : पृ० २१
१००. महात्मा गांधी-गांधी दर्शन भूमिका : पृ० १
१०१. प्रलंयकर-तू विद्रोह रूप-५वीं कविता
१०२. बापू--सामधेनी-धूप और धूआं।
१०३. प्रलंयकर-२२ वीं कविता
१०४. वही-विषपान-२८वीं कविता

१०५ वही : क्रांति-२२वीं कविता
१०६. प्रलंयकर-गरजे मेरे सागर पहाड़-४थी कविता
१०७ आचार्य चतुरसेन शास्त्री-हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास : पृ० ६६९
१०८. डा० लक्ष्मीकान्त वर्मा-हिन्दी कविता के प्रतिमान प्रथम खण्ड-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि : पृ० १५
१०९ रेणुका-हिमालय कविता
११० हुंकार-हिमालय, हाहाकार--शीर्षक कविताएं
१११. डा० नगेन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध-स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी साहित्य : पृ० ८९
११२. आजकल—हे ज्योतिर्मय : पृ० २ फरवरी, १९५६
११३ देखिये अध्याय-३
११४. विनोबा स्तवन-संत विनोबा-पृ० ११, वही : पृ० १०
११५. विनोबा स्तवन-पृ० ९ ११६. नीलकुसुम-भूदान कविता : पृ० ६७
११७. हिमकिरीटनी : आत्म निवेदन : पृ० २